भारतीय ग्रन्थमाला ; संख्या २८

विश्व-संघ की ओर

लेखक

'भारत में अंगरेज़ी राज्य', 'हज़रत मुहम्मद और इसलाम' आदि के रचयिता

सुन्दरलाल

और

'भारतीय शासन', 'साम्राज्य और उनका पतन' आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज (इलाहाबाद)

पहला संस्करण
१,००० प्रतियाँ

सन् १९४४ ई०

मूल्य
ढाई रुपये

प्रकाशक :—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक,
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज, (प्रयाग)

मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी बी. कॉम.
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिंग्स, प्रयाग ।

महात्मा गांधी की सेवा में

पूज्य बापू !

विश्व-संघ या विश्व-राज्य की योजनाएँ आज हर विचारक और हर नीतिज्ञ की ज़बान पर हैं। स्थाई विश्व-शान्ति के लिए इस तरह के किसी न किसी संगठन की ज़रूरत सब महसूस कर रहे हैं। किन्तु कोई भी स्थाई विश्व-संघ केवल मनुष्य मात्र की बराबरी, मनुष्य मात्र के बन्धुत्व, प्रेम और अहिंसा के सहारे ही क़ायम हो सकता है। आज दुनिया में इन सत्य-सिद्धान्तों के आप सब से बड़े प्रतीक हैं। इसलिए यह छोटी सी पुस्तक स्नेह, नम्रता, और आदर के साथ आप के कर कमलों में समर्पित की जा रही है।

सुन्दरलाल

भगवानदास केला

निवेदन

इस समय के संसार की एक खास समस्या पर बहुत नम्रता के साथ हम यह छोटी सी पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। यह पुस्तक अपने महान विषय की भूमिका सी ही है। काग़ज़ और प्रेस की आजकल की कठिनाइयों में, भारतीय ग्रन्थमाला जैसी मामूली हैसियत की संस्था के लिये, इसे भी छपा सकना ग़नीमत है। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि देश के विचारशील लोग इस विषय की ओर ध्यान देने की कृपा करें।

इक्कीस वर्ष पहले की बात है। श्री० भाई (अब संन्यासी) भवानीदयाल जी के सम्पादन में दक्षिण अफ्रीका से निकलने वाले "हिन्दी" के ता० २७ जुलाई १९२३ के 'राष्ट्रीय अंक' में हमने एक लेख लिखा था—'सार्वभौम साम्राज्य'। उस लेख में "क्या इस समस्त भूमंडल पर कभी एक साम्राज्य होगा ?", इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हमने अपनी आशावादिता इन शब्दों में प्रकट की थी—"हाँ, आशा है। जिस इतिहास में विविध राष्ट्रों के जीवन मरण का वृत्तान्त लिखा है, उसी में विवेकी पाठकों को सार्वभौम साम्राज्य की आशा मिल जायगी। इतिहास फिर पढ़िये, और इस दृष्टि से पढ़िये कि विविध साम्राज्यों का ह्रास और पतन क्यों हुआ, उन कारणों को खोज निकालिये। पुष्टि के सिद्धाँत निश्चित कीजिये। उनका पालन होने पर, स्वार्थ की नींव हटा कर अपने पराये, काले गोरे, स्वामी और दास का भेद दूर करके परमार्थ की नींव पर मनुष्य-जाति का सार्वभौम साम्राज्य अवश्य बन सकेगा।"

उस लेख के अंत में हमने कहा था—"यह स्वर्गीय भावों वाला साम्राज्य कब बनेगा, कैसे बनेगा, उसकी शासन-प्रणाली कैसी होगी: उसमें भौतिक सभ्यता कितनी कम, और आध्यात्मिक सभ्यता कितनी

अधिक, होगी; भारतवर्ष का उसमें कैसा उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान होगा; इन महान प्रश्नो पर फिर कभी विचार होगा। यह स्मरण रहे कि मनुष्यों की कई पीढ़ियाँ निरन्तर उसका उद्योग करें, कवि उसके सम्बन्ध में काव्य रचना करें, गवैये उसका गान करें, लेखक उसके लिये लेख लिखें, और हाँ, स्वप्न देखने वाले उसका स्वप्न भी देखें। परमात्मा की कृपा से, मनुष्यों के संगठन सम्बन्धी इस उच्च अभिलाषा की पूर्ति अवश्य होगी। जो आज विचार है, कल कार्य में परिणत हो जायगा। जो अब सूक्ष्म है, भविष्य में स्थूल रूप धारण कर सब को दर्शन देगा, और सब का हित साधन करेगा।"

ऊपर की पंक्तियों में सार्वभौम साम्राज्य के सम्बन्ध में कुछ ब्यौरेवार विचार करने की बात कही गयी थी। ध्यान रखने पर भी जब हमें उसके लिए समय मिलता दिखायी न दिया तो हमने दूसरे मित्रों से यह काम कराना चाहा। पर उन्हें भी, जैसी चाहिए थी, सुविधा न हुई। हमें समय समय पर इस काम की याद आती रही। सन् १६४० में 'साम्राज्य, और उनका पतन' पुस्तक को छपाने के लिए संशोधित करते समय तो यह काम विशेष रूप से सामने आया, लेकिन उस समय भी न हो पाया। इस बीच, संसार के राजनैतिक वातावरण के एक गहरे परिवर्तन ने हमारा ध्यान अपनी तरफ खींच लिया।

संसार के साम्राज्य-सूत्रधारों ने अपनी स्वार्थपरता, हिन्सा और ज़बरदस्ती का जहां तहां ऐसा नंगा नाच दिखाया कि लोगों में 'साम्राज्य' शब्द के प्रति ही घृणा बढ़ने लगी, यहाँ तक कि साम्राज्यों के कुछ कर्ताधर्ता तक अपने आपको 'साम्राज्यवादी' कहने में संकोच करने लगे, वे अपने साम्राज्यों को 'स्वतंत्र राष्ट्रों का समूह', 'राष्ट्र-मंडल' या 'कामनवेल्थ' आदि कहने लगे। ऐसी हालत में, अपना भाव प्रकट करने के लिए हमें अपनी पुस्तक का नाम 'सार्वभौम साम्राज्य' रखना

ठीक न जचा। हमने 'विश्व-राज्य' नाम का विचार किया। पर कुछ मित्रों ने कहा कि विश्व-राज्य से भी शायद कुछ पाठकों के मन में ऐसी ही धारणा हो, जैसी सार्वभौम साम्राज्य से, यानी कोई एक बड़ा और मज़बूत राज्य अपनी ताक़त के ज़ोर से दूसरे सब राज्यों को अपने अधीन करले, और इस तरह संसार भर में अपनी हकूमत चलावे। यह ख्याल मन में आने पर हमने पुस्तक का नाम 'विश्व-राज्य' रखना भी ठीक न समझा। असल में संसार भर में जिस एक राज्य के होने की हम कल्पना करते हैं, उसकी शासनपद्धति संघ यानी फेडरेशन के रूप में ही होगी। उसमें दुनिया के सब देश, सब राज्य बराबरी के नाते से मिलेंगे। उसकी तरफ़ प्रगति हो रही है, चाहे उसकी रफ़्तार कितनी ही धीमी हो, और चाहे उसमें कितनी ही बाधाएँ क्यों न हों। इस बात को साफ़ करने के लिए इस पुस्तक का नाम 'विश्व-संघ की ओर' रखना ही ठीक समझा गया। पुस्तक के अन्दर कहीं कहीं 'विश्व-राज्य' शब्द का भी उपयोग किया गया है। दोनों शब्दों से, हमारा मतलब एक ही है।

समय समय पर इस विषय का जो साहित्य हमारे सामने आया, उसे हमने पढ़ा, और उसकी ज़रूरी बातें नोट कीं। इस तरह की सामग्री में हमें प्रसिद्ध विद्वान लाला हरदयाल जी की 'हिन्ट्स फ़ार सेल्फ कल्चर' नाम की अंगरेज़ी पुस्तक के आखिरी तीन अध्याय बहुत अच्छे और उपयोगी मालूम हुए। इन अध्यायों के आवश्यक अंश नोट कर लिये गये। इस सब सामग्री का उपयोग करके पिछले वर्ष (१९४३) एक छोटी सी पुस्तक तैयार करने का निश्चय किया गया।

इसी समय हमारे सौभाग्य से हमारे चिर परिचित, हमारे साहित्य-कार्य को सराहने वाले और हमारी दो पुस्तकों—'अपराध चिकित्सा,' और 'साम्राज्य और उनका पतन' के भूमिका-लेखक श्रद्धेय श्री पंडित सुन्दरलाल जी जेल से छूटे। आप जेल में सख़्त बीमार

रहे थे और बीमारी ही के कारण, उसी हालत में आप छोड़े गये थे। धीरे धीरे आपकी सेहत कुछ सुधरी, तब आप से इस पुस्तक की चर्चा की गयी, और इस विषय में विचार-विनिमय किया जाने लगा। यह काम बहुत डरते डरते किया गया; डर इस बात का था कि पंडित जी का स्वास्थ्य अभी काफ़ी सुधरा नहीं था, और अंदेशा था कि कहीं दिमागी काम का कुछ खराब असर न पड़े। लेकिन पंडित जी को इस विषय से बहुत प्रेम था। जहाँ तक आपका शरीर सहन कर सका, आपने इस पुस्तक के लिए समय दिया। ऐसा करने में आपने एक हद तक अपने स्वास्थ्य की जोखम भी उठाई। आपके प्रेमपूर्ण सहयोग और सच्ची लगन का ही यह फल है कि यह पुस्तक इस रूप में तैयार हो सकी।

जिस विषय पर हमने इक्कीस वर्ष पहले कुछ लिखने का विचार किया था, उस पर अब हिन्दी संसार के एक सुप्रसिद्ध महानुभाव की बहुमूल्य सहायता से, प्रकाश डालने का साहस किया है। अपनी कमी और त्रुटियों के लिये हम क्षमा चाहते हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि मानव हित की दृष्टि से यह विषय इतना महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि इस पर भारतवर्ष की ही नहीं, संसार की सभी भाषाओं में बहुत सा साहित्य तैयार किये जाने की ज़रूरत है। हमें आशा है, दूसरे योग्य, विद्वान और सहृदय लेखक इस ओर ध्यान देंगे और सत् सहित्य के प्रेमी उन्हें पूरा पूरा प्रोत्साहन देंगे।

विनीत

विषय सूची

पहला खंड ; अब तक की यात्रा

दूसरा खंड ; रास्ते की बाधाएँ

तीसरा खंड; कहाँ पहुँचना है ?

पहला खंड

अब तक की यात्रा

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

मेरा हृदय भूत काल में है, शरीर वर्तमान काल में है, और मेरी आत्मा भविष्य में है। —एक दार्शनिक

विश्व राज्य, विश्व-संघ, विश्व-बंधुत्व और विश्व-शान्ति की बातें लोगों को निरी कपोल कल्पना मालूम होती हैं। इस पीढ़ी के आदमी एक नहीं, दो महायुद्धों को देख चुके हैं। आदमी की बुद्धि, शक्ति, धन और समय सब का उपयोग हिंसक और नाशकारी कामों में हो रहा है। हम अपने भाई बन्धु और मित्रों की मौत की खबरें सुन रहे हैं, और अपने भोजन वस्त्र तक के अभाव का अनुभव कर रहे हैं। हजारों साल के घोर परिश्रम से बसाये हुए सुन्दर नगर, बाग, पुल और घाट बात की बात में श्मशान बन रहे हैं। दिन भर की मुसीबतें झेल कर जब हम रात को आराम करने जाते हैं, तब भी मन को शान्ति नहीं मिलती। कौन जाने, सबेरे का समाचारपत्र क्या खबर लाएगा; कल क्या होने वाला है, और अगर युद्ध बन्द ही हो गया, तो भी कौन आनन्द की वर्षा होने वाली है! यह महायुद्ध इतने बड़े पैमाने पर हुआ है, तो इस की परछांई भी लम्बी ही होने वाली

है; न जाने कितने वर्ष तक हमारा जीवन इसके असर में रहे। और, कहीं ऐसा न हो कि फिर अगले महायुद्ध की तैयारी होने लगे, फिर यही विध्वंस चक्र, फिर यही आसुरी लीला! इस तरह लोगों को न दिन चैन, न रात चैन। बीते कल के दुख को हम भूले नहीं, आज का दुख हमारे सामने है, और आने वाला कल भी अपनी नई नई चिन्ताओं का दृश्य उपस्थित कर रहा है। ऐसी हालत में हमारा विश्व-संघ कोरा आदर्शवाद समझा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु अगले पृष्ठों को पढ़ने से यह साफ हो जायगा कि हम इसे कोरी कल्पना या आदर्शवाद नहीं समझते। हम विश्व-संघ को, यानी संसार के सब राज्यों के आपस में मिलजुल कर शासन करने को, मानव समाज की अब तक की प्रगति का स्वाभाविक, तर्कसंगत और अनिवार्य परिणाम मानते हैं। परन्तु थोडी देर के लिये मान लो कि यह केवल एक कल्पना या स्वप्न ही है, तो भी क्या हर्ज है! क्या कल्पनाओं और स्वप्नों का मानव जीवन में कोई मूल्य नहीं है?

इमर्सन ने कहा है कि 'कल्पना शक्ति के बिना मानव समाज नष्ट हो जाता है।' दुनिया का हर बड़ा काम पहले कल्पना के रूप में ही जन्म लेता है। आज दिन समुद्र पर भारी-भारी जहाज तैरते हुए जाते है, इस की पहले कल्पना ही तो हुई थी। भाफ के जोर से चलने वाली रेल और मशीनें हज़ारों लाखों घोड़ों की ताकत से काम करती हैं, यह बात एक दिन केवल कल्पना ही ही तो थी। आदमी हवाई जहाज में बैठ कर पक्षियों की तरह उड रहा है, इसकी भी तो पहले कल्पना ही की गयी थी। रेगिस्तान में पानी की नहर बहेगी, गरम जलवायु वाले स्थानों में सर्द मुल्कों की चीजें पैदा होंगी, आदमी हज़ारों मील दूर की चीज़ देखने का यंत्र बनायेगा, ये सब बातें पहले पहल

कल्पना के संसार में ही थी। हज़ारों मील का समाचार बेतार के तार से हमें मिनटों में मिल जायगा; नदी, पहाड़, और समुद्रों से परे दूर देशों के आदमियों की आपस में इस तरह बातचीत हो सकेगी, जैसे दो आमने सामने खड़े हुए आदमियों की होती है। जिस आदमी को हमारी आंखें देख नहीं पातीं, उसका चित्र हमारे सामने आ जायगा, किसी भी प्राणी के शरीर के भीतर के अंगों की हालत हमें मालूम हो जायगी और हम उसी बिना पर उसकी चिकित्सा कर सकेंगे— ये सभी बातें किसी न किसी समय कल्पना रूप में रह चुकी हैं। कहां तक गिनावें, पाठक तनिक विचार करें, तो इसी तरह के जितने चाहें, उतने उदाहरण ले सकते हैं। आज दिन विश्व में जितनी मानवी क्रियाएँ हो रही हैं, वे कभी न होने पातीं अगर कुछ लोग अपने मन में उनका चित्र न बनाते। उनकी कल्पनाओं ने ही संसार में कुछ का कुछ कर डाला है। जिन महानुभावों ने पहले पहल किसी महान विषय की कल्पना की, उन्हें पागल और शेखचिल्ली आदि की उपाधि मिली, परन्तु इतिहास गवाह है कि मानव समाज उन पागलों या शेखचिल्लियों का कितना ऋणी है।

यह ठीक है कि कुछ कल्पनाओं या विचारों के अमल में आने के लिये बहुत समय लगता है। किसी को कुछ दिन या महीने लगते हैं तो किसी को सैकड़ों या हज़ारों साल लग जाते हैं। परन्तु इससे क्या! मानव समाज की आयु करोड़ों वर्ष की है और यह समाज अभी अनिश्चित काल तक रहने वाला है। इस लम्बे समय में हज़ार दो हज़ार वर्ष भी किस गिनती में हैं। निदान, कल्पना या विचार का बड़ा महत्व है, साधारण मनुष्य इसे जल्दी नहीं समझ पाता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

कर सकेंगे। जो बात आज मुट्ठी भर लोगों के ध्यान में है, वह अधिकाधिक जनता के सामने आयेगी, पहले सैकड़ों या हज़ारों और पीछे लाखों और करोड़ों आदमियों की सहानुभूति प्राप्त करेगी, उनके सहयोग से उसका आन्दोलन अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होगा, और अन्त में उसका लक्ष्य पूरा होगा।

यहाँ तक हमने इस बात पर विचार किया है कि यदि विश्व-संघ केवल कल्पना का ही विषय हो तो भी उसका विवेचन और मनन करने की बहुत ज़रूरत है। परन्तु वास्तव में विश्व-संघ तर्कसिद्ध और मानवसमाज की प्रगति का अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य शुरू से ही समाज-प्रेमी है, उसे दूसरों के साथ मिलकर रहने की आदत है। वह परिवार में रहा, उसने क़बीले और जातियां बनायीं, गांव और शहर बसाये। उस ज़माने की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसने नगर-राज्यों से काम लिया। वह और आगे बढ़ा; राष्ट्र-राज्यों तक पहुँचा। उससे आगे कई-कई राष्ट्रों को मिलाकर उसने आख़िर संघ-राज्यों और साम्राज्यों का प्रयोग किया। इस समय मानव संगठन के ये सब नमूने मौजूद हैं। पर मनुष्य अपनी हालत से संतुष्ट नहीं है। वह अनुभवकरता है कि उसकी यह लम्बी यात्रा अभी कुछ बाक़ी है, उसका गंतव्य स्थान, उसकी मंज़िलेमक़सूद दूर है, और उस तक पहुँचे बिना अभीष्ट सिद्ध न होगा। उसका लक्ष्य विश्व-संघ है। इन बातों पर आगे के अध्यायों में खुलासा विचार होगा।

मानव समाज का आगे का संगठन विश्व-संघ के रूप में होना चाहिए। और, हमारा निश्चित मत और दृढ़ विश्वास है कि मानव समाज अपने विचार और व्यवहार में उसी

ओर बढ़ता रहा है। उसकी चाल चाहे कितनी भी धीमी रही हो, वह उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता रहा है। अवश्य ही उसका मार्ग ज्यामिति की सीधी रेखा में नहीं है। उसकी गति को साँप की चाल से उपमा दी जा सकती है, जो दायीं-बायीं ओर बल खाता हुआ चलता है, और कभी-कभी किसी बाधा के कारण रुकता सा भी नज़र आता है, लेकिन फिर भी अपने लक्ष्य की ओर चलता रहता है।

पूरे मानव समाज की गति का विचार करते हुए हमें चाहिए कि हम विशाल दृष्टिकोण से काम लें। देश काल की छोटी छोटी इकाइयों से काम नहीं चलेगा। एक साल या एक सदी मानव समाज की आयु में ऐसे ही है जैसे किसी आदमी के जीवन में एक दिन या एक महीना। किसी बालक की एक दिन या एक महीने की रिपोर्ट देख कर उसके भविष्य का हिसाब लगाना कभी-कभी बहुत ही भ्रममूलक हो सकता है। सम्भव है, उस दिन या उस महीने बालक कुछ अस्वस्थ रहा हो। अथवा, यह भी हो सकता है कि जिस बालक का हम विचार कर रहे हैं, वह नमूने का काम न दे सकता हो, यानी वह अपने वर्ग का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व न करता हो। इसलिए चाहे जिस बालक की एक या अधिक दिनों की दशा देख कर यह कह बैठना असंगत है कि बाल-समाज अपनी आयु बढ़ने के साथ-साथ कमज़ोर होता जाता है। इसी तरह मानव समाज की कुछ पीढ़ियों के इतिहास के आधार पर यह अनुमान करना भी ठीक नहीं कि वह प्रगति नहीं कर रहा है। यदि हम व्यापक दृष्टि से सिंहावलोकन करें तो हमें मालूम होजायगा कि मानव समाज निश्चित रूप से आगे बढ़ता रहा है।

इस पुस्तक के पहले खंड में इसी विषय पर विचार होगा।

दूसरे खंड में उन बाधाओं के बारे में लिखा जायगा जो उस की भावी प्रगति में इस समय मौजूद हैं, और जिनको जान लेना, और हटाने की कोशिश करना, हमारा कर्तव्य है। अन्त में तीसरे खंड में यह विचार किया जायगा कि हमारा लक्ष्य विश्व-संघ क्या है, उसकी स्थापना का आधार क्या होगा, उसकी संस्कृति, अर्थ-नीति, शासन-नीति आदि कैसी होगी, उस में शान्ति का उपभोग कैसे किया जायगा, पाशविक हिन्सा का परित्याग कर, किस तरह मनुष्य मानवोचित अहिन्सा का व्यवहार करेगा। ऐसे विश्व-संघ का निर्माण पहले हम अपने हृदय और अन्तःकरण में ही करें। इसके लिए कुछ चुने हुए राजनीतिज्ञों या कूटनीतिज्ञों की ज़रूरत न होगी, यह कार्य मुझे, आप को, हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार करना है, और अपना उदाहरण अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ जाना है। हमारे उत्तराधिकारी इस कार्य को कुछ और आगे बढ़ायेंगे, इस तरह मानव समाज आगे-आगे बढ़ता रहेगा, और विश्व-संघ की मंज़िलें तय होती जायेंगी।

दूसरा अध्याय

सामाजिक भावना

यह मेरा है, और यह पराया है, ऐसा विचार क्षुद्र हृदय वाले करते हैं। उदार लोगों के लिए तो सारी मानव जाति ही उनका कुटुम्ब है।

—*महाभारत*

आदमी सामाजिक प्राणी है, उसमें दूसरों के साथ मिल जुल कर रहने की भावना होती है। हम ज़रा यह विचार करें कि वह अकेला ही क्यों नहीं रहता। उसे सामाजिक जीवन क्यों पसन्द है ? और, उसकी सामाजिक भावना किस तरह बढ़ती रहती है।

दूसरे प्राणियों की तरह आदमी में भी दो इच्छाएँ प्रबल होती हैं—(१) अपने आप को जीवित रखना, और इसलिए अपना भरण पोषण करना, और (२) अपने परिवार या नसल को बढ़ाना और उनकी हिफ़ाज़त करना। इन कामों के लिए ही मनुष्य को दूसरों के साथ मिलजुल कर समाज में रहने की ज़रूरत पडती है। मनुष्य को खाने पहनने के लिए भोजन वस्त्र चाहिए; सर्दी, गरमी और बारिश से बचने के लिए मकान चाहिए। कोई आदमी इन ज़रूरतों की पूर्ति अकेले रहकर नहीं कर सकता। मिसाल के तौर पर आदमी को भोजन के लिए अनाज चाहिए इसके वास्ते खेती करने की ज़रूरत होती है। परन्तु खेती के लिए हल आदि औज़ार चाहिए। अकेला आदमी स्वयं अपने लिए औज़ार नहीं बना सकता। उसे लोहे की ज़रूरत होगी। लोहा खान से निकालना पड़ेगा, फिर उसे गलाकर साफ़ करना होगा, तब उससे औज़ार बनेंगे। अकेले आदमी से यह सब काम नहीं हो सकता, और यदि करे भी तो इतने समय तक उसका निर्वाह कैसे हो। फिर औज़ार बनने से ही तो मतलब सिद्ध न होगा। खेती करने का काम तो बाक़ी ही रहेगा, जिस में दूसरे आदमियों की मदद की ज़रूरत है। खेती करने से भी भोजन एक दम नहीं मिल जायगा। फ़सल तैयार होने में कुछ समय लगेगा, फिर उसे काटना होगा, इसके बाद भी उसे खाने लायक़ बनाने में कई मंज़िलें तय करनी होंगी। हर मंज़िल पूरी करने

में समय, और दूसरों के सहयोग की ज़रूरत होती है। इस तरह यदि कोई आदमी अपने भोजन सम्बन्धी सब कामों को स्वयं करना चाहे तो उसे सैकड़ों काम करने पड़ें, तब कहीं भोजन तैयार हो। और, उस समय तक निराहार रहने से उस बेचारे के प्राण ही निकल जायँ! जैसी भोजन की बात है, ऐसी ही कपड़े, मकान आदि की है। किसी भी आदमी के लिए अकेले ही अपनी सब ज़रूरतों को पूरा करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। उसे पद पद पर दूसरों की मदद की ज़रूरत होती है। इसके अलावा जँगली जानवरों से अपनी और अपने बाल बच्चों की रक्षा करने के लिए भी आदमी को दूसरों का सहयोग चाहिए। इस तरह आदमी के लिये सामाजिक जीवन अनिवार्य है, लाज़मी है।

समाज में भी आदमी पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसे दूसरों की सुविधा, असुविधा का ध्यान रखना होता है। उसकी स्वतन्त्रता की एक सीमा या मर्यादा रहती है। उसे कुछ नियमों का पालन करना होता है। परिवार में इन नियमों का रूप स्पष्ट नहीं होता, और वे ठीक तरह से तय किये हुए नहीं रहते, फिर भी नियम रहते अवश्य हैं। जब मनुष्य का सम्बन्ध अपने परिवार के बाहर के आदमियों से होता है, जब उसका समाज बढ़ जाता है तो नियम अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित हो जाते हैं। नियमों का मतलब है, आदमी की स्वच्छन्दता या स्वतंत्रता का नियंत्रण उस पर रोक थाम, अपने निजी स्वार्थ या लोभ पर अंकुश रखना दूसरों के हितों या सुविधाओं का ध्यान रखना। इस तरह का नियम-पालन हमारे लिये हितकर ही होता है, मनुष्य में एक-से-एक अधिक बलवान होता है और यदि मैं स्वच्छन्दता पूर्वक दूसरों की चीज़ों पर जबरदस्ती अधिकार करके अपना स्वार्थ

सिद्ध करने लगूं तो जो मुझसे अधिक बलवान होगा, वह मेरा सर्वस्व छीन सकता है। इसकी नौबत न आने देने के लिए यह ज़रूरी है कि सब लोग अपनी अपनी स्वच्छन्दता पर कुछ रोक रखना मञ्जूर करें, हर आदमी दूसरों की सुविधा का ध्यान रखे, कोई किसी को कष्ट न दे, किसी के साथ अन्याय न करे। आदमी की यह भी इच्छा होती है कि दूसरों से सहानुभूति रखे और उनकी सहायता करे। ऐसा करने से उसे भी दूसरों की सहानुभूति और सहायता पाने की आशा होती है। इस तरह सामाजिक भावना और निजी स्वार्थ दोनों में गहरा सम्बन्ध है।

परन्तु इन दोनों में समय समय पर संघर्ष भी होता रहता है। ज्यों ज्यों आदमी में समझ आती जाती है, त्यों त्यों वह अपने स्वार्थ को सामाजिक भावना के अनुसार नियंत्रित करता जाता है, और जहाँ तक बन आवे, दोनों का समन्वय करने की कोशिश करता है। मानव समाज का इतिहास एक तरह से इसी कोशिश की लम्बी कहानी है। मनुष्य ने कई मञ्जिलें तय की हैं, उसकी यात्रा अभी ज़ारी है; स्वार्थ और सामाजिकता का संघर्ष अभी मिट नहीं गया है; कभी कभी तो इस संघर्ष का का बड़ा विकराल रूप सामने आ जाता है। फिर भी विवेकशील मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि जिस हद तक यह संघर्ष कम होगा, और समन्वय बढ़ेगा उसी हद तक मनुष्य की उन्नति मानी जायगी, शुरू में मनुष्य जाति हज़ारों बल्कि लाखों साल ऐसे बिता चुकी है, जब हर परिवार केवल अपने ही आदमियों का हित देखता था, और दूसरे परिवारों से लड़ता झगड़ता रहता था। उसके बाद थोड़े थोड़े परिवारों ने मिलकर रहना सीखा। धीरे धीरे ज़्यादह बड़े गिरोह या फ़िर्के बने। इनमें एक गिरोह के सब लोगों ने आपस में प्रेम का व्यवहार करना

सीखा, पर दूसरे समूह के आदमियों को गैर और पराया समझा और उनसे उपेक्षा या शत्रुता का व्यवहार किया। कभी कभी दो कबीले इस लिये मिले, क्योंकि उन्हें किसी तीसरे के हमले का डर था। इसी तरह कालान्तर में इन तीनों क़बीलों ने बाक़ी के दूसरे कबीलों से अपनी रक्षा की।

आत्मरक्षा की भावना छोटे कबीलों को मिल जुल कर रहने, आपस में मित्रता का व्यवहार करने और बड़े बड़े समूहों का निर्माण करने के लिये मजबूर करती है। एक खेड़ा या गांव का दूसरे खेड़े या गांव से सम्बन्ध हो जाता है, इन दोनों का तीसरे से, और फिर इन तीनों का किसी चौथे से। इस तरह ये कबीले अधिकाधिक बड़े होते जाते हैं। हर एक कबीले वालों की, पास के दूसरे कबीले वालों से पानी के चश्मों, चरागाहों वग़ैरह के लिये लड़ाइयां होने लगती हैं। इन लड़ाइयों के लिये हर कबीले के अन्दर एक तरह के शासन और एक सरदार की ज़रूरत होती है। इसी से राजा और राज्य की बुनियादें पड़ती हैं। राजा का गांव धीरे धीरे कस्बा या नगर हो जाता है। हर राज्य के अन्दर वहां के नागरिकों के ख़ास अधिकार माने जाते हैं। हर राज्य के नागरिक अपने राज्य के अन्दर रहने वालों को अपने समझते हैं, और दूसरे राज्य में रहने वालों को गैर और जँगली समझकर अकसर उनसे शत्रुता या दुशमनी करते हैं।

यद्यपि समय समय पर होने वाले इस तरह के संघर्षों और लड़ाई झगड़ों से स्पष्ट है कि मनुष्यों में संकीर्णता बनी हुई है, फिर भी आम तौर पर मनुष्य के अपने गिरोह या समाज का क्षेत्र धीरे धीरे बढ़ता ही रहा है। शुरू में उसके प्रेम और सहानु-भूति के अधिकारी इनेगिने लोग होते थे। बाद में वे बढ़ते गये।

प्राय:मनुष्य ने संसार को दो भागों में बाँटा; एक भाग को उसने अपना समझा, और दूसरे को पराया या गैर। पहले भाग से उसने प्यार किया, उसके लिए कष्ट उठाया, ज़रूरत पड़ने पर वह उसके लिए अपनी जान न्यौछावर करने को तैयार रहा। मनुष्य के अपने संसार का यह भाग, धीरे धीरे बढ़ता रहने पर भी, अभी तक बाक़ी संसार की तुलना में छोटा ही रहा। इस बड़े भाग को, जिसे उसने गैर समझा, कष्ट देने, छल कपट या बल से इसका माल हड़पने में मनुष्य को अब तक बहुत कम संकोच रहा है। फिर भी दूरदर्शी विचारवान लोगों को यह विश्वास है कि मनुष्य सदा संसार को इस तरह के दो भागों में—अपने और पराये में—नहीं बाँटता रहेगा। पिछले युगों में उसका अपना समझा जाने वाला संसार धीरे धीरे बढ़ता रहा है, और यह क्रम या सिलसिला अब भी जारी है। एक दिन ऐसा आएगा कि उसके इस अपने संसार की सीमा सम्पूर्ण संसार तक पहुँच जायगी, फिर पराया या गैर माना जाने वाला कोई भाग न रहेगा।

मनुष्य ने इस समय जो सामाजिक व्यवस्था मान रखी है, वह उसके अपने क्षेत्र के लिये अलग है, और दूसरे यानी गैरों के लिए अलग। अपने परिवार, समूह या कबीले, अपने ग्राम या नगर, अपने राष्ट्र या राज्य के लिए मनुष्य इस तरह के नियमों को स्वीकार करता है—सच बोलो, किसी की चोरी मत करो; किसी को मत सताओ, सबके हमारी सी जान है; सब से प्रेम और सहानुभूति रखो; जहाँ तक बन पड़े सब की सेवा और सहायता करो, ज़रूरत हो तो अपनी जान पर खेल कर भी इस कर्तव्य का पालन करो। कितने सुन्दर हैं ये नियम! अफ़सोस यही है कि ये बहुत छोटे क्षेत्र में बर्ते जाते हैं। इस क्षेत्र से बाहर संसार

के जिस भाग को हम पराया या गैर समझ रहे हैं, उसके लिये हमारे नियम सिद्धान्त में तो नहीं, पर व्यवहार में इस से बिल्कुल भिन्न होते हैं। उहें लिखकर निश्चित या स्पष्ट रूप बहुत कम दिया जाता है; प्रायः अपनी बदनामी के डर से कोई वैसा करने का साहस नहीं करता। यदि उन्हें मूर्त या साकार रूप दिया जाय तो कुछ इस तरह होगा—जिस चीज़ की हमें ज़रूरत है, उसे प्राप्त करना हमारा कर्तव्य है, जैसे भी बने छीन झपट कर या लूट मार करके उसे ले लेना चाहिए। दूसरों को तकलीफ़ पहुँचाने से यहाँ तक कि ज़रूरत होने पर उनकी जान माल ले लेने से भी हमें संकोच नहीं करना चाहिए। गैरों से छल कपट करने में कोई दोष नहीं है, यह तो कूटनीति या होशियारी ही है। हमें अपने, और अपने बाल बच्चों, परिवार, नगर या राज्य के फ़ायदे के लिये दूसरों से हिन्सा और घृणा के भाव रखना ज़रूरी है, इत्यादि।

समय समय पर साधु संतो, महात्माओं आदि ने यह उपदेश दिया है कि यह अपने पराये का भेद करना मनुष्य की अल्पज्ञता या मूर्खता है। यह पशुपन का व्यवहार है। मनुष्य को चाहिए कि इस पाशविक व्यवहार को छोड़ कर दैवी गुणों को—प्रेम, अहिन्सा, सेवा, सहयोग आदि को—अपने अन्दर धारण करे। उन्होंने यह भी प्रचार किया कि समस्त सृष्टि का रचयिता एक परमपिता परमात्मा है; चाहे उसे कोई किसी भी नाम से पुकारे। सब उसी की संतान हैं, इसलिए सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। जो आदमी सब की सेवा और मदद करेगा, उससे परमात्मा प्रसन्न होगा, वह स्वर्ग में जायगा और जो कोई भेद-भाव या हिन्सा का आचरण करेगा वह नर्क में भेजा जायगा, जहाँ बहुत कष्ट मिलेंगे। इन साधु-स्वभाव महात्माओं ने जनता

की विचार-धारा का धरातल ऊंचा उठाने में विलक्षण कार्य किया है। फिर भी साधारण मनुष्यों के लिए अभीष्ट स्थान पर पहुँचना अभी भी कठिन मालूम हो रहा है। बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि लोगों ने इन धर्माचार्यों का भी बंटवारा कर लिया है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों से लड़ते झगड़ते हैं। सब ने अपना अलग अलग ईश्वर बना रखा है। हर एक के ईश्वर के अलग-अलग नाम है, और वह अलग-अलग तरह के पूजा पाठ से प्रसन्न होता है। हर समूह स्वर्ग को अपने लिए सुरक्षित समझता है। उसकी समझ से दूसरे सब धर्मवालों को केवल नरक में ही जगह मिलेगी।

इसी तरह समाजनीति में हम अपने और पराये के भेद को भुला नहीं सकें हैं। पहले, परिवारों का संगठन होने पर एक परिवार दूसरे परिवार से लड़ता भिड़ता था; नगर-राज्यों का निर्माण हो जाने पर एक नगर-राज्य की दूसरे नगर-राज्य से लड़ाई होती थी; राष्ट्र-राज्य कायम हो जाने पर अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों का एक दूसरे से संघर्ष होता है। सामाजिक भावना और अधिक विकसित होने पर संघ-राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु स्वार्थ भाव ने अब भी पीछा न छोड़ा। राष्ट्रों और संघ-राज्यों ने दूसरे प्रदेशों पर राजनैतिक और आर्थिक अधिकार जमा कर आज कल के नये साम्राज्यों की स्थापना की। इन साम्राज्यों में पहले तो सब भागों के स्वाधीन न होने के कारण स्वाधीन शासक राष्ट्रों और पराधीन शासित देशों में संघर्ष चलता रहता है; साम्राज्य के अन्दर ही कलह रहता है। दूसरे, यदि साम्राज्य के सब भाग स्वाधीन हों, यानी साम्राज्य 'कामन-वेल्थ' का रूप धारण कर ले तो भी उसके नागरिक, उसकी सीमा से बाहर रहने वालों को पराया या गैर समझते हैं।

इसलिये इन साम्राज्यों के युग में एक साम्राज्य का उसकी सीमा से बाहर के देशों से या दूसरे साम्राज्य से संघर्ष होना लाजमी है।

सारांश यह कि मनुष्य की सामाजिक भावना का साम्राज्य-स्थापना तक बढ़ आना मनुष्य की उन्नति को जरूर साबित करता है। पर इससे भी मनुष्य की सुख शान्ति की समस्या हल नहीं होती, क्योंकि इस में भी अपने और पराये का भेद तो रहता ही है; और यही सब झगड़े और सब दुखों की जड़ है। इसका अन्त करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि हम सब मनुष्य हैं; यह केवल संयोग की बात है कि हम में से किसी का जन्म भारतवर्ष में हुआ, किसी का जापान में, और किसी का इङ्गलैंड या जरमनी आदि में। भाषा या रंग का भेद अलग-अलग देशों और आबोहवा से होता है। आपस के सामाजिक व्यवहार में इन भेद-भावों को महत्व न देना चाहिए। हमारे सामाजिक कर्तव्य का आधार यह नियम होना चाहिए कि हमारे सब विचार और कार्य पूरी मानव जाति के सुख और उन्नति को बढ़ाने वाले हों; इसमें परिवार, वंश, जाति या राष्ट्रीयता का कोई पक्षपात न होना चाहिए। हम एक बहुत बड़ी वस्तु—मानव जाति—के नन्हे से अंग हैं। उस बड़े समाज को हमें अपनी दृष्टि से कभी ओझल न होने देना चाहिए।

इसलिए यह ज़रूरी है कि समाज-संगठन बड़े-से-बड़े आधार पर हो—राष्ट्र-निर्माण या संघ-राज्यों पर संतोष न किया जाय। हमें समस्त मानव समाज का एक और केवल एक "विश्व-संघ" बनाना होगा। जाति, रंग, सम्प्रदाय या देश किसी भी आधार पर किसी वर्ग, या समूह को उससे बाहर रखना अनिष्टकारी

होगा, वह हमारे छुटपन, हमारे अन्दर की कमी, हमारी अदूर-दर्शिता, अनुदारता और अयोग्यता का विज्ञापन होगा। आओ! ऐसा आयोजन करें कि काले, गोरे, हिन्दू, मुसलमान, पार्सी, यहूदी और ईसाई, हबशी या पीले सब भाई-भाई की तरह एक विशाल परिवार के सदस्यों की भांति प्रेम के साथ सहयोग और सहानुभूति पूर्वक रह सकें। हमारे इस प्रेम-मिलन से हम धन्य होंगे, और हमारी सब की माता, पृथ्वी माता धन्य होगी।

तीसरा अध्याय

परिवार

मानव जाति की सेवा के लिए परिवार तुम्हारा सब से छोटा कार्य-क्षेत्र है। इस में तुम, तुम्हारी पत्नि और तुम्हारे बच्चे होते हैं। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से परिवार समाज की स्वाभाविक इकाई है।

—*हरदयाल*

हम बतलाचुके हैं कि मनुष्यों में धीरे-धीरे सामाजिक भावना का विकास हुआ है। परिवार से शुरू करके आदमी अधिकाधिक बड़े संगठनों की ओर बढ़ता रहा है। इस समय संसार में छोटे-बड़े अनेक संगठन हैं। अब हम मुख्य मुख्य संगठनों में से हरेक के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। पहले हम परिवार को लेते हैं। यह समाज संगठन का सब से पहला और कुदरती स्वरूप है। परिवार में प्रायः एक पुरुष उसकी स्त्री और उसके बच्चे माने जाते हैं। पुरुष और स्त्री का एक

दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम और आकर्षण होता है, उसका प्रत्यक्ष फल संतान है।

परिवार के रूप में समाज-संगठन जैसा इस समय है, ऐसा शुरू में नहीं था। बहुत पुराने ज़माने में स्त्री पुरुषों में विवाह-शादी करके टिकाऊ सम्बन्ध क़ायम करने का रिवाज नहीं था। बच्चे केवल मा के साथ रहते थे; उस समय परिवार का अर्थ था, मा और उसके बच्चे। पीछे जा कर, पिता भी परिवार का सदस्य होने लगा। कहीं-कहीं दो या अधिक भाई अपने-अपने स्त्री-बच्चों सहित एक साथ रहने लगे। इस दशा में बालक अपने माता पिता के ही साथ नहीं रहते, बल्कि अपने चाचा चाची, ताऊ ताई आदि के साथ रहने हैं। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं। हमारे देश के आदमी इस से अच्छी तरह परिचित हैं।

परिवार दो तरह के होते हैं—एक, पितृ प्रधान; जिनमें बालक अपने पिता, पितामह (बाबा) और प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के माने जाते हैं, और हर आदमी की जायदाद का उत्तराधिकारी उसका बड़ा लड़का समझा जाता है। दूसरे, मातृ प्रधान; जिनमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है; जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है, और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है। परिवार किसी भी तरह का हो, वह सारे समाज का छोटा सा रूप है। उस से समाज का व्यापक रूप बनता और विकासित होता है। पुरुष स्त्री दोनों एक दूसरे की सहायता और सेवा करते हैं; और दोनों मिलकर अपने बच्चों की ज़रूरतों को पूरा करते हैं।

परिवार आदमी को सामाजिकता की शिक्षा देने वाली एक प्रमुख संस्था है। इसमें पुरुष और स्त्री को यह मौक़ा मिलता है

कि एक दूसरे के लिए त्याग करना और कष्ट उठाना सीखे, हर व्यक्ति दूसरे के स्वभाव, आदर्श और रुचि के साथ अपने स्वभाव, आदर्श और रुचि का मेल बैठावे, सामंजस्य पैदा करे, और वह भी इस तरह कि एक दूसरे के विकास में सहायक हो, बाधक न हो। प्रेम चाहता है--सेवा, संयम, उदारता और त्याग। जब पुरुष-स्त्री एक दूसरे के लिए इन गुणों का अभ्यास करते हैं तो वे जीवन के व्यापक क्षेत्र में भी इन गुणों का परिचय देते हुए समाज के लिए अपनी उपयोगिता बढ़ाते हैं।

संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों उसकी ओर आकर्षित होते हैं; उसके हित में दोनों का हित, और उसके सुख में दोनों का सुख केन्द्रित होजाता है। यहाँ तक कि अनेक बार संतान के हित के लिए वे अपने सुख-दुख को बिल्कुल भूल जातेहैं। यदि यह भाव ठीक-ठीक बढ़ता जाय, जैसे हम अपने बच्चे को प्यार करते हैं, वैसे ही दूसरों के बच्चों को प्यार करें, यदि संसार के स्त्री-पुरुष जाति, धर्म, व्यवसाय, देश, रंग आदि के भेदों को भूलकर मानव संतान की सेवा-सुश्रुषा में लग जावें तो हमें पारिवारिक जीवन से मिलने वाली शिक्षा का असली और पूरा फल मिल जाय।

इसी तरह सन्तान की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। हम अपने माता-पिता की संतान हैं। माता पिता ने हमारे पालन-पोषण के लिए जो कष्ट उठाए हैं, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यदि मा अनेक बार स्वयं सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि सहकर हमारे सुख सुविधा की चिन्ता न करती तो कौन जाने हमारी क्या गति होती; हम इतने बड़े हो भी पाते या नहीं। पिता ने हमारे वास्ते कितना परिश्रम किया है, इसकी मधुर स्मृति हृदय में रखने की चीज़ है। माता, पिता का हम पर कितना

ऋण है, यह तो केवल अनुभव का ही विषय है। बड़ा होने पर जब कोई खुद माता-पिता बनता है, तभी उसे इस बात का कुछ ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। निदान, माता पिता के प्रति हमारा एक महान कर्तव्य है, और यह कर्तव्य एक दरजे तक दूसरे सम्बन्धियों या रिश्तेदारों आदि के प्रति भी है, जिन्हों ने हमारे साथ बहुत स्नेह किया है, और जो हमारे हितैषी रहे हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि सन्तान के जन्म से पहले ही बाप का, देहान्त हो जाता है, या जब बच्चा थोड़े दिन का होता है, मा चल बसती है, या वह ऐसी अस्वस्थ होती है कि बच्चे की सारसंभार तो क्या, उसे अपनी छाती से दूध भी नहीं पिला सकती। ऐसी हालत में निकट सम्बन्धी बच्चे का भरण पोषण करते हैं। यदि बालक को उनकी सहायता, प्रेम, और संरक्षण न मिले तो उसका जीना और बढ़ना कठिन हो जाय। फिर बड़े होने पर भी हमें उनसे कई तरह की मदद मिलती रहती है। सारांश यह कि हर आदमी खुद अपने साथ और दूसरों के साथ होने वाले व्यवहार से अच्छी तरह समझ सकता है कि आदमी अपने सगे सम्बन्धियों का कितना ऋणी होता है।

हमें चाहिए कि उन सब से प्रेम करें, और उनके अहसानमन्द रहें; उनके साथ आदर सम्मान, दया और शिष्टाचार का व्यवहार करें। यदि वे ग़रीब हों तो उनको धन से मदद करें, यदि वे कमज़ोर या रोगी हों तो उनकी सेवा सुश्रुषा करें और उनके स्वास्थ्य और इलाज की व्यवस्था करें, हमेशा उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करें। ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, और हमें इसका ईमानदारी से पालन करना चाहिए। इस बात को पूरी तरह ध्यान में रखना है। साथ ही यह भी याद रखना है कि हमारे इस कर्तव्य की एक मर्यादा या सीमा है, जिसका

हमें उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

हमारा काम अपने मा-बाप से और जहां तक हो सके दूसरे सम्बन्धियों से प्रेम करना और उनकी सेवा करना है। इसका मतलब यह नहीं कि हम उनकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए मजबूर हैं। जब हम बड़े होजायँ, हमारी विवेक बुद्धि जाग जाय और हम भलेबुरे, पाप पुण्य को समझने लगें तो हमें किसी बात का निर्णय करने के वास्ते, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने के लिए अपने अन्तःकरण से काम लेना चाहिए; हमें अपने माता-पिता या किसी दूसरे के कहने पर भी आँख मीच कर नहीं चलना चाहिए। हर आदमी का अन्तःकरण अलग है। हमारा अन्तःकरण हमारी माता के या पिता के अन्तःकरण से पृथक है; हमें अपने अन्तःकरण की स्वतंत्रता की रक्षा करना ज़रूरी है।

अकसर जब कोई व्यक्ति बड़ा होने पर भी अपने माता पिता के साथ रहता है, खासकर भारतवर्ष और चीन में, जहाँ संयुक्त परिवार की प्रथा है, युवकों के व्यक्तित्व का ठीक-ठीक विकास नहीं होने पाता; वे बात-बात में यही चाहते हैं कि उनका कोई बड़ा बूढ़ा उन्हें रास्ता दिखावे, वे किसी भी विषय में अपनी आज़ाद राय नहीं रखते, और यदि रखते हैं तो उसे साफ़ ज़ाहिर नहीं करते, उनके मन में एक तरह की लज्जा, संकोच या हिचकिचाहट रहती है, उन्हें डर रहता है कि न जाने माता पिता की राय क्या हो, यदि हमने अपना मत पहले प्रगट कर दिया तो कहीं उनसे विरोध न हो जाय; ऐसी हालत में दूसरे आदमी हमें ही दोष देंगे। इसलिए वे चुपचाप माता पिता या दूसरे बड़े बूढ़ों की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। अनेक बार यह देखने में आया है कि किसी युवक की, कुछ रीति रिवाजों या

रूढ़ियों में कोई श्रद्धा नहीं है, वह उन्हें व्यर्थ ही नहीं, हानिकर मानता है, फिर भी उनका पालन वह केवल इसलिए करता है कि ऐसा न करे तो माता पिता बुरा मानेंगे। पिछले दिनों इस देश में कितने ही युवक ऐसे पाये गये हैं, जो केवल शुद्ध खादी पहिनना, देश की आजादी के आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लेना, और पर्दा प्रथा, मरणोत्तर जाति-भोज (औसर, मौसर) आदि का त्याग करना चाहते हैं। वे कहते हैं, क्या करें लाचार हैं, बुढ़ा या बुढ़िया यानी बाप मा बैठे हैं, तब तक हम ये बातें नहीं कर सकते; उनका शरीर पूरा हो जाने पर हम स्वतंत्र होंगे।

यद्यपि कुछ सुन्दर अपवाद भी मिलते हैं, पर आम तौर पर रूढ़ियों के मामले में बड़े बूढ़ों का मत और उनकी विचार-धारा युवकों से भिन्न होती है, और वे अपने दृष्टिकोण को उचित से अधिक महत्व देते हैं, और युवकों से आशा करते हैं हैं कि वे हमारे विचार के अनुसार ही सब काम करें। यह ठीक है कि उनकी उम्र अधिक होने के कारण उनका अनुभव दीर्घ काल का है, परन्तु जमाने के साथ साथ परिस्थितियाँ बदलती रहती है, हर पीढ़ी की समस्याएँ अलग-अलग होती हैं। मनुष्य जाति के सामने नए आदर्श नए सिद्धान्त और नयी विचार-धाराएँ आती रहती हैं। जिस बात को हमारी पीढ़ी बहुत अच्छा समझती है, और बड़ी बुद्धिमानी और घोर परिश्रम का फल मानती है, उसी बात को अगली पीढ़ी सम्भव है निकृष्ट और गयी गुजरी माने। यदि सब बच्चे हर बात में अपने माता पिता का ही अनुकरण करते रहें तो मानव जाति की उन्नति ही कैसे हो? समाज जहाँ का तहाँ रहे।

जल का प्रवाह बन्द हो जाने पर वह सड़ जाता है। मानव समाज को भी ऐसे दुर्भाग्य से बचाने की बड़ी ज़रूरत है। यदि

गौतम बुद्ध अपने माता पिता की इच्छानुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते तो संसार उनके महान उपदेशों से वंचित रह जाता। कार्ल मार्क्स का पिता चाहता था कि उसका पुत्र ऐसे विषयों के पढ़ने में लगे, जिनसे खूब धन कमा सके, उसकी दृष्टि से समाजवाद आदि की खोज और चिन्तन में लगना व्यर्थ और बेकार था, परन्तु कार्लमार्क्स ने अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया, उसने समाज को धन से कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु दी; और अपने साथ अपने पिता का नाम भी चिरस्मरणीय बना दिया।

युवावस्था नयी नयी बातों के सोचने वाली, आशावादी, साहस वाली, जोखम उठाने वाली, गलतियों से न घबराने वाली, और आगे बढ़ते रहने वाली होती है; इसके विपरीत, बूढ़े आदमी आम तौर पर पुरानी बातों में लगे रहते हैं; फूँक फूँक कर पाँव रखते हैं, कठिनाइयों से बचते हैं, पुराने ज़माने की रूढ़ियों और रीति रस्मों से चिपटे रहते हैं, नया प्रयोग करने का उत्साह नहीं रखते; वे अपने पुराने अनुभवों का गर्व करतेहैं, और अच्छे से अच्छे नवयुवकों का व्यवहार देखकर भविष्य के प्रति अश्रद्धा और आशंका प्रकट किया करते हैं। जब तक दोनों पक्ष काफ़ी गम्भीरता और समझदारी से काम न लें उनमें संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिये लाला हरदयाल का मत है कि युवक हो जाने पर हर पुरुष और स्त्री को, चाहे वह अविवाहित ही क्यों न हो, अपने माता पिता आदि बड़े बूढ़ों से पृथक् घर बसा कर स्वतन्त्र रूप से रहना चाहिए; भविष्य को भूत के साथ, आशा को निराशा के साथ या जीवित को मृतक के साथ बाँधे रखना ठीक नहीं।

इस विषय में मतभेद की बहुत गुँजायश है; हमें लाला

हरदयाल के कथन में अत्युक्ति मालूम होती है और अव्यवहारिकता भी। तनिक विचार कीजिये; लड़की का प्राय: चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र में, और लड़के का बाईस चौबीस वर्ष की उम्र में विवाह हो जाता है। इतनी उम्र तक वे शिक्षा पाने में लगे रहते हैं। ज्यों ही लड़का कालिज से छुट्टी पाकर अपनी जीविका कमाने में लगे, उसे दुनिया का यथेष्ट अनुभव नहीं हो जाता। लड़की घर के काम धन्धे की कुछ जानकारी भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिये उसमें जैसी योग्यता चाहिए वह एकदम नहीं आ सकती। ऐसी दशा में यदि यह नवदम्पति अपना अलग परिवार बना कर रहें तो उनका मार्ग बहुत कष्टदायक होगा। अभी उन्हें अपने बड़ों के संरक्षण की ज़रूरत है। स्वयं उनके विवाहित जीवन के लिए भी यह अच्छा है कि वे बिल्कुल स्वच्छन्द न रहें। योग्य माता पिता और सास ससुर के मर्यादित नियंत्रण में वर बधु के आपसी विरोध का अवसर कम आता है, और वे अपने आप को एक दूसरे के अधिक अनुकूल बना सकते हैं। इसके अलावा बीमारी की हालत में उन्हें अनुभवी आदमियों की ज़रूरत हो सकती है।

यदि संयोग से वे अपने परिचित जनों से दूर किसी दूसरे स्थान में रहते हों, और युवक कहीं आफ़िस आदि में काम करता हो तो नवबधु की बीमारी कितनी कष्टदायक हो जाती है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसे अवसर पर माता पिता या सास ससुर के साथ रहने से कितना आराम और सुविधा मिल सकती है। सम्भव है, यह कहा जाय कि युवक युवति की अपेक्षा मा बाप के बीमार रहने की सम्भावना अधिक है; इस तरह उनसे जितना आराम मिलेगा, उससे

ज्यादह हमें उनकी सेवा करनी होगी। लेकिन यह भी तो एक कारण है कि हमें जहाँ तक हो सके अपने माता पिता के पास रहना चाहिए। जब तक हम असहाय और दूसरों के मोहताज थे, तब तक तो हम उनके आसरे रहे, अब जब हम किसी क़ाबिल हुए और उन्हें हमारी मदद की ज़रूरत हुई तो हम उन्हें अकेला छोड़कर अलग रहने लगें, यह कहाँ की भलमनसाहत है। यह हमारी खुदग़रज़ी और कृतघ्नता ही होगी। ऐसी ग़लत और कमज़ोर बुनियाद पर मानव समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। हमें तो कृतज्ञता, निस्वार्थता, सेवा और त्याग की मिसाल क़ायम करनी है। इन बातों का मौक़ा हमें सब से पहले पारिवारिक जीवन में मिलता है, उसका हमें अपनी शक्ति भर उपयोग करना चाहिए।

यह कहा जाता है कि माता पिता की दृष्टि भूतकाल की ओर रहती है, और युवकों की भविष की ओर। परन्तु क्या इन दोनों के मेल और समन्वय की ज़रूरत नहीं है? केवल भूत काल की बातों से हमारा गुज़ारा नहीं हो सकता, और केवल भविष्य की बातों में भी हमें लीन न हो जाना चाहिए। हमें वर्तमान काल को संभालना है, जो भूत और भविष्य दोनों का संधिकाल, दोनों के मिलने की जगह है। इसलिए बेहतर है कि हम माता-पिता के साथ रहते हुए उनके भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठावें। हाँ, माता पिता आदि का भी कर्तव्य है कि वे युवकों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करते रहें और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्यान रखें। जब तक कोई ख़ास ज़रूरत तथा कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो तब तक वे उनके काम-काज में फजूल दखल न दें। इस तरह प्रेम और समझ से काम लिया जावे तो युवकों और बड़े-बूढ़ों में मतभेद की दीवार बहुत चौड़ी

नहीं होने पाती।* हम यह भी याद रखें कि बड़ी उम्र का अर्थ सदैव बुढ़ापा नहीं होता। प्रौढ़ आयु के बहुत से सज्जनों में युवकों से बढ़कर उत्साह, साहस, आशा और नवीनता का आदर पाया जाता है। वे 'साठा सो पाठा' की कहावत चरितार्थ करते हैं। इसके विपरीत, कितने ही युवक अपनी भरी जवानी की उम्र में भी बुढ़ापे का भार ढोये फिरते हैं; उनमें निरुत्साह, निराशा और निस्तेजता का दुखदायी समावेश होता है।

इस प्रसंग में प्राचीन भारतीय प्रथा का विचार करना उपयोगी होगा। यहाँ पुराने जमाने में आश्रम व्यवस्था चलती थी। उसके अनुसार आदमी पच्चीस वर्ष की आयु तक विद्या उपार्जन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, और जब उसके बड़े लड़के का विवाह होकर उसके सन्तान हो जाती थी, यानी करीब पचपन वर्ष की उम्र में वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेता था। इस तरह उसकी सन्तान अपना काम चलाने में स्वतंत्र हो जाती थी, उस पर माता पिता के विचारों का प्रतिबन्ध नहीं रहता था। बुढ़ापा और यौवन अलग-अलग हो जाते थे। बूढ़े लोग घूमते फिरते थे और गृहस्थों को उपदेश देकर उनका पथ-प्रदर्शन या रहनुमाई करते थे। परन्तु समाज का काम

---

*जब किसी युवक को यह अनुभव हो कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना उसके अन्तकरण के आदेश के विरुद्ध है, तो वह उसे पालन न करे, और यदि ऐसे प्रसंग बार-बार आने से परस्पर में कटुता आने की आशंका है, तो युवक का उनसे अलग रहना ठीक ही है। परन्तु यह विशेष दशा की ही बात है, साधारण नहीं। माता-पिता से सिद्धान्तों में मतभेद होते हुए भी युवकों को उनके प्रति आदर-भाव रखना आवश्यक है।

चलाने वाले युवक और युवतियाँ (गृहस्थ) ही होते थे, जो गृहस्थ आश्रम का शुरू का कुछ समय (दो चार वर्ष) अपने पिता माता के संरक्षण में रहने कारण कुछ सांसारिक अनुभव प्राप्त कर चुकते थे।

इस तरह यह आवश्यक है कि एक दरजे तक युवकों के मत-स्वातंत्र्य का आदर किया जाना चाहिए। समाज सेवा के विशाल क्षेत्र में अपने महान कर्तव्य का पालन करने के लिये वे सदा स्वाधीन रहें; हाँ ऐसा करते समय वे न तो विनय और शिष्टाचार को तिलाञ्जलि दें, और न उस ऋण को भूलें, जो उन्हें माता पिता आदि के प्रति प्रेम और सेवा करके चुकाना है।

यह स्पष्ट है कि परिवार हमारे सामाजिक संगठन की पहली और आवश्यक सीढ़ी है। किन्तु कुछ दशाओं में यह आगे की सीढ़ियों के लिये बाधक भी हो सकता है, और हो जाता है। इस विषय का विचार आगे दूसरे खंड में किया जायगा।

—o—

चौथा अध्याय

कबीला और जाति

पिछले अध्याय में परिवार के बारे में लिखा गया है। वह समाज का एक छोटा सा स्वरूप है। पुराने ज़माने में जो परिवार एक ही पूर्वज की सन्तान होते थे, या अपने आपको ऐसा समझते थे, वे प्रायः पास-पास ही रहते थे। अब भी गावों में खासकर जहाँ रेगिस्तान या पहाडी या जँगली प्रदेश है और आने जाने के साधन कम हैं, वहाँ निकट सम्बन्ध वाले परिवार

अकसर इकट्ठे एक ही जगह रहते हैं। परिवारों से बड़े संगठन को कुल, कबीला, या बिरादरी या गोत्र कहते हैं।* एक कुल के सब आदमियों में रहन-सहन खान-पान और रीति-रिवाज की बहुत समानता होती है। वे आपस में अपनेपन का अनुभव करते, और खान-पान विवाह शादी यानी रोटी बेटी का घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। उनमें जो बड़ा बूढ़ा होता है, वह सबका मुखिया या चौधरी माना जाता है।

कबीले में परिवार के वे खास-खास लक्षण पाये जाते हैं, जिनका ज़िक्र हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। एक परिवार का उसके पास में रहने वाले दूसरे परिवार से बैर विरोध न हो, इसका उपाय यही है कि पास-पास रहने वाले परिवार मिल कर एक कुल या कबीला बना कर रहने लगें। यदि कबीले में किसी आदमी का दूसरे आदमी से मतभेद होता है तो मुखिया उसे शीघ्र निपटा देता है, बैर-विरोध ज्यादा बढ़ने नहीं पाता, लड़ाई झगड़े की नौबत नहीं आती। इस तरह यह संगठन एक दरजे तक लोगों की रक्षा में सहायक होता है। यह अपने सब आदमियों की तरक्की और बेहतरी की कोशिश करता है। यदि दूसरे बाहर के आदमी इसके आदमियों को किसी तरह सताने या नुकसान पहुँचाने लगते हैं, तो यह उनका सामना करता है। उसका यह काम एक हद के अन्दर सारे समाज के भले के लिए ही होता है, परन्तु उसका क्षेत्र परिमित है। वह इस हद से बाहर के आदमियों के दुःख सुख की परवाह

*आजकल प्रायः एक कबीले में कई-कई परिवार होते हैं, कबीला कई परिवारों का बना होता है, परन्तु पुराने ज़माने में कहीं-कहीं पहले एक कबीला रहा और बाद में इससे कई परिवार बन गये।

नहीं करता; यही नहीं, अपने आदमी के सुख या स्वार्थ के लिए वह गैर या पराये आदमी को कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने में कुछ संकोच नहीं करता, बल्कि ऐसा करने में एक तरह का गर्व अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि जहाँ एक कबीले के लोगों में परस्पर ऐसा प्रेम होता है कि उसे एक परिवार के आदमियों के आपसी प्रेम से उपमा दी जा सकती है, वहाँ एक कबीले के आदमी दूसरे कबीले वालों से उस 'सौतेली मा' का सा व्यवहार करने लगते हैं, जो अज्ञान या मोहवश अपने ही बालक को चाहती है, और जिसे दूसरी मा का बालक फूटी आँख नहीं सुहाता।

कबीलों की आपसी ईर्षा और लड़ाई वर्षों और कभी-कभी पीढ़ियों तक चलती रहती है। अन्त में कभी उनमें से एक दूसरे को जीत लेता है, और कभी दोनों में मेल या संधि हो जाती है। इस तरह दो या अधिक कबीले मिल कर एक जगह रहने लगते हैं; उनके शासन या नियंत्रण का काम उनके मुखियाओं की कमेटी या पंचायत करने लगती है। धीरे-धीरे कई कबीलों के लोग बहुत समय तक पास-पास रहने के कारण आपस में इतने हिल-मिल जाते हैं, उनकी भाषा, रहन-सहन, सभ्यता, धर्म, परम्परा आदि में इतनी समानता आ जाती है कि उन सब को एक ही समूह या एक ही जाति समझा जाता है।

जाति या नसल का मूल आधार वर्ण या रङ्ग है। भारतवर्ष में जाति-भेद को वर्ण व्यवस्था ही कहा जाता है। सिद्धान्त से यहाँ जाति के आधार जन्म और कर्म दोनों माने जाते हैं। कहा जाता है कि वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था को भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों का समर्थन प्राप्त है, जो संसार के सबसे प्राचीन साहित्य का भाग है। परन्तु जानकारों का मत है कि वेदों

में केवल दो ही वर्ण बताये गये हैं—आर्य और दस्यु। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, सदाचारी; और दस्यु का अर्थ है दुष्ट, दुराचारी। इस तरह समाज का यह विभाजन असल में गुण कर्मानुसार ही है। वेदों ने वृत्ति या पेशे के आधार पर मानव समाज को चार हिस्सों में बाँट दिया है, अर्थात् धार्मिक वृत्ति वालों को ब्राह्मण, राजनैतिक वृत्ति वालों को क्षत्री, व्यावसायिक वृत्ति वालों को वैश्य और मेहनत मज़दूरी करने वालों को शूद्र कहा है। इसमें श्रम विभाजन के साथ एक दूसरे से पूरे सहयोग का भी विधान किया गया है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख, क्षत्री को भुजा, वैश्य को जाँघ, और शूद्र को पैर बताने का अर्थ यह है कि ये सब समूह मानव समाज रूपी शरीर के भिन्न भिन्न अंग हैं। इन अंगों में छोटे बड़े या ऊँच नीच का भाव नहीं, हर एक को दूसरे से सहानुभूति और सद्भाव रखना होता है; अपने अपने स्वार्थ का ध्यान रखने से सभी का अहित होगा। मिसाल के तौर पर यदि पैर में कांटा लगने पर माथा उसकी चिन्ता न करे, आँख उसे न देखे, हाथ उसे न निकाले तो सारे शरीर को कष्ट रहेगा। यह सिद्धाँत समाज-संचालन के लिये उपयोगी है, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता।

मनुष्यों में श्रम या कर्म विभाग स्वाभाविक है। किसी आदमी की प्रवृत्ति एक तरह के काम की ओर होती है, किसी की दूसरी तरह के काम की ओर। आम तौर पर मुख्य प्रवृत्तियाँ चार हैं—बुद्धि प्रधान, तेज प्रधान, वासना प्रधान और सेवा प्रधान। अँगरेज़ी लेखकों ने चार मकारों से इन्हें ज़ाहिर किया है, मिश्नरी (पादरी), मिलीटरी (सैनिक), मर्चेंटस (व्यापारी), और मीनियल्स (सेवक)। इसलिये भारतवर्ष में शुरू में समाज के चार भाग (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र)

माने गये, तो कोई आश्चर्य नहीं। दुख का विषय तो यह है कि बाद में इन चार की संख्या बराबर बढ़ती ही गयी। अब इनमें से हरेक के अन्तर्गत सैकड़ों छोटी बड़ी शाखाएँ हैं। फिर इनमें प्रान्तीय भेद भी माना जाता है। एक ही जाति के आदमी मूल निवास की भिन्नता के कारण आपने अपको अलग अलग समझते हैं। जाति के इन भागों यानी उपजातियों ने जातियों का नाम धारण कर रखा है। इनमें कितनी ही जातियों के परिवारों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। बहुत से आदमियों का मेलजोल रहन-सहन; खान-पान, विवाह सम्बंध आदि अपने अपने संकुचित क्षेत्र में ही होता रहता है।

इस तरह आम लोगों के विचार और काम का केन्द्र बहुत ही परिमित हो गया है। हर आदमी अपनी ही जाति का भला सोचता है। दूसरी जाति वालों की उसे कुछ चिन्ता नहीं। हर जाति के आदमी अपनी जाति की संस्थाएँ स्कूल, वाचनालय, छात्रालय (बोर्डिंग हाउस) कारखाने आदि खोलकर अपनी-अपनी जाति वालों के लिए शिक्षा, आजीविका या व्यापार आदि की सुविधाएँ करते हैं, उनके लिए राजनैतिक अधिकार या संरक्षण माँगते हैं, चाहे उनके इन कामों से दूसरी जाति वालों का कितना ही नुकसान क्यों न हो। ये सब जातियाँ अपने सदस्यों के सामने तुच्छता और क्षुद्रता का उदारहण पेश करती हैं। देश या समाज के बड़े हित की उपेक्षा करके, इनका अपना स्वार्थ सिद्ध करना सर्वथा निन्द्य और अनुचित है। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य को अपनेपन का भाव अपनी स्त्री और बच्चों तक सीमित न रखना चाहिए। उसी तरह उसे कबीले या जाति की सीमा से भी आगे बढ़ना चाहिए।

—:o:—

पाँचवाँ अध्याय

गाँव और नगर

अगर कोई आदमी केवल एक ही गाँव को नमूने का गाँव बना सके तो वह भारतवर्ष के लिए ही नहीं, शायद सारी दुनिया के लिए एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

—*म० गांधी*

जिस तरह घर तुम्हारी घरेलू प्रवृत्तियों का क्षेत्र है, उसी तरह गाँव या नगर तुम्हारी राजनैतिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र है। वास्तव में नागरिकता का पवित्र बन्धन ही तुम्हें सभ्य मनुष्यों की श्रेणी में रख देता है। तुम्हें अच्छा नागरिक होना चाहिए। नागरिकता की भावना के बिना नीतिशास्त्र बेमतलब की चीज़ है।

—*हरदयाल*

पिछले अध्यायों में हमने मनुष्यों के ऐसे संगठनों के बारे में विचार किया है, जिनका आधार या तो जन्म यानी वंश है, या धर्म है। अब हम स्थान या जगह की दृष्टि से विचार करते हैं। आजकल आदमी किसी-न-किसी गाँव या नगर में रहते हैं। हमने उस युग को पीछे छोड़ दिया है, जब आदमी जंगल में खुदरौ (स्वयं पैदा होनेवाले) फलों पर पर गुजारा करता था या शिकार करके अपना पेट भरता था। उस हालत में आदमी अपने फलहार या शिकार की खोज में फिरता रहता था; आज यहाँ, कल वहाँ। उसका कोई निश्चित ठौर ठिकाना न था। फिर जब वह खेती करने लगा तो उसकी आवारागर्दी कम हो गयी।

अब उसका अपने खेत के पास रहना जरूरी हो गया। उसे जमीन तैयार करने और जोतने, फिर बीज बोने, पानी देने का, और निराई (खेत में से फ़ालतू घास फूस निकाल देने) का काम करना था। उसके बाद फ़सल पकने तक जानवरों से उसकी रक्षा करना था, बाद में फसल काटने और उसे घर लाने का काम था। इस तरह आदमी बहुत दिनों तक दूसरे स्थानों में नहीं जा सकता था। खेती ने उसे एक ही जगह रहने पर मजबूर कर दिया। खेती करने वालों को एक दूसरे की मदद की भी ज़रूरत रहती है। खेती में काम आने वाले पशुओं को चराने और उनकी देख भाल करने, फसल की रक्षा करने और पकने पर उसे काटने आदि का काम एक ही आदमी नहीं कर सकता। इन कामों में एक दूसरे को मदद देने के लिए कुछ आदमियों को मिल कर एक जगह रहना होता है। फिर, खेती के तरह तरह के औजार बनाने और उनकी मरम्मत करने वाले भी नजदीक में ही रहने चाहिएँ। इस तरह धीरे-धीरे कुछ आदमी इकट्ठे और स्थायी रूप से एक ही जगह घर बना कर रहने लगते हैं। उनकी बस्ती को खेड़ा या गाँव कहते हैं।

जब आदमी स्थायी रूप से एक जगह रहने लग गये तो उस बस्ती से उनका गहरा सम्बन्ध हो गया। उसे जहाँ तक हो सके साफ सुन्दर, उपजाऊ और स्वस्थ बनाने की तरफ ध्यान जाने लगा। ऐसा करने में वहाँ के सभी आदमियों का लाभ है। पारस्परिक सहयोग से काम अच्छा होता है। एक गाँव या नगर के आदमियों को अपने तरह-तरह के कामों में एक दूसरे की मदद की ज़रूरत होती है। इस तरह धीरे-धीरे सार्वजनिक भावना पैदा होती और बढ़ती जाती है। यह सहयोग और सहायता की बात सभ्यता के उस शुरू जमाने से ही चली आ

रही है, जब से आदमी खेती करने लगे। खेती का धंधा ही ऐसा होता है, जिसे कोई आदमी अकेला केवल अपने बल पर नहीं कर सकता। पीछे, ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती गयी सहयोग की भावना बढ़ती गयी, अथवा यह कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता का इतिहास ही सहयोग की वृद्धि का इतिहास है।

गाँव (कस्बा या नगर) हमारा 'राजनैतिक घर' है। यहाँ रहनेवाले सब मनुष्यों और स्त्रियों से हमारा एक तरह का राजनैतिक सम्बन्ध है। हर आदमी जो हमारे गाँव (या नगर) में रहता है, हमारा नागरिक भाई है। हमारा यह निवास स्थान हमारा असली कार्यक्षेत्र है। इसकी गली-गली से हम परिचित हैं, यहाँ के नदी नाले, टीले, खेत, जंगल और चरागाहों से हमें प्यार है। क्यों न हो, यहाँ की मिट्टी और जल से हमारा भरण-पोषण हुआ है। यहाँ की तरक्की और सुधार करना और अपने नागरिक भाइयों के प्रति सहयोग की भावना रखना हमारा परम कर्तव्य है। यह हमारी सभ्यता की कसौटी है। इसमें सन्देह नहीं कि हमें अपने राज्य या राष्ट्र के नागरिक कहा जाता है, परन्तु राज्य और राष्ट्र इतने बड़े होते हैं कि उनके पूरे रूप से हमारी घनिष्ठता नहीं होती। उनके विषय में विचार आगे किया जायगा। यहाँ गाँवों की बात लेते हैं।

हर गाँव का आकार प्रकार और आमदनी ऐसी होनी चाहिए कि वहाँ शिक्षा स्वास्थ्य आदि की ठीक-ठीक व्यवस्था हो सके। भारतवर्ष में अनेक बस्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें घरों की तादाद पूरी बस्ती में एक दर्जन भी नहीं है। और ऐसे गाँव तो सैकड़ों या हज़ारों ही नहीं, लाखों हैं, जहाँ शिक्षा के लिए प्रारम्भिक पाठशाला तक नहीं; बीमारों को दवाई देने वाला कोई

वैद्य नहीं; स्वास्थ्य सम्बन्धी दूसरी बातों का तो कहना ही क्या, जहाँ पीने के लिए साफ पानी का भी प्रबन्ध नहीं। लोगों के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन वस्त्र के अलावा हर गाँव में माध्यमिक पाठशाला, साधारण दवाखाना, वाचनालय, पुस्तकालय, रोशनी का प्रबन्ध, गन्दे पानी के बहाव के लिए नालियाँ, और बरसात में भी अच्छी तरह काम आनेवाली सड़कों की ज़रूरत है।

खेती की ज़मीन दूर-दूर बिखरी हुई होने से कितनी हानि है. और चकबन्दी की कितनी ज़रूरत है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। ये सब बातें खासकर भारतवर्ष को नज़र में रखकर कही गयी है, परन्तु कई दूसरे देशों के सम्बन्ध में भी ठीक हैं। आजकल शिक्षित और सम्पन्न लोग शहरों की तरफ दौड़ रहे हैं। सभ्यता नगरों में केन्द्रित होती जा रही है। गाँवों की तरफ़ से प्रायः बेपरवाही हो रही है। वहाँ आदमी ठीक-ठीक भोजन-वस्त्र भी नहीं पाते; दरिद्रता का तांडव नृत्य है। कूड़े कचरे के ढेर और गन्दी आबोहवा में मनुष्यों का दम घुटता है, वे रोगी और अल्पायु होते हैं, तिस पर भी एशिया और अफ्रीका में गाँव के रहनेवालों की तादाद ज्यादह होने से संसार की अधिकांश जनता गाँवों में ही जीवन व्यतीत करती है। गाँवों की दुर्दशा मानवता के लिए एक कलंक है, इसका अन्त जल्दी से जल्दी किया जाना चाहिए।

गाँवों के लिए जिन-जिन ज़रूरतों का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उनका पूरा होना गाँवों की जनता के बहुत छोटे-छोटे भागों में बटे और बिखरे हुए होने की हालत में मुमकिन नहीं है। बहुत छोटे-छोटे खेड़ों में अलग-अलग स्कूल और अस्पताल आदि कैसे कायम किये जा सकते हैं! और यदि किये भी जाँय तो इन पर कितना अधिक धन ख़र्च करना पड़े! इसलिये छोटे छोटे गाँवों

के समूह बना देने चाहिएँ, जिससे हर ग्राम-समूह अपनी मामूली जरूरतों के लिये बाहर के गाँवों के आश्रित न रहे। इस तरह का ग्राम-समूह करीब दो तीन मील लम्बा और करीब इतना ही चौड़ा हो; उसकी आबादी लगभग डेढ़ दो हज़ार हो सकती है। आने जाने के साधन की उन्नति होने पर यह क्षेत्र कुछ बढ़ सकता है, पर बहुत अधिक बढ़ाना ठीक नहीं।

यह कहा जा सकता है कि ग्राम-सुधार का काम बहुत बड़ा है। इसे ठीक ठीक करने के लिये बहुत धन चाहिए; वह कहाँ से आवे? इस बारे में नीचे लिखी बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ। राज्य की कुल आमदनी कितनी है, और आबादी कितनी है। इस तरह हर हज़ार आदमी पीछे कितना औसत खर्च किया जा सकता है। हर ग्राम या ग्राम-समूह के लिये खर्च का अन्दाज़ा करते समय जहाँ तक हो सके इस औसत का ख्याल रखा जाय। विशेष हालतों में एक क्षेत्र के लिये औसत से कुछ कम ज्यादह भी खर्च कर सकते हैं। गाँव की और शहर की जनता में इस समय जो बहुत ज्यादह भेद भाव रखा जाता है, और गाँववालों से जो सौतेली माँ का सा व्यवहार होता है, वह सर्वथा अनुचित है।

जो लोग शहरों में रहते आये हैं, या दूसरों की ही सभ्यता को सभ्यता मानते है, उन्हें यह बात रुचेगी नहीं। लोगों की यह धारणा बन गई है कि नगर तो विद्या, सभ्यता, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के केन्द्र होने ही चाहिएँ; गांवों का चाहे जो हो। किन्तु हम गाँव और नगर दोनों को देश का एक बराबर अंग और दोनों की जनता को देश की संतान समझकर जहाँ तक बन पड़े समानता की बात कह रहे हैं। यदि गाँव के भाई भूखे मर रहे हैं, और अपना तन ढकने के लिए भी कपड़ा नहीं पा रहे हैं, और

नगरों में विलासिता के साधनों को जुटाने में धन खर्च किया जा रहा है तो यह बिल्कुल अंधेर है। जिन चीजों से नगरों के इने गिने आदमी लाभ उठाते हैं, उनके खर्च में गाँव वालों को भी हिस्सेदार बनाना सरासर अन्याय है। इसीलिये गाँवों के सुधार और उन्नति के लिए प्रायः हर देश में रुपये की कमी रहती है। इसका इलाज यही है कि हम अपना दृष्टिकोण बदलें।

प्रचीन काल में साधु-संत ऋषी-मुनि गाँवों में रहते थे, अब भी कुछ भले लोगों को गांव में रहना पसन्द है। आवश्यकता है कि आजकल के 'सभ्य' आदमी मानवता के लिए गाँवों में रहें और गाँवों का सांस्कृतिक धरातल ऊँचा उठाने में सहायक हों। गाँवों और शहरों की हालत में जो भयङ्कर विषमता है, उसका अन्त होना ही चाहिए। जहाँ तक हो सके, गाँवों की अच्छी बातों की—प्राकृतिक दृश्य, हरियाली, ताजी हवा, सरल जीवन आदि की व्यवस्था नगरों में, और, नगरों की सड़क, स्कूल, डाक, अस्पताल आदि अच्छी बातों की व्यवस्था गाँवों में भी होनी चाहिए। और, जो बातें बुरी हैं, सदाचार के खिलाफ़ और मानवता के लिए हानिकर हैं, उन्हें गाँवों और नगरों दोनों से हटाना चाहिए।

हमें एक आदर्श गाँव की कल्पना अपने सामने रखनी चाहिए और उसे अमल में लाने की लगातार कोशिश करते रहना चाहिए। महात्मा गांधी के विचार से हर आदमी को साधारण भोजन के साथ साथ हर रोज़ आध सेर दूध और दो तोले घी या ढाई तोले मक्खन, साग तरकारी और कुछ मौसमी फ़ल मिलने ही चाहिएँ, कपड़ा भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। महात्मा जी अपनी तरह सबके लिए एक छोटी सी धोती पहनने की बात नहीं कहते। पुरुषों के लिए वे कुर्ता, ओछी धोती और टोपी ज़रूरी

समझते हैं; स्त्रियों के लिए वे पञ्जाब की पोशाक—कुर्ता दुपट्टा और सलवार अच्छी मानते हैं। आजकल गाँव वालों का जैसा अपूर्ण भोजन वस्त्र है, उसे देखते हुए यह बात अव्यवहारिक मालूम होती है। परन्तु मौजूदा हालत अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इसका जल्दी से जल्दी अंत करना ही होगा। जैसा कि महात्मा जी ने कहा है, देहातों में हम उचित सुधार करने में तब तक सफल नहीं हो सकते, जब तक हमारे हाथ में हकूमत की बागडोर न हो। लेकिन हमारी तपस्या और सेवा बहुत ऊँची हो जाय तो हमें हकूमत की बाट देखने की भी ज़रूरत नहीं है। उसके बिना भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

पशुओं और खेती आदि के सम्बन्ध में महात्मा जी का मत है कि 'मवेशियों के बारे में गाँव वालों को परस्पर सहयोग से काम लेना चाहिए। उन्हें गाँव भर में उतने ही मवेशी रखने चाहिए, जितने की उन्हें ज़रूरत हो। जानवरों के रखने का इन्तज़ाम सारे गाँव की तरफ़ से शराकत में किया जा सकता है। अगर गाँव वाले इस तरह मिलजुल कर काम करना सीखें तो बहुत तरक्की कर सकते हैं। इसी तरह खेती में भी सहकारी तरीके से यानी मिलजुल कर काम कर लेना चाहिए। गाँव की सारी पैदावार का बँटवारा भी मेहनत करने वालों में ही होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि मेहनत का हिसाब नहीं रहेगा; हरेक की मेहनत का हिसाब तो ठीक-ठीक रखना ही पड़ेगा। जब तक हम यह नहीं कर सकते तब तक सत्य और अहिन्सा की दृष्टि से आदर्श समाज तक नहीं पहुँच सकते। और, अहिन्सक समाज मेलजोल और सहयोग पर ही क़ायम हो सकेगा।'

महात्मा जी हर गाँव में एक तरह का लोकराज्य (रिपब्लिक) क़ायम करना चाहते हैं। उनका कहना है कि दो चार सालके लिए लोग किसी एक आदमी को अपना सरदार मान सकते हैं लेकिन बाद में उसके बिना भी काम चला सकते हैं, क्योंकि लोकराज्य में कोई सरदार होता ही नहीं। लोग एक दूसरे को नज़दीक से जानते हैं। आजकल के से चुनावों का सा किस्सा नहीं होता, जहाँ लाखों, करोडों वोटर होते हैं, और उन्हें पता ही नहीं होता कि उम्मेदवार कौन शख़्स है। लोगों के पसन्द का सरदार उन्हें दबा नहीं सकता। पुराने ज़माने में हमारे यहाँ इसी तरह की कोई तजवीज थी।

ये बातें भारतवर्ष को नज़र में रखकर कही गयी है, परन्तु दूसरे देशों के गाँवों के सम्बन्ध में भी उपयोगी हैं। हमने ग्राम सम्बन्धी बातों को तनिक विस्तार से लिया है, इसका कारण यह है कि संसार की अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती है। जबतक गाँव की जनता के उद्धार का ठीक-ठीक प्रयत्न न होगा, संसार का भला नहीं हो सकता। इस समय जिस तरह जाति-पाँति, धर्म, राष्ट्रीयता आदि की कृत्रिम दीवारों से मानवता का गला घुट रहा है, उसी तरह एक संसार व्यापी भेद-भाव ग्रामीण और नागरिक जनता का है। नगरों में रहनेवालों को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की, और अपनी शक्तियों के विकास की जितनी सुविधाएँ हैं, उनकी तुलना में ग्रामवासी बन्धुओं का क्या हाल है! और, यदि नगरों की अधिकांश जनता भी शिक्षित, सुखी सम्पन्न हो जाय, और ग्रामों की अधिकांश जनता मूर्ख, रोगी, और दुखी रहे तो विश्व का कल्याण कैसे हो सकता है! यह विषमता अब असहनीय है, थोड़े से नगरों के आदमी, वे चाहे जितने योग्य और कुशल क्यों न हों, सारी

मानव जनता के उत्थान का भार अपने कन्धों पर नहीं उठा सकते। निदान, आम जनता की शक्ति और योग्यता का धरातल ऊंचा उठाने की बहुत ज़रूरत है।

अब हम नगरों का विषय लेते हैं। कुछ बातें तो वही हैं, जो ऊपर गाँवों के बारे में कही गयी है, विचारशील पाठक उनमें आवश्यक हेरफेर करके उन्हें नगरोपयोगी बना लेंगे। यहाँ कुछ दूसरी बातों की चर्चा की जाती है।

एक नगर न तो बहुत छोटा होना चाहिए, और न बहुत बड़ा। वह ऐसा बना होना चाहिए कि गाड़ी या इक्का तांगा उसकी हर गली और हर कोने में जा सके। आबादी इतनी हो कि हर नागरिक अपने यहाँ के प्रश्नों को समझ सके, नगर की सार्वजनिक सभाओं में भाग ले सके और अपने यहाँ के नेताओं आदि को जान सके, उनके भाषण आदि सुन सके और उस पूरे क्षेत्र के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव कर सके। ये सब बातें उन बड़े-बड़े शहरों में नहीं हो सकती जो पिछले सौ सवासौ वर्ष के अन्दर दूषित औद्योगिक संगठन आदि के कारण बढ़ गये हैं, पश्चिम के देशों में तो ऐसे नगर अनेक हैं; भारतवर्ष में भी कलकत्ता बम्बई आदि बढ़ते जा रहे हैं। म्युनिसिपल कार्य सुचारु रूप से होने के लिए आवश्यकता है कि इन नगरों के कई-कई नगर कर दिये जायँ और किसी एक नगर में जहाँ तक हो सके एक लाख से ज्यादह आदमी न हों। बड़ी आबादीवाले नगरों में सच्ची लोकतंत्रता का व्यवहार नहीं हो सकता, नौकरशाही बढ़ जाती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी शहरों का विस्तार हद के अन्दर रहना चाहिए। आजकल अनेक नगर इतने बड़े होते हैं कि उनके कई हिस्सों से हर रोज़ खुली हवा का सेवन करने या प्राकृतिक

दृश्यों का आनन्द लेने के लिए बस्ती से बाहर जाना बहुत कठिन होता है; शहरवालों के लिए खेत और चरागाह देखना, तरह-तरह के पक्षियों की आवाज़ सुनना, ताज़े फूलों की सुगन्ध लेना जैसी बातों का अवसर बहुत कम आता है। हम प्रकृति से कितनी दूर रहते हैं! फिर,हमें खाने पीने की चीजें शुद्ध और अच्छी नहीं मिलती। इन सब बातों के सुधार की बड़ी ज़रूरत है।

अस्तु, नगर निवासी भाइयों की ओर हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। हमें चाहिए कि निस्स्वार्थ और क्रियात्मक नागरिक भावना का विकास करें। जो आदमी अपने ग्राम या नगर सम्बन्धी सार्वजनिक कामों में पूरा भाग नहीं लेता, और जिसके पास ऐसा न करने की कोई खास वजह या सबब न हो, वह समाज में निन्दनीय है।

स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में एक खास काम चुनाव में मत देना है। कितने ही आदमी इसमें बेपरवाही करते हैं, अथवा डर या किसी लालच में आकर अयोग्य आदमी के लिए मत देते हैं; या चुनाव में अपने मिलने वालों या जाति बिरादरी या धर्म वालों का पक्षपात करते हैं, इससे ग्राम-बोर्ड या म्युनिसपेल्टी के लिए जैसे योग्य मेम्बरों का चुनाव होना चाहिए, नहीं हो पाता; इन संस्थाओं के खराब संगठन के कारण नागरिक कार्यों में अनेक दोष आ जाते हैं, और सार्वजनिक जीवन बहुत कलुषित हो जाता है। इस विषय पर विस्तार से 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक में लिखा जा चुका है; यहाँ केवल इन बातों की ओर इशारा कर देना काफी है। हर नागरिक को चाहिए कि अपने गाँव और नगर के फायदे के लिए निर्वाचन की ओर ठीक ठीक ध्यान दे और जनता के नागरिक जीवन को ऊंचा उठाने में मदद करे।

निर्वाचन के अलावा हमें अपने दूसरे नागरिक कर्तव्यों का भी अच्छी तरह पालन करना चाहिए। हमें हर प्रश्न को खूब अध्ययन और मनन करके उस पर अपनी राय बनानी चाहिए, किसी की एकतर्फा बातें सुन कर या पढ़ कर नहीं। अपने से विरुद्ध मत रखने वालों के प्रति भी हमारा व्यवहार शिष्टाचार का होना चाहिए, दूसरे दल वालों की सभाओं में हमें गोलमाल या गड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। हमें दूसरों के स्वतंत्र विचार और मत-प्रदान सम्बन्धी अधिकार का आदर करना चाहिए। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए या विरोधी दल वालों का खंडन करने के लिये हमें झूठ, अर्द्ध सत्य या अत्युक्ति का आसरा नहीं लेना चाहिए। अपनी विजय या सफलता के लिए लोगों में क्षुद्र, संकुचित या साम्प्रदायिक भावनाओं का उभारना निन्दनीय है।

यदि हमारे मित्र किसी सार्वजनिक पद के लिए हमें निर्वाचित कर दें तो हमें अहंकार या अभिमान न करके विनय, निस्पक्षता और विवेक का परिचय देना चाहिए। अगर हमें यह निश्चय है कि उस पद की जिम्मेवरी संभालने के लिए हम में जैसी चाहिए क़ाबलियत या क्षमता नहीं है, या फुरसत की कमी है, तो नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ उसे नामंजूर कर देना चाहिए। यदि हम यह समझते हैं कि हम उस पद सम्बन्धी कर्तव्य का भली भांति पालन कर सकते हैं तो हमारा उसे स्वीकार कर लेना उचित ही है, परन्तु सार्वजनिक पदों की प्राप्ति के लिए कूटनीति या तिकड़म से काम न लेना चाहिए। आजकल लोकतंत्र ऐसे सिद्धान्तहीन स्वार्थी आदमियों से दबा हुआ है, जिनका उद्देश्य येन-केन प्रकारेण कौंसिल, बोर्ड या कमेटी का मेम्बर बन जाना होता है। ये लोग रुपये या सम्मान के भूखे होते हैं, और

तरह-तरह की बातें बना कर या चाल चल कर अपनी विजय का प्रयत्न करते रहते हैं। एक बार निर्वाचत होने पर दूसरी बार, और हो सके तो बार-बार निर्वाचन होने के लिए भले-बुरे सभी उपायों का सहारा रहते हैं। ऐसे पेशेवर राजनीतिज्ञों से नागरिक जीवन दूषित होता है, ये स्वयं अपना स्वार्थ-साधन करते हैं और ज्यों ही मौका मिलता है, अपने भाई भतीजों या मित्रों को आमदनी या सम्मान के पद देते रहते हैं। ऐसे विकारों से हमें बहुत दूर रहना चाहिए।

हमें अपने गाँव या शहर का अभिमान करना चाहिए और अभिमान का उपयोग अपनी बस्ती के सुधार में करना चाहिए। हम उसे केवल कुछ घरों या गलियों का समूह न समझें। वह हमारे नागरिक भाइयों का समुदाय है, उसका अपना इतिहास है, जो कभी भूलने की बात नहीं है। उसकी विकास की कथा जाननी चाहिए कब उसका निर्माण हुआ, कब-कब उसमें कुछ खास वृद्धि की गयी, कब उसमें पंचायती भवन, चौपाल या टाउन हाल बना, कब उसमें पाठशाला, वाचनालय अस्पताल आदि बने। किस-किस महापुरुष का वहाँ जन्म हुआ और उन्होंने क्या-क्या शुभ कार्य किया। उन की यादगार केवल चित्रों, प्रतिमाओं में या गलियों, बाजारों सड़कों के नाम में नहीं रहनी चाहिए, वरन् उनकी हर साल जयन्तियाँ मनायी जायँ, जनता को उनके सद्गुणों का परिचय कराया जाय, और इस तरह सार्वजनिक सेवा की भावना की वृद्धि और विस्तार की हमेशा कोशिश होती रहे। ऐसे कामों से हम अपने अपने स्थान में रहते हुए मानव समाज की निस्वार्थ सेवा कर सकते हैं, जिसका करना हमारा परम कर्तव्य है।

—:o:—

छठा अध्याय

राष्ट्र

—:o:—

एक व्यक्ति से आदर्श भूमण्डल समाज नहीं बन सकता। एक व्यक्ति से परिवार, परिवारों से वंश, वंशों से जाति, जाति का राष्ट्र बन जाता है। वे सब सीढ़ियाँ राष्ट्रों में लड़ाइयाँ हैं, झगड़े हैं—किन्तु इन मारी त्रुटियों के साथ एक उन्नति का तत्व विद्यमान है।

—इन्द्र वेदालंकार

राष्ट्रीयता भावुकता का नारा नहीं है। यह एक रचनात्मक भावना है। हमें अपने देश को आर्थिक रूप में स्वावलम्बी तथा सांस्कृतिक रूप से प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।—*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*

पिछले अध्याय में गाँव और नगर के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। वे हमारे रोज़मर्रा के कामों या सेवा के निकट क्षेत्र हैं। इनसे बड़ा क्षेत्र जिसके प्रति हमारा स्वाभाविक अनुराग होता है, राष्ट्र कौम, या नेशन, है। एक राष्ट्र में बहुत से कबीले और जाति-उपजातियाँ होती हैं। इन संगठनों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। इनमें से हर समूह के आदमियों की अपनी अपनी रीति-रस्म, संस्थाएँ और परम्पराएँ होती हैं। बहुत समय तक पास पास रहने के कारण ये आपस में आत्मीयता या अपनेपन का अनुभव करने लगते हैं, और सुसंगठित होकर एक ही शासन पद्धति में रहने लगते हैं। भाषा आदि की विभिन्नता के कारण एक राष्ट्र की दूसरे से पृथकता स्पष्ट हो जाती है।

राष्ट्र के प्रति मनुष्य का प्रेम, श्रद्धा और भक्ति कितनी प्रबल होती है, यह सब जानते हैं। 'मेरी मातृभूमि' 'मेरा वतन' 'मेरा मुल्क' 'मेरा देश (स्वदेश)' 'मेरी जन्मभूमि' या 'मेरा राष्ट्र' यह विचार आते ही मनुष्य गद्गद् हो जाता है, और वह उसके लिए अधिक से अधिक त्याग करने और कष्ट सहने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रीय झण्डे के सम्मान के लिए बालकों और बूढ़ों तक ने अनुपम साहस का परिचय दिया है। झंडा-गान के समय आदमी अपने सब दुखों को भूल जाता है। मातृवन्दना से हृदय में विलक्षण ही भावों का संचार होने लगता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' में किसी व्यक्ति विशेष का ही भाव प्रकट नहीं किया गया है, यह लोक भावना का व्यक्त स्वरूप है, लोकवाणी है। ऐसे ही इसलाम धर्म का एक मशहूर सिद्धान्त है—हुब्बुल वतन मिनल ईमान' यानी अपने देश से प्रेम करना ईमान का एक अंग है।

राष्ट्रीयता का यह तकाजा है कि हम अपने देश से, उसके खेतों और खलिहानों से, वहाँ के नाना भाँति के दृश्यों से, वहाँ के इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति और परम्पराओं से ख़ास प्रेम रखें। जो प्रदेश या जो लोग भौगोलिक परिस्थिति या भाषा की समानता आदि के कारण हमारे सम्पर्क में अधिक आते हैं, उनकी ओर आकर्षित होना, उनके साथ अधिक प्रेम करना स्वाभाविक ही है। इस तरह देश हमारी कई तरह की सेवाओं का क्षेत्र हो सकता है। आम तौर पर एक भारतवासी भारतवर्ष में, अंगरेज इंगलैण्ड में, और जर्मन जर्मनी में मानव समाज की इतनी सेवा कर सकता है, जितनी वह दूसरे देश में जाकर नहीं कर सकता, क्योंकि अपने देश में वह दूसरे भाइयों की हालत, स्वभाव और ज़रूरतों आदि को अच्छी तरह

समझता है, उनके विषय में उसको अच्छा अनुभव होता है।

देश या राष्ट्र की सेवा के अनेक अंग हैं सामाजिक, शिक्षा और साहित्य सम्बन्धी, औद्योगिक, राजनैतिक आदि। यहाँ इनमें से हरेक के सम्बन्ध में विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं है, कुछ बातों की संक्षेप में ही की चर्चा जाती है।* सामाजिक विषयोंपर लोगों में प्रायः दो दल हुआ करते हैं। बहुत से आदमी पुरानी बातों का आँख मींच कर पालन करते रहते हैं; चाहे वे बातें अब नये ज़माने और नयी परिस्थिति में उपयोगी न होकर हानिकर ही हों। वे नहीं सोचते कि यदि कोई बात किसी खास समय में अच्छी भी रही हो तो अब बदली हुई परिस्थिति में उसका वैसा ही लाभदायक होना ज़रूरी नहीं है। और, कोई बात, 'हमारे बाप दादों ने की थी', इसी आधार पर हमेशा के लिए सुरक्षित नहीं रखी जानी चाहिए। इसके विपरीत, देश में कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं, जो हर पुरानी चीज का बहिष्कार करने और नयी बातों का बिना जाँच पड़ताल किये प्रचार करने के लिए तैयार रहते हैं। सच्चाई यह है कि कोई बात केवल नयी होने के कारण ही मानने के काबिल नहीं हो सकती। देश का सच्चा हित चाहने वालों को ऊपर लिखे दोनों मार्गों की अति को छोड़कर अपना कर्तव्य निश्चय करना चाहिए; वे रखने योग्य पुरानी बातों की रक्षा करें और साथ ही उन नयी बातों को भी अपनाते रहें, जो विचार करने पर और तजरबे यानी अनुभवसे उपयोगी साबित हों। हम सुधारक तो हों, पर जल्दबाज

* भारतीय पाठकों के लिए इन विषयों पर विचार 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' और 'भारतीय जागृति' पुस्तकों में किया गया है।

या अविवेकी न हों। गम्भीर, धैर्यवान, सहनशील और अमली जीवन बिताने वाले कार्यकर्ताओं की हर देश को ज़रूरत रहती है।

देश में शिक्षा और साहित्य के प्रचार में अपनी शक्ति भर योग देना हर नागरिक का कर्तव्य है। हाँ, यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनकी आड़ में बालक बालिकाओं के मन में ऐसे संस्कार न पड़े जो उनके दृष्टिकोण को अनुदार और उनकी विचारधारा को संकुचित कर दें। इस विषय में आगे और लिखा जायगा। यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। हर नागरिक को केवल अपने प्रान्त की भाषा या साहित्य से संतुष्ट न होकर राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का भी प्रचार करना चाहिए। हमारा अपने को देश-प्रेमी या राष्ट्र-प्रेमी कहना बेमाइने है, जब तक हम देश की भाषा (राष्ट्र-भाषा) नहीं सीखते, और सीख कर उसकी उन्नति करने में जहाँ तक हो सके, भाग नहीं लेते। हमें इस बात की भी कोशिश करनी चाहिए कि हम दूसरे देशों की भाषा और साहित्य से, और वहाँ के रहने वालों से जानकारी हासिल करें।

इस तरह के प्रयत्नों से भी हमारी सहानुभूति और हमारा सहयोग होना चाहिए, जो देशवासियों की आर्थिक अवस्था सुधारने में सहायक हों। 'देशवासियों' से हमारा मतलब कुछ इने गिने थोड़े से आदमियों से नहीं है, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की मेहनत से बेजा फायदा उठाते हों। हमारा उद्देश्य जनता जनार्दन की सेवा और हित साधन है; वे किस तरह स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करें, और अपने शारीरिक और मानसिक विकास का मार्ग साफ़ करें, यही हमारा मुख्य विचार

रहना चाहिए। पूँजीवादियों के औद्योगिक कार्य वास्तव में व्यापक राष्ट्र-हित साधक नहीं होते, इस विषय का विवेचन आगे किया जायगा; विचारशील लोगों को चाहिए कि उनमें आँख बन्द करके योग न दें।

अपने देश या अपनी कौम को आज़ाद करना और उसकी आज़ादी की रक्षा करना तो नागरिक का अनिवार्य कर्तव्य है। पराधीनता की हालत में कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक शक्तियों का पूरा पूरा विकास नहीं कर सकता और मानवता के लिए जितना चाहिए उपयोगी नहीं बन सकता। नागरिकों को चाहिए कि वे अपने राष्ट्र को आज़ाद करें और अनियंत्रित या अन्यायी शासन से उसे छुटकारा दिलावें। वे किस तरह इस काम में मदद दे सकते हैं, और इसे करते हुए उन्हे किन-किन सिद्धान्तों का ध्यान रखना जरूरी है, इसके बारे में कुछ विचार-सामग्री दूसरी जगह मिलेगी। यहाँ हमें यही कहना है कि हम राजनीति और राष्ट्र-नीति को कूटनीति या कपट-शास्त्र न समझें, और अपने व्यवहार से उसे सब के भले के लिए मानव शास्त्र का अंग बनाने की कोशिश करें। हम याद रखें कि हिन्सा और छल-कपट से प्राप्त विजय या आजादी क्षणिक तो होती ही है, इसके अलावा, यदि अच्छी तरह विचार किया जाय, तो वह सच्चे अर्थ में विजय या या आजादी नहीं होती, वह हमारे पतन का रास्ता तैयार करती है, इसलिए हमें भ्रम से उसके प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले इस बात पर जोर देना ज़रूरी है कि चाहे किसी खास परिस्थिति के कारण हम दूसरे राष्ट्रों की भलाई के कामों में बहुत सहयोग न दे सकें,

फिर भी हमें याद रखना है कि सब राष्ट्र एक ही मानव जाति के अंग हैं। यदि हो सके तो हमें दूसरे राष्ट्रों की भी सेवा में हिस्सा लेना चाहिए। हमारी भावना संकीर्ण या अनुदार न होकर व्यापक और उदार होनी चाहिए। वह किसी को अधीन करना या किसी का शोषण करना न चाहे; वह युद्ध और विजय दोनों से लज्जित हो।* उदार राष्ट्रीयता सैनिक यादगारों को मिटा देना चाहती है। वह उन कवियों, चित्रकारों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, और दूसरे स्त्री पुरुषों की याद में सुन्दर स्मारक खड़े करती है, जिन्होंने समाज की असली सेवा की है। जब ऐसी प्रशंसनीय उदार राष्ट्रीयता ज़ोर पकड़ेगी तो वह इतिहास को मनुष्यों के रक्तपात से मुक्त कर देगी।

याद रहे कि संकीर्ण या अनुदार और उग्र होने की दशा में राष्ट्रीयता विनाशक होती है, वह विशाल सामाजिक संगठन में रुकावट डालती है। उसके बारे में आगे लिखा जायगा।

---

*सम्राट् अशोक ने अपने कलिंग विजय पर खुले शब्दों में पश्चाताप और दुख प्रकट किया था। उसके एक शिला-लेख के कुछ अंश का अनुवाद देखिए—"कलिंग को जीतने पर 'देवताओं के प्यारे' (अशोक) को बड़ा पश्चाताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नहीं हुआ है, उसका विजय होने पर लोगों की हत्या या मृत्यु अवश्य होती है, और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। 'देवताओं के प्यारे' को इससे बहुत दुख और खेद हुआ।"

सातवाँ अध्याय

साम्राज्य

संसार का शासक बन जाने के बाद भी (खलीफा) उमर पहले की तरह सादा, अपने रहन-सहन में कठोर और ईमानदार बना रहा।...उसने महान संसार-व्यापी मानव बन्धुत्व को उसकी शुरू की सीधी-सादी सच्ची मानव समता पर कायम रखा। यदि इसी तरह के आदमी संसार के शासक होते रहते तो संसार का इतिहास कुछ और ही होता। —*डेनीसन*

हम कह चुके हैं कि आदमी की राजनैतिक भावना पहले नगर-राज्यों में प्रकट हुई। जो नगर पास-पास थे, उनमें लोगों का रहन सहन, भाषा, व्यवहार, संस्कृति, सभ्यता आदि बहुत कुछ एकसी होती थी, फिर भी हर राज्य अपना अलग अस्तित्व रखने का अभिलाषी होता था; यहाँ तक कि वह अपने पड़ोसी राज्य से लड़ कर अपनी बहादुरी और बड़प्पन का परिचय देता था। इससे मानव उन्नति में बाधा पड़ती थी। धीरे-धीरे उन्हें अपनी भूल मालूम हुई, और उनमें पास-पास के नगर-राज्यों को मिलाकर एक राष्ट्र-राज्य बनाने का विचार पैदा हुआ।

नगर-राज्यों से राष्ट्र-राज्य एक दम नहीं बन गये। अनेक बार बनते बनते रह भी गये। बड़ी कठिनाई से नगर-राज्य अपनी प्रभुता और पृथकता का त्याग करने को तैयार हुए। कहीं राष्ट्र-राज्य एक समय बना, कहीं उसके बहुत आगे पीछे। कहीं

उसके निर्माण का एक ढंग रहा, कहीं दूसरा। राष्ट्र-राज्यों का बनना सामाजिक विकास की अच्छी मंजिल थी। कुछ समय बाद अनुभव हुआ कि राष्ट्र-राज्य भी छोटे हैं। इन्हें अलग-अलग अपनी नई-नई ज़रूरतें पूरी करने में कठिनाई होती थी। इनका आपस में संघर्ष होता था और इनकी बहुत सी शक्ति आपसी लड़ाई झगडों में ही खर्च हो जाती थी। धीरे-धीरे कोई राज्य इतना शक्तिशाली या ताकतवर हो गया कि वह दूसरों पर अपना रौबदौब जमा सका; कुछ को राजी से, और कुछ को थोड़े संघर्ष के बाद उसने अपने अधीन कर लिया। इस तरह वह राज्य से साम्राज्य बन गया, और प्रबल राजा सारे साम्राज्य का सम्राट् हो गया।

जिस तरह एक जवान • साहसी आदमी यह चाहने लगता है कि मेरे साथी मेरे बल और पुरुषार्थ का लोहा मानें. उसी तरह एक राष्ट्र में भी. सबल होने पर यह आकाँक्षा पैदा हो जाती है कि दूर-दूर तक के प्रदेश मेरी प्रभुता को स्वीकार करें, मैं सब पर शासन कर सकूँ, सब पर मेरा आतङ्क छाया रहे। जब किसी राष्ट्र में कोई चंगेज़ खाँ; चन्द्रगुप्त, बाबर या सिकन्दर पैदा हो जाता है, तो वह दूर दूर तक राज्य विस्तार करने को कटिबद्ध हो जाता है। वह इसके लिये ज़रूरी सेना और सामान जुटा लेता है, कुछ आदमी अपनी आजीविका या धन प्राप्ति के लिए उसकी सेना में भर्ती होते हैं, तो कुछ अपना क्षात्र तेज़ या बाहु-बल दिखाने के लिए ही उसके सहायक हो जाते हैं। कहीं कहीं धार्मिक भावना का भी आसरा ले लिया जाता है, और पंडितो या पुरोहितों से विजय का मुहूर्त निकलवाया जाता है। इसके उपलक्ष्य में दान, धर्म, जप, यज्ञ आदि अनुष्ठान

होते हैं, जिनका स्वरूप, देशकाल के अनुसार अलग-अलग होता है। इस तैयारी के बाद राजा अपनी विजय-यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। कोई कोई प्रदेश तो उनकी सैनिक शक्ति का विचार करके चुपचाप उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, और कहीं कहीं उनका डटकर मुक़ाबला. होता है। कभी कभी आक्रमणकारियों को बड़े बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। पर जो लोग धुन के पक्के होते हैं; वे अपना साहस नहीं छोड़ते, बार-बार उद्योग करते हैं, अपने सैनिक संगठन को सुधारते हैं, शक्ति को बढ़ाते हैं और फिर अपना मनसूबा पूरा करते हैं। .खून खच्चर से वे घबराते नहीं। दूसरों की तो बात ही क्या, स्वयं अपने प्राणों का भी उन्हें मोह नहीं होता। ऐसे होते हैं, नहीं-नहीं यों कहना चाहिए कि ऐसे होते थे, पुराने ज़माने के साम्राज्य-निर्माता। 'होते थे' कहने में हमारा खास मतलब है। हम पाठकों का ध्यान इस ओर दिलाना चाहते हैं कि यहाँ हम आजकल के उन साम्राज्यों की बात नहीं कह रहे हैं, जिनका उद्देश्य केवल अपने अधीन देशों से धन खैंचना होता है, या जो अपना राज्य इस लिए बढ़ाते हैं कि उन्हें अधीन देशों से अपने कल कारखानों के लिये कच्चा माल और अपने तैयार सामान के लिए सुरक्षित बाज़ार मिलें। साम्राज्यों में यह पूँजीवाद की भावना तो इस ज़माने में आयी है, और आजकल की महाजनी सभ्यता की विशेषता है। आजकल के ये पूँजीवादी साम्राज्य मानव समाज के विकास में बहुत बडी रुकावटें साबित हो रहे हैं। इनके बारे में अगले खंड में और ज्यादह लिखा जायगा।

यहाँ तो हमें ऐसे (प्राचीन) साम्राज्यों का विचार करना है, जो अपना विस्तार इसलिये करते हैं कि सामाजिक संगठन का दायरा बड़ा हो जाने पर दूर दूर के आदमियों में मेल

मिलाप बढ़ता है, उनकी ज़रूरतें पूरी होने में सुविधा होती है, विद्या और ज्ञान का लेन देन बड़े पैमाने पर होने लगता है, संकीर्णता हटने लगती है और आदमी अपने रहने सहने, व्यापार करने और सोचने विचारने के लिए छोटे छोटे तङ्ग घेरों में बन्द न रहकर एक ज्यादह बड़ी दुनिया का उपयोग करने लगते हैं। पुराने ढङ्ग के साम्राज्यों का यह समझा बूझा लक्ष्य था, और जिनका इस तरह का लक्ष्य न था, उनका भी आम तौर पर नतीजा यही होता था।

प्राचीन साम्राज्य प्रायः जीते हुए राज्य के भीतरी बन्दोबस्त और इन्तजाम में दखल नहीं देते थे। जहाँ तक होता था वहाँ के राजपरिवार के ही किसी सुयोग्य आदमी को वहाँ का शासक बना दिया जाता था। इस तरह साम्राज्य के अन्दर अधीन या मातहत राजाओं को बहुत कुछ राजनैतिक आज़ादी होती थी। एक दरजे तक सब अपने राज्य में अपना क़ायदा क़ानून और अपनी शासन-नीति बरतते थे। ये सब राजा सम्राट् की प्रभुता और बड़प्पन मानते थे, और खास खास मौकों पर उसे कुछ भेंट या नज़राना देते थे। परन्तु सम्राट् उन छोटे राज्यों की आमदनी हड़प करने या उसका उपयोग अपने किसी अलग देश के लिए करने का इच्छुक न होता था; वह वहाँ अपने खानदान वालों या अपनी क़ौम वालों को ऊँचे ऊँचे सरकारी पद देने का भी इरादा न करता था।

राम ने लंका को विजय किया तो वहाँ की राजगद्दी रावण के भाई विभीषण को दी। कृष्ण ने कंस को मार कर वहाँ उस (कंस) के पिता उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाया। इसी तरह जरासंध के मारे जाने पर उस का पुत्र सहदेव, और चेदी (जबलपुर) के राजा शिशुपाल के मारे जाने पर उसका

पुत्र राज्य का अधिकारी बना। उसके बाद मौर्य साम्राज्य या गुप्त साम्राज्य में हम देखते हैं कि सम्राटों को साम्राज्य के सब हिस्सों के आदमियों की भलाई की समान रूप से चिन्ता है; यह नहीं कि सम्राट् के खास देश को मालामाल करने के लिए साम्राज्य के दूसरे देशों के लोगों को मरना-खपना और दरिद्रता का जीवन बिताना पड़ा हो। इसके बाद मुग़ल सम्राटों का समय आता है। मुग़ल सम्राटों ने भारतवर्ष के धन को भारतवर्ष में ही और भारतवासियों के लिए ही खर्च किया, ये ख़ुद भारतवासी बन गये और यह बात बिल्कुल कल्पना के बाहर हो गयी कि इन सम्राटों द्वारा भारतवर्ष का रुपया अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या मध्य एशिया में भेजा जाय। मुग़ल सम्राटों की तो यह कोशिश रही कि बाहरी साधन भी भारतवर्ष ही को उन्नत और मालामाल करने में काम में लाये जायँ।

भारत का मुग़ल साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य है, जो प्राचीन शैली का होते हुए भी कई अंशों में आधुनिक पाठकों के बहुत नज़दीक का है। इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार करना उपयोगी होगा। इससे प्राचीन साम्राज्यों के काम और असर के बारे में व्यापक रूप से अनुमान करने में सुविधा होगी। इस साम्राज्य के सम्बन्ध में सर यदुनाथ सरकार ने खास अध्ययन किया है, उन्होंने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख * में बताया है कि मुसलिम शासन से भारतवर्ष को नीचे लिखे दस लाभ हुए हैं—

(१) बाहर की दुनिया के साथ सम्बन्ध कायम होना.

* इसका हिन्दी अनुवाद 'विशाल भारत', अगस्त १९३१ में प्रकाशित हुआ था; शीर्षक था—'भारत में मुसलमान'।

भारतीय नौ शक्ति (जल सेना) का संगठन और समुद्र पार विदेशों में हिन्दुस्तान की तिजारत।

(२) एक छत्र राज्य के परिणाम-स्वरूप भारतव्यापी शान्ति, खासकर विन्ध्याचल के उत्तर के सारे हिस्से में।

(३) सारे देश में एक ही तरह की शासन प्रणाली, और एक ही शासक के अधिकार के कारण जनता के व्यवहार, वाणिज्य व्यवसाय, रहन सहन और एक दरजे तक उनके विचारों में भी एकता की स्थापना।

(४) हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से ऊँची और नीची सब श्रेणियों के बीच सामाजिक आचार व्यवहार, भाव, पोशाक, आभूषण आदि में एक ही प्रणाली का अनुसरण।

(५) मुग़ल चित्रकला का जन्म, गृहनिर्माण कला का अद्भुत विकास और कितनी ही नई-नई दस्तकारियों का जन्म और उनकी तरक्की।

(६) सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए एक उपयोगी प्रचलित भाषा उर्दू का जन्म, जिसे फ़ार्सी में हिन्दवी यानी भारतीय भाषा कहा जाता है।

(७) संस्कृत का व्यवहार पहले ही लुप्त प्राय: हो चुका था, मुसलमान-शासन से मिलने वाली शान्ति और ऐश्वर्य के फल स्वरूप हिन्दी, बंगला, मराठी आदि नई-नई भाषाओं में साहित्य-रचना का प्रारंभ।

(८) हिन्दू समाज में केवल एक ईश्वर की पूजा पर ज़ोर देने वाले सम्प्रदायों का जन्म; वेदान्तिक सूफ़ी धर्म का प्रचार।

(९) इतिहास-रचना।

(१०) युद्ध-विद्या में और सभ्यता के समस्त विभागों में में सर्वांगीण उन्नति।

इनमें से हमें खास तौर से दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना है—(१) इस साम्राज्य ने भारतवर्ष का बाहरी संसार के साथ फिर से परिचय कराया और (२) इसने भारत-वर्ष में जातीय यानी राष्ट्रीय एकता की जड़ें मजबूत कीं। इनमें से पहली बात के सम्बन्ध में विद्वान लेखक ने बताया है कि बौद्ध काल के अन्त तक भारत के साथ दक्खिन और पूरब एशिया के कई देशों का गहरा सम्बन्ध था। पर हूणों को हराने के बाद आठवीं सदी में हिन्दू धर्म अपने घर को संभालने में ही लग गया था। मुसलमानों के शासनकाल में बहुत से भारतीय मुसलमान यहाँ से बाहर गये, और विदेशी मुसलमान और दूसरे धर्म वाले यहाँ आये। पश्चिमोत्तर में बोखारा, समरकन्द, बलख, खुरासान, ख़ारिजम और फारिस जैसे देशों से; पूरब और दक्खिन में सिंहल, सुमात्रा, जावा, श्याम, चीन से; और दक्खिन-पच्छिम में ज़ंजीबार तक से तिजारती माल निर्विघ्न और बेरोक-टोक आने जाने लगा।

राष्ट्रीय एकता के बारे में श्री० यदुनाथ ने लिखा है कि दो सौ वर्ष तक मुगल सम्राटों के शक्तिशाली शासन के कारण समस्त उत्तर भारत ने और दक्खिन भारत के भी एक हिस्से ने, एक सरकारी भाषा, एक शासनप्रणाली, एक से सिक्के और बोलचाल की एक भाषा प्राप्त की। राजकर्मचारी, सैनिक, व्यापारी और यात्री एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बराबर जाते आते थे, और कहीं भी अपने आपको परदेश में आया हुआ हुआ नहीं समझते थे। सब लोग विशाल मुगल साम्राज्य को एक देश और एक जन्मभूमि मानने लग गये थे। इससे भारतीयता या भारत-राष्ट्रीयता की कल्पना सम्भव हो गयी।

पुराने जमाने के साम्राज्यों की एक और मिसाल सिकन्दर के साम्राज्य की भी दी जा सकती है। सिकन्दर ने अपने जीते हुए देशों से सोना चाँदी लेकर यूनान को नहीं भरा। उसका यह उद्देश्य भी नहीं था। वह भिन्न-भिन्न जातियों का मिश्रण चाहता था। उसकी विजयों से मानव समाज के संगठन की वृद्धि हुई। यूरोप और एशिया के अनेक देशों के, और, अफरीका से मिश्र आदि के निवासी एक दूसरे के सम्पर्क में आये। सिकन्दर स्वयं लाखों आदमियों को पूरबी यूरोप से एशिया लाया और लाखों ही को एशिया से यूरप ले जाकर बसाया। इनमें बहुत से विद्वान और कारीगर भी थे। इससे यूरप में एशिया के ज्ञान और संस्कृति का प्रचार हुआ, और एशियाई देशों ने भी यूनान की विद्या और कला को बहुत दरजे तक अपनाया।

प्राचीन साम्राज्यों की इस उपकारक भावना की एक बहुत अच्छी मिसाल खलीफा उमर के जीवन में मिलती है।* खलीफा उमर की अधीनता में सन् ६४० ई० में अरब सेनापति उमर ने मिश्र को जीता। उस समय विजेता उमर को किसी ने यह सलाह दी कि वह मिश्र की भूमि विजयी अरबों में तकसीम करदे। खलीफा से पूछा गया। वहाँ से जवाब आया—"प्रजा की जमीन उन्हीं के कब्जे में रहने दी जाय। वे ही उसकी सेवा करें और उससे फलें फूलें।" इस विषय में जिस नीति का पालन खलीफा उमर ने इराक़, शाम और फिलिस्तीन में किया था, उसी का मिश्र में किया। उसने देश की एक एकड़ जमीन पर भी किसी अरब को कब्जा करने न दिया। यहाँ तक कि जब सेनापति उम्र ने अपना एक मकान बनाने के लिए खलीफा

* देखिए, फरवरी १९४४ की 'विश्ववाणी'; पंडित सुन्दरलाल जी का लेख, शीर्षक—'खलीफा उमर; कारनामें और चरित्र'।

से कुछ ज़मीन की इजाज़त चाही तो खलीफा ने यह कह कर इनकार कर दिया—'तुम्हारे पास रहने के लिए मदीने में एक मकान है, वही तुम्हारे लिए काफी होना चाहिए।' खलीफा उमर की सादगी और आत्मत्याग भी कैसा गजब का था! एक बार उसके शासन काल में अरब में दुष्काल पड़ा। पेश्तर इसके कि शाम या इराक से काफी नाज आ सके, हजारों आदमी भूख से तड़पने लगे। इस समय, सर विलियम म्यूर ने लिखा है—"उमर ने अपने अभ्यस्त आत्मत्याग के साथ हर ऐसी चीज को खाने से इनकार कर दिया जो आस-पास के दूसरे लोगों को न मिल सकती थी। उसने प्रतिज्ञा की कि 'जिस वक्त तक लोगों के पास काफी खाना न हो जाय, मैं मांस, मक्खन या दूध तक को हाथ न लगाऊँगा।' दूध और मक्खन के बजाय जैतून का तेल और मोटी रोटी खाते उमर का ताकतवर शरीर कमजोर हो गया और चेहरा उतर गया। नौ महीने तक यानी जब तक बारिश नहीं हुई, और कहत का खात्मा नहीं हुआ, उमर की यही खुराक रही।"

अब जमाना बदल गया है, ये बातें अनोखी मालूम होती हैं। आजकल के सम्राटों का ही नहीं, उनके अधीन गवर्नरों आदि छोटे बड़े शासकों और फौज और पुलिस के अधिकारियों तक का रवैया कुछ और है; न वैसे सम्राट हैं, और न वैसे साम्राज्य। प्राचीन साम्राज्य अधिक-से-अधिक मानव जाति को एक सूत्र में बांधने के प्रयत्न थे; आजकल का साम्राज्यवाद मानव जाति के बीच में रंग और राष्ट्र की दीवारें खड़ी करके जातियों को तुच्छ स्वार्थ-साधन में लगा रहा है; मनुष्य के सामाजिक विकास में भयंकर बाधा है। इसका विचार आगे किया जायगा।

आठवाँ अध्याय

संघ-राज्य

हमने पिछले अध्याय में कहा है कि राष्ट्र-राज्य से आगे मनुष्य-समाज के विकास की मंज़िल साम्राज्य है। साम्राज्य से वहाँ हमारा मतलब पुराने ज़माने के ऐसे साम्राज्यों से ही है, जिनकी ग़रज़ दूसरे देशों को लगातार लूटना या उन्हें चूसना नहीं होती थी। यह लूट और शोषण तो पीछे की क्रियाएँ हैं, जिन्हें हम विकास की मंजिल न कह कर मार्ग की बाधा ही कह सकते हैं। उसके बारे में आगे विचार किया जायगा।

यह ज़रूरी नहीं है कि राष्ट्र-राज्य के बाद अगला सामाजिक संगठन साम्राज्य के ही रूप में हो। वह संघ-राज्य भी हो सकता है। आम तौर से, जब कुछ राज्य मिलकर किसी प्रबल राज्य से अपना बचाव करने यानी आत्म रक्षा के लिए, या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए अपनी सेना, टकसाल, व्यापार आदि विभागों का प्रबन्ध सामूहिक रूप से करने के लिए एक संगठन कर लेते हैं तो कहा जाता है कि उन्हों ने अपना 'संघ' (फेडरेशन) बना लिया है। इस तरह के संघ को खास-खास बातों के अधिकार सर्वोपरि होते हैं। वह अपने काम के लिए सब राज्यों की जनता से ज़रूरी सामान जुटाने का अधिकारी होता है। विधान में इस बात का साफ-साफ उल्लेख होता है कि किन-किन विषयों में संघ-सरकार का, और किन में अलग-अलग राज्यों का अधिकार होगा, और बाकी बातों के

अधिकार किसे होंगे। संघ में सम्मिलित राज्यों के नागरिक संघ के भी नागरिक होते हैं। इस तरह संघ-राज्य में हर नागरिक को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, उसे दोनों के क्षेत्रों में मताधिकार होता है। संघ की सरकार और हर राज्य की अलग सरकार दोनों ही सब नागरिकों द्वारा बनती हैं, और उनके प्रति जवाबदेह होती हैं। दोनों तरह की सरकारें नागरिकों से सीधा सम्बन्ध रखती हैं।

जिस तरह राष्ट्र-राज्य नगर-राज्य से आगे की मंजिल है, उसी तरह संघ-राज्य राष्ट्र-राज्य से आगे की प्रगति ज़ाहिर करता है। इस विषय में ज़रूरी बातें जानने के लिए यहाँ मिसाल के तौर पर यह बताया जाता है कि 'अमरीका के संयुक्त राज्य' नाम के संघ का निर्माण किस तरह हुआ। पाठक जानते ही हैं कि अमरीका अपनी आर्थिक, मानसिक और वैज्ञानिक उन्नति के कारण संसार भर में अपना खास स्थान रखता है।

अमरीका के इस भाग में यूरोप वालों की बस्तियाँ सतरहवीं सदी के शुरू से ही आबाद होने लगी थीं। तब से यहाँ के मूल निवासी या असली बाशिन्दे 'रेड इंडियन' देश के भीतरी हिस्सों में भगाये जाने लगे और समुद्र के किनारे-किनारे यूरोप वालों के उपनिवेश कायम होना शुरू हो गया। इन यूरपियनों में ज्यादहतर अंगरेज़ थे; उनके अलावा फ्रांस, हालैन्ड और स्पेन आदि के भी आदमी थे। ये लोग प्रायः सब एक ही जाति के थे, एक ही भाषा बोलते थे, इनके राजनैतिक और आर्थिक हित भी एक समान थे। फिर भी अमरीका में इनके राज्य अलग-अलग थे। हर राज्य का ब्रिटिश सम्राट् से लगभग वैसा ही सम्बन्ध था, जैसा उसके पड़ोसी राज्य का। परन्तु हर एक

की सरकार, व्यवस्थापक सभा, न्यायालय, शासक और कर्मचारी अलग-अलग थे।

सन् १६४३ ई० में इनमें से चार उपनिवेशों ने मिल जाने की कोशिश की। वे चाहते थे कि फ्रांसीसी और डच (हालैन्ड के) उपनिवेशों की जनता से और वहां के मूल निवासियों से अपनी रक्षा करने के लिए अधिक शक्तिशाली बन जायँ। इस लिये उन चार ने एक तरह का 'संघ' बना कर अपना संगठन किया और उसके लिए आवश्यक नियम बना लिये। हर राज्य के दो दो सदस्य ले कर उन सबका एक कमीशन बनाया गया, जिसे दूसरे राज्यों से संधि और युद्ध सम्बन्धी विचार करने का अधिकार था। कुछ समय बाद यह कमीशन बेकार साबित हुआ, और उन चार उपनिवेशों की एकता की कोशिश असफल रही।

अमरीका के ये सब उपनिवेश उन दिनों बहुत दरजे तक इंगलैन्ड के अधीन थे। धीरे-धीरे उपनिवेशों में राजनैतिक जागृति बढ़ रही थी। उनमें स्वाधीनता के भावों का उदय हो रहा था। उन्हें यह अखरने लगा कि इंगलैन्ड उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर तरह-तरह के कर (टैक्स) और कानूनों का बोझ लादता रहे। वे इंगलैण्ड से सम्बन्ध तोड़ने की बात सोचने लगे। परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह थी कि उन्हें एक दूसरे पर विश्वास न था। वे समय समय पर कुछ बातों के लिए आपस में समझौता करते और कुछ समय के लिए मिल जाते थे। पर यह संगठन कभी टिकाऊ नहीं होता था। हर छोटे राज्य को यह डर था कि सबका संगठन हो जाने पर और संघ-सरकार के बन जाने पर बहुत सी सत्ता इन छोटे राज्यों से छिन कर संघ-सरकार को मिल जायगी; फिर उनकी स्वाधीनता न

रहेगी।

इन उपनिवेशों के सङ्गठन का दूसरा मौक़ा सन् १७५४ में आया, जबकि इंगलैण्ड और फ्रांस में युद्ध छिड़ने वाला था। यद्यपि उपनिवेशों को इंगलैण्ड के व्यवहार से असंतोष था, फिर भी वे यह नहीं चाहते थे कि उनके पड़ोस में ही फ्रांस की शक्ति प्रबल हो जाय, और उससे कष्ट उठाना पड़े। इधर इंगलैण्ड भी चाहता था कि उपनिवेशों की शक्ति अधिक हो जिससे फ्रांस वहाँ ज़ोर न पकड़ने पावे। इसलिये उसने सन १७५४ में सब उपनिवेशों की एक कांग्रेस का अधिवेशन कराया। उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने उनके मिलने की योजना पर विचार किया और इंगलैण्ड को फ्रांस के विरुद्ध सात साल के युद्ध (१७५६-६३) में जन धन से खूब मदद की। इस युद्ध में इंगलैण्ड को जीत रही।

उपनिवेशों के मिलने का कोई खास प्रयत्न सन १७६५ ई० से पहले न हुआ। सन् १७६५ में उन्होंने ब्रिटिश पार्लिमेंट के कर लगाने का विरोध करने का फैसला किया। बात यह थी कि सात साल के युद्ध के अन्त में इंगलैण्ड पर बहुत कर्जा हो गया था, उसे हलका करने के लिए और भविष्य में स्थाई सेना अधिक रखने के लिए उसने अमरीकन उपनिवेशों पर तरह-तरह के टैक्स (कर) लगाने शुरू किये। इन टैक्सों से उपनिवेशों का सब कारोबार और व्यापार चौपट होता था। उनका कहना था कि जब ब्रिटिश पार्लिमेंट में हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं तो उसे हम पर टैक्स क्यों लगाना चाहिए। इस पर धीरे धीरे कई टैक्स हटा दिये गये। लेकिन चाय का टैक्स बना रहा। उपनिवेशों ने इस टैक्स का क्रियात्मक विरोध किया। जब जहाज में भरी चाय अमरीका के बोस्टन बन्दरगाह पर पहुँची तो उन्होंने उसे

ज़बरदस्ती समुद्र में उलट दिया। आखिर, सन् १७७५ में उनका इंगलैण्ड से युद्ध छिड़ गया। यही अमरीका की स्वाधीनता का युद्ध था। ४ जुलाई १७७६ को उपनिवेशों ने, जिनकी संख्या उस समय १३ थी, अपनी आज़ादी का ऐलान कर दिया। युद्ध होता रहा। उपनिवेशों को काफ़ी हानि उठानी पड़ी, तो भी इंगलैण्ड उन्हें दबा न सका। आखिरकार १७८३ में संधि हुई। उपनिवेश स्वाधीन हो गये।

इस युद्ध ने उपनिवेशों के एकीकरण में भारी सहायता दी। जबकि इस युद्ध का विचार ही हो रहा था, सन् १७७४ में इन उपनिवेशों की अन्तर-औपनिवेशिक सभाएँ (काँग्रेस) आरम्भ हुई। इन सभाओं में सब उपनिवेशों के प्रतिनिधि होते थे, और हर उपनिवेश को समान मताधिकार रहता था। सन् १७७६ में तेरह उपनिवेशों में से केवल नौ के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा कर लगाये जाने का विरोध किया। अगले वर्ष सन् १७७७ में संघ (कन्फ़ेडरेशन) के मुख्य नियम तय किये गये। परन्तु सन् १७८१ तक उनके अनुसार कोई कानून नहीं बनने पाया। काँग्रेस को अलग-अलग उपनिवेशों पर कोई वास्तविक अधिकार न था; वह केवल एक सलाहकार संस्था थी, और अधिकार-प्राप्त सरकार की हैसियत से काम करने में असमर्थ रही। जब तक इंगलैण्ड से युद्ध होता रहा, तब तक अलग-अलग राज्यों ने अपने आपसी भेद भावों को छोड़ दिया। बाद में वे अपने संगठन यानी काँग्रेस की उपेक्षा करने लगे। होते होते सन् १७८७ में वर्तमान विधान की रचना हुई, और अमरीका की संघ-सरकार निश्चित रूप से कायम हुई। संघ में शासन, व्यवस्था और न्याय के काम अलग अलग महकमों को सौंपे गए। व्यवस्था के लिए

कॉंग्रेस की दो सभाओं का संगठन हुआ; सिनेट और प्रतिनिधि-सभा। यह सिद्धांन्त मान लिया गया कि सिनेट में तो अलग-अलग राज्यों के प्रतिनिधि रहें, और प्रतिनिधि-सभा में आबादी के हिसाब से सारी जनता के। शासन-अधिकार राष्ट्रपति (प्रेसीडेन्ट) को दिया गया, जिसकी स्थिति संघ में उसी तरह की थी, जैसी गवर्नरों की अपने-अपने राज्य में। न्यायालयों को व्यवस्था और शासन से अलग रखा गया।

आरम्भ में इस विधान को केवल एक सुविधा की चीज़ समझा गया। इसे राष्ट्रीय एकता कराने वाला बन्धन नहीं माना गया। राज्यों ने अपना पुराना रवैया जारी रखा। धीरे-धीरे उन्हें संघ-विधान की उपयोगिता मालूम हुई। उनका एक दूसरे के प्रति सन्देह और अविश्वास दूर हुआ। रेल और सड़कों की उन्नति होने से उनकी जनताओं का मिलना जुलना बढ़ा और वे आपस में मेल और उदारता का व्यवहार करने लगे। अब तक सब उपनिवेश केवल पूरब की तरफ़ समुद्र-तट पर थे। अब आदमी धीरे-धीरे पच्छिम की तरफ़ भी बढ़ने लगे। इस तरह उपनिवेशों की संख्या बढ़ने लगी, और वे संघ में शामिल होते गये। अब अलग अलग राज्य कुल मिलाकर ४८ हैं।

अमरीका की राष्ट्रीय एकता के पूरा होने में एक बाधा अभी बनी हुई थी। दक्खिन के राज्यों में दासता की प्रथा थी, इस से उनका उत्तरी राज्यों से सामाजिक मेल नहीं हो रहा था। दास प्रथा ने इतना फ़रक पैदा कर दिया था कि दक्खिन वाले अपनी सरकार उत्तर वालों से अलग क़ायम करने के इच्छुक हो गये। परिणाम स्वरूप सन् १८६१ में एक गृहयुद्ध (सिविल वार) हुआ। इसमें आखीर में जाकर दक्खिन के उपनिवेशों की हार हुई। सन् १८६५ में क़ानून द्वारा अमरीका के संयुक्त राज्यों से

दास-प्रथा उठा दी गई। इससे समानता बढ़ी। और उत्तर तथा दक्खिन के राज्यों का आपस में पूरा मेल हो गया।

अब संयुक्त राज्य अमरीका एक राष्ट्र है, उसकी सरकार संघात्मक है। अलग अलग राज्य उसके अंग है। उन्हें अपने अपने क्षेत्र में ऐसे अधिकार हैं, जो उनके तथा संघ के विधान द्वारा उन्हें मिले हैं। संघ-सरकार उन सब से ऊपर है, और उसका विधान सामूहिक दृष्टि से उन सब राज्यों के विधान से उच्चतर है। संघ सरकार के हाथों में ऐसे विषय और कार्य हैं, जिनका सम्बन्ध सब राज्यों से है, जैसे सेना, डाक, तार, रेडियो, टकसाल, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वैदेशिक नीति आदि। अलग अलग राज्यों को वे विषय सौंपे गये हैं, जिन का उस राज्य से ही सम्बन्ध है—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, पुलिस, निर्माण-कार्य, विवाह या तलाक आदि। इस तरह संघ और अलग अलग राज्यों के कार्यक्षेत्र और अधिकार विधान द्वारा निर्धारित हैं। वे एक दूसरे की सीमाओं में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि संघ का किसी राज्य से किसी विषय में विवाद या मतभेद हो तो उसका फ़ैसला संयुक्त राज्य अमरीका की सब से बड़ी अदालत, सुप्रीम कोर्ट करती है। यदि कोई राज्य उसके फ़ैसले को नहीं मानता तो वह बाक़ी सब ४७ राज्यों का विरोधी गिना जाता है, इसलिए कोई राज्य इस का साहस नहीं करता।

अमरीका के संयुक्त राज्य की तरह रूस और स्विटजरलैण्ड आदि देशों में भी संघ-राज्य कायम हैं। सबका इतिहास अलग अलग होने पर भी मूल बात एक ही है—कुछ राज्यों का एकीकरण। किसी संघ-राज्य की ब्योरेवार बातों से हमें मतलब नहीं। यहाँ केवल यह विचार करना है कि इससे मनुष्य कहाँ तक एकता की ओर प्रगति करता हुआ मालूम होता है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य नगर-राज्य से आगे बढ़कर राष्ट्र-राज्य पर आया। यहाँ आने पर भी उसे अपनी रक्षा और उन्नति के लिए, और दूसरों के अन्याय से बचने के लिए अपनी शक्ति बढ़ाने की ज़रूरत मालूम हुई। इसलिए उसने कई कई राज्यों को मिलाकर संघ-राज्य कायम करने की योजना की, और कुछ बाधाओं, हिचकिचाहट और विफलताओं के बाद कहीं कहीं इसमें उसने सफलता भी पाई। इस तरह संघ-राज्य निश्चय ही राष्ट्र-राज्य से आगे की मंज़िल है। इसमें अपने अंगों के गुण दोष मौजूद रहते हैं। यदि इसके अधिकांश अंगों या प्रबल अंगों में कोई गुण होता है, तो उनके प्रभाव से उस गुण का विस्तार संघ के दूसरे राज्यों में भी हो सकता है। जैसे कि अमरीका के उत्तरी राज्यों में दास-प्रथा के विरोध का भाव था, उन्होंने दक्खिन राज्यों को दास-प्रथा का त्याग करने के लिए मजबूर कर दिखाया। इस तरह इस अंश में मानवता का मान हुआ; और, विचारशील सज्जनों की दृष्टि में संयुक्त राज्य अमरीका का गौरव बढ़ा।

परन्तु इसके साथ दूसरी बातें भी विचार करने की हैं। अमरीका में अभी तक वहाँ के काले रंग के हब्शी लोगों के साथ जैसा रोमांचकारी दुर्व्यवहार होता है, वह किसी भी सभ्य और उन्नत कहे जानेवाले राज्य के लिए कलंक की बात है। अमरीका में वर्णभेद यानी काले गोरे का फरक घातक रूप में मौजूद है। फिर वहाँ लोगों में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की अनिष्टकारी आकांक्षा भी भरी हुई है। निदान, संघ-राज्य के लिए न तो यही ज़रूरी है कि वह इन दुर्गुणों से मुक्त रहे, और न यही आवश्यक है कि उसमें इन दुर्गुणों का समावेश रहे। यह तो संघ के अलग अलग राज्यों के बलाबल पर निर्भर है कि वे अपने संगठित रूप

को कहाँ तक मानवता की दृष्टि से आगे बढ़ाते हैं। आवश्यकता है कि हर राज्य अपना आदर्श ऊँचा रखे और भरसक परिश्रम करके तथा कष्ट उठाकर अपने साथी राज्यों की शुद्धि और उत्थान के लिए कटिबद्ध रहे, और विश्व-राज्य के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार करने में अपनी सारी शक्ति और सेवाएँ अर्पण कर दे। इस प्रसंग में विशेष विचार आगे किया जायगा।

नवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

—o—

पूर्व युग के मनुष्यों ने छोटे छोटे दलों में समाज की रचना की थी, उन्हीं दलों के लिये राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक नियमों की रचना की थी। किन्तु अब धीरे धीरे वे सारे संसार को संगठित करके ऐसे नियमों को बनाने के प्रयत्न में हैं, जो इस अखिल विश्व की समाज को एक वृहत् संगटन बनाये रखने में सफल हो सकें।

—*श्यामविहारी दुबे*

जिस तरह एक आदमी को दूसरे आदमी से मेलजोल करने की ज़रूरत होती है, उसी तरह एक गाँव या नगर को दूसरे गाँव या नगर से, और एक राज्य को दूसरे राज्य से सम्बन्ध कायम करने की ज़रूरत होती है। इस अध्याय में हम विविध राज्यों के एक दूसरे से सहयोग के धीरे-धीरे बढ़ने पर विचार करेंगे। पहले हम यह जान लें कि कि किस तरह दूर-दूर के मनुष्यों में मेल बढ़ा और उन्हें एक दूसरे से आर्थिक या सामाजिक सम्बन्ध जोड़ना पड़ा।

शुरू ज़माने में आदमी का रहनसहन बहुत सीधा सादा और उसका जीवन बड़ा एकांगी था। जहाँ वह रहता था, वहाँ और उसके पाँच दस मील इधर उधर तक में उसकी सारी ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। उसकी दुनिया बहुत छोटी थी। उसका विचार-क्षेत्र परिमित था, उसका सुख दुख, उसकी दोस्ती दुश्मनी, उसकी सहानुभूति, क्रोध, ईर्षा आदि सभी का क्षेत्र बहुत सीमित था। उसे अपने से ज्यादह दूर रहने वालों से मिलने का प्रसंग बहुत कम आता था, उसके पास जाने के उन्नत साधनों के अभाव में उसका संसार आम तौर पर कुछ गांवों या एक दो नगरों तक ही परिमित रहता था। आदमी अपनी ज़रूरत और सुविधा के अनुसार ही अपनी संस्थाएँ बनाता है और उनके स्वरूप में हेरफेर करता है। इसलिए उस समय के एकस्थानीय या अलहदगी के जीवन में छोटे छोटे नगर-राज्यों से ही काम चल जाता था।

धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आदमी की ज़रूरतें बढ़ीं ; उन्हें पूरा करने के लिए उसे दूर दूर तक दौड़ धूप करनी पड़ी। आने जाने के साधनों की ईजाद और उन्नति हुई। विज्ञान ने आदमी की अधिकाधिक मदद की। इस तरह अठारहवीं सदी से लोगों के आपसी सम्बन्ध में खास तौर से वृद्धि होने लगी। दूरी का सवाल हल होता गया। सैकड़ों और हज़ारों मील के फासले, जिनको पहले तय करना क़रीब-क़रीब नामुमकिन माना जाता था, अब आसान हो गये; न केवल इने गिने खास आदमियों के लिए, बल्कि हज़ारों लाखों आदमियों के लिए। महीनों और वर्षों की यात्राएँ अब दिनों और हफ़्तों की रह गयीं। नतीजा यह हुआ कि स्वावलम्बी ग्राम या नगर-संस्थाओं का अन्त हो चला।

आदमी का निर्वाह अपने गाँव, शहर या निवास-स्थान

की बनी चीज़ों से बहुत कम होने लगा। अब हमें न केवल दूसरे नगरों की, बल्कि अपने देश से बाहर की भी चीज़ों की ज़रूरत होती है। हमारा जीवन निर्वाह दूसरे देशों के सहयोग पर आश्रित है। यह बात किसी भी मामूली गृहस्थ का सामान देखने से ज़ाहिर हो जाती है। संसार के किसी देश पर कुछ संकट आये तो उसका असर हमारी आयात निर्यात पर पड़ता है, और उसकी सूचना हमारे नगरों में ही नहीं, गाँवों में भी पहुँच जाती है।

भौतिक जगत की बात छोड़कर अब हम जनता का विचार करें। पुराने ज़माने में हर गाँव या नगर में अधिकतर वहाँ के ही निवासी पीढ़ी दर पीढ़ी रहते चले आते थे। उनका अपने पास के स्थानों के निवासियों से कुछ परिचय भले ही हो जाता था, वे दूर देशों के आदमियों के सम्पर्क में नहीं आते थे। अब वह बात नहीं रही। दूर दूर के देशों की जनता के बीच में उन्हें अलग करने वाली जो दीवारें खड़ी थीं, उन्हें विज्ञान ने बहुत कुछ गिरा दिया है, और अब और भी अधिक तेज़ी से गिरा रहा है। हर देश के थोड़े बहुत आदमी दूसरे देशों में रहते हैं, और वहाँ कितने ही विदेशियों का बहुत कुछ स्थाई निवास हो जाता है। भारतवर्ष की ही बात लीजिये। साधारण वर्षों में यहाँ के बीस पच्चीस लाख आदमी खासकर मलाया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि में रहते हैं, यों तो संसार के सभी प्रमुख भागों में कुछ न कुछ हिन्दुस्तानी मिल जायँगे। इनमें से कुछ को तो विदेशों में रहते पीढ़ियाँ बीत गईं। ये स्वभावतः उन देशों की ही उन्नति और सुख समृद्धि चाहते हैं, और अपनी शक्ति भर उसमें योग देते हैं।

इसी तरह यहाँ भारत में रहने वाले विदेशियों की बात लें। इंगलैण्ड यहाँ से पाँच छः हज़ार मील दूर है, वहाँ के

निवासी अंगरेज़ तो यहाँ के अनेक स्थानों में रहते ही हैं, उनमें से जो इंगलैण्ड की हुकूमत के कारण यहाँ रहते हैं, उनकी बात छोड़ दें,तो कितने ही वैसे भी रहते हैं। फिर बड़े बड़े शहरों—खासकर बम्बई, कलकत्ते और मद्रास आदि में चीन, जापान, इटली, जर्मनी, अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका तक के निवासी रहते पाये जाते हैं। कोई व्यापार धंधा करता है; कोई कल कारखानों में काम करता है, कोई सरकारी या गैरसरकारी नौकरी में है। इनमें से कितने ही आदमियों की कई पीढ़ियाँ यहाँ ही हो चुकी हैं। इनके लिए भारतवर्ष अपने देश सरीखा हो गया है। ये और इनके अपने देशों में रहने वाले भाई-बन्धु आदि भी यह चाहते हैं कि भारतवर्ष में सुख-शान्ति रहे, उपद्रव न हो, अकाल, बाढ़ आदि का संकट न आये। यह कहा जा सकता है कि उनकी इस शुभकामना का बहुत कुछ कारण उनका स्वार्थ है; यहाँ की सुख-समृद्धि में ही उन्हें अपना हित दिखाई देता है। परन्तु इसी बात की ओर तो हम पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं। एक देश के हित में, भिन्न-भिन्न और दूर दूर के देशों के आदमी अपना हित समझें, यह अवश्य ही शुभ भविष्य की सूचना है। आज दिन ऐसे लोग कम हैं तो भविष्य में ये अधिक होते जायँगे। निदान, अब कोई भू भाग, कोई देश बाक़ी संसार से अलग नहीं रह सकता। वैज्ञानिक ईजादों ने दूर दूर के आदमियों का आपसी सम्बन्ध बहुत बढ़ा दिया है। एक देश में होने वाली घटना का असर उसी देश तक सीमित नहीं रहता। अब तो अमरीका में सोने की माँग बढ़ने पर भारतवासी अपने जेवर बेचने लगते हैं। इंगलैण्ड में गेहूँ की खपत ज्यादह होने पर हमारी मंडियों में उसका भाव चढ़ जाता है। ऐसी बातें हम हर रोज देखते हैं।

दूर दूर के आदमियों का ऐसा सम्बन्ध बढ़ने के साथ, किसी तरह की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता बढ़ती गयी, और वह कायम की गई। पिछले सवा सौ वर्ष में इसमें बराबर तरक्की हुई है। सन् १८१५ से पहले कोई ऐसी संस्था न थी, जिसमें अलग-अलग देशों की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार करने के लिए भाग ले सकतीं। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और ऐसी संस्थाओं की स्थापना करनी पड़ी। 'करनी पड़ी' इसलिए कहा जाता है कि ऐसी हर संस्था की स्थापना के लिए यह ज़रूरी था कि जो राज्य उस से सम्बन्ध रखे, वह अपनी थोड़ी बहुत स्वाधीनता का त्याग करे—अपनी कुछ प्रभुता, और अपने कुछ कल्पित 'राष्ट्रीय हितों' का अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए त्याग करे। इसके लिए उसे यह निश्चय हो जाना अत्यन्त आवश्यक था कि उसके अपने क्षेत्र का असली हित-साधन उसी हालत में होगा, जब वह पहले पूरी दुनिया के हित की तरफ ध्यान दे। व्यक्तियों की भांति, संस्थाओं और राज्यों की समझ में यह बातें जल्दी नहीं आतीं कि हमारा हित दूसरों के हित के साथ इस तरह मिला हुआ है कि सब का हित साधन करने से हमारा हित खुदबखुद सिद्ध हो जाता है, और यदि हम में से हरेक केवल अपने स्वार्थ का विचार करता रहे तो किसी का भी असली और स्थायी हित साधन नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करने की जरूरत पहले पहल व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से हुई। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में 'डाक-संघ' (पोस्टल यूनियन) कायम हुआ। इस संघ से जो-जो सुविधाएँ हुईं, उनका अनुमान इस से पहले की परिस्थिति का विचार करने से अच्छी तरह हो सकता है।

पहले हर राज्य डाक का अलग-अलग महसूल ठहराता था, और उस राज्य की सीमा से बाहर जाने वाले खत-पत्रों का महसूल पत्र पाने वालों (विदेशियों) को देना पड़ता था। इस से बड़ी असुविधा और गड़बड़ होती थी। डाक महसूल की दर अलग-अलग रास्तों के अनुसार अलग-अलग थी— जैसे जर्मनी से आस्ट्रिया पत्र भेजने की तीन दर थीं; अमरीका से आस्ट्रेलिया पत्र भेजने में हर आधे औंस वज़न का महसूल किसी रास्ते से पाँच सेंट तो किसी रास्ते से १०२ सेंट तक था। आखिरकार यह असह्य मालूम होने लगा, और बहुत से राष्ट्रों ने मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय डाक की व्यवस्था की।

इसी तरह धीरे-धीरे तार, बे तार के तार, और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध किया गया, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय हित यानी सब देशों की भलाई के सामने परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हितों को दबना पड़ा। सन् १९१३ में इस तरह की ३३ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कायम हो चुकी थीं।

जब कि अलग-अलग देशों की सरकारें इस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बना रही थीं, उन देशों के कुछ नागरिक अपने हितों को मिलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर रहे थे। सब से पहली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस शायद सन १८४० की, लन्दन में होने वाली दासता-विरोधी सभा थी। यह सभा अलग अलग राज्यों के प्रतिनिधियों की नहीं थी, बल्कि उन राष्ट्रों के व्यक्तियों की थी। सन १८४०-४९ में ९ अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ हुईं। अस्सी वर्ष बाद सन् १९२०-२९ में इनकी तादाद लगभग उन्नीस सौ तक पहुँच गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ

इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का कुछ अनुमान, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के काम से हो सकता है। मशीनों और कल कारखानों का प्रचार बढ़ने से उन में काम करने वाले मजदूरों की सुरक्षा का प्रश्न उन्नीसवीं सदी के मध्य में पैदा हो गया था। सन् १६०० में पेरिस में मजदूरों की 'कानूनी हिफ़ाज़त के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सभा' कायम हुई। इसके दो अधिवेशन सन १६०६ और सन् १६१३ में बर्न (स्विटज़रलैण्ड) में हुए। पिछले महायुद्ध (१६१४-१८) के समय इसका काम अस्त व्यस्त हो गया। पर रूस के बोलशेविक आन्दोलन ने मजदूरों के सवाल को महत्व दे दिया। सन् १६१६ में बर्न नगर में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ परिषद् हुई। उसमें यह तय हुआ कि पूँजीपतियों और मजदूरों में सहयोग कायम किया जाय।* वारसाई के सुलह-नामे में मज़दूर संघ का विधान दिया गया और बताया गया कि मजदूरों की हालत बहुत ख़राब और दर्दनाक है और उसमें जल्द सुधार होना ज़रूरी है। सुलहनामे में विविध राष्ट्रों के पथ-प्रदर्शन के लिए नीचे लिखे सिद्धान्त दर्ज किये गये—(१) मजदूरी को बाजारी क्रय विक्रय (खरीद-फरोख्त) की चीज न माना जाय, यानी मजदूर ज्यादह मिलने से फायदा उठाकर मजदूरी कम न दी जाय। (२) मजदूरों और पूँजीपतियों दोनों को वैध आन्दोलन के लिए संगठन करने या संस्थाएँ बनाने का

* श्री० एफ० जी० विल्सन ने लिखा था कि इस संगठन का उद्देश्य शायद यह है कि कुछ थोड़े से ऐसे छोटे मोटे सुधार कर दिये जायँ, जिनसे पूँजीपतियों के खिलाफ सामाजिक क्रान्ति का खतरा जाता रहे।

अधिकार रहे। (३) मजदूरी की दर देश काल और निर्खों के अनुसार काफी रखी जाय। (४) जिन देशों में मजदूरों के लिए आठ घंटे का दिन और ४८ घंटे का सप्ताह नहीं माना जाता, उनमें इसे मनाने की कोशिश की जाय। (५) हर सप्ताह में मजदूरों को एक दिन की छुट्टी मजदूरी (वेतन) समेत दी जाय; वह दिन जहाँ तक हो सके, रविवार हो। (६) छोटे बालकों से मजदूरी का काम कराना बन्द किया जाय; बड़े लड़कों से ऐसा ही काम लिया जाय जिसके उनकी शिक्षा और शारीरिक उन्नति में बाधा न हो। (७) पुरुषों और स्त्रियों को बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी दी जाय। (८) मजदूरों के काम और मजदूरी आदि का जो ढंग कानून से तय हो, वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत हो। (९) हर राष्ट्र अपने यहाँ ऐसा प्रबंध करदे कि ऊपर लिखे सिद्धान्त ठीक-ठीक तौर से अमल में आते हैं या नहीं, इसकी जाँच हुआ करे, और उस जांच में स्त्रियाँ भी भाग लिया करें।

अन्तराष्ट्रीय मजदूर संघ में राष्ट्र-संघ के सदस्य-राष्ट्र तो थे ही, दूसरे राष्ट्र भी उसमें शामिल हो सकते थे। इस संघ के क्षेत्र के विस्तार का कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि इसमें ५६ राष्ट्रों के चार-चार प्रतिनिधि शामिल थे—दो तो हर राष्ट्र की सरकार के, एक वहाँ के पूँजीपतियों का, और एक मजदूरों का। पूँजीपतियों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों को उनकी अपनी संस्थाओं की राय से, वहाँ की सरकार नियुक्त करती थी।

इस संघ की दो संस्थाएँ थीं—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद और अन्तराष्ट्रीय मजदूर कार्यालय। परिषद केवल प्रस्ताव पास करती और सिफारिश करती थी। वह किसी विषय का कानून नहीं बना सकती थी। जिस राज्य की व्यवस्थापक सभा उचित

समझती, वही उस विषय का कानून बनाती थी। परिषद में अंगरेजी और फ्रांसीसी ये दो भाषाएँ वरती जाती थीं। अधिवेशन जेनेवा में होता था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय भी जेनेवा में ही था। यह कार्यालय परिषद के प्रस्तावों पर अमल करता था और परिषद की सिफारिशों को अलग अलग राज्यों की सरकारों से मंजूर कराता था। यह संघ मजदूरों और पूँजीपतियों की अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय-सामाजिक समस्याओं पर भी विचार करता था। संघ के कार्यकारी मंडल के स्थायी सदस्य ऐसे देशों के होते थे, जिनका औद्योगिक महत्व माना जाता था, जैसे बेलजियम, कैनेडा, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैण्ड, जापान, इटली और भारतवर्ष। इस विशाल संस्था का इतना सा परिचय भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का अच्छा सूचक है।

राष्ट्र-संघ का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कार्य

अब हम इसी तरह की एक और संस्था के सम्बन्ध में लिखते हैं, जिसका क्षेत्र इससे भी अधिक फैला हुआ था। यह है राष्ट्र-संघ या 'लीग-आफ-नेशन्स'। इसकी स्थापना जेनेवा में पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १९१९ में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य शान्ति कायम करना या युद्ध निवारण था, पर उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी; यहाँ हम उसके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कार्य पर ही विचार करेंगे। पहले संक्षेप में इसका संगठन जान लेना चाहिये।

इस संस्था के सदस्य वे राष्ट्र होते थे, जो यह प्रतिज्ञा करते थे कि हम बाहरी हमलों से एक दूसरे की र । करेंगे और आपस में, या दूसरे किसी भी राष्ट्र से, युद्ध नहीं करेंगे,

जब तक कि अपने झगड़ों को पंचायत के सामने फैसले या जाँच के लिए न रख लें, और तीन महीने का समय फैसले के लिए न गुजार दें ; जो राष्ट्र अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ेगा वह और सब सदस्य-राष्ट्रों का विरोधी समझा जायगा, और उन सब का यह कर्तव्य होगा कि प्रतिज्ञा भंग करने वाले सदस्य-राष्ट्र से आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दें।

राष्ट्र-संघ की नीचे लिखी तीन समितियाँ थीं—(१) असेम्बली (२) कौंसिल और (३) सेक्रेटेरियट । इन से मिली हुई कुछ विशेष कार्य करने वाली और सलाह देने वाली समितियाँ भी थीं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। असेम्बली के सदस्य वे सब राज्य थे, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य थे। हर सदस्य-राज्य को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था, परन्तु उसका मत एक ही होता था। असेम्बली के अधिवेशन जेनेवा में होते थे; हर साल प्रायः एक अधिवेशन होता था। कौंसिल के कुछ सदस्य स्थायी, और कुछ अस्थायी होते थे। इंगलैण्ड, फ्राँस और इटली आदि स्थायी सदस्य थे, जिनका कभी चुनाव नहीं होता था। इनका प्रभाव भी बहुत अधिक था । कौंसिल के अधिवेशन प्रति वर्ष कम से कम चार होते थे। वह साल भर तक अपना काम कमीशनों और समितियों द्वारा करती थी।

सेक्रेटेरियट कार्यालय के नीचे लिखे १२ विभाग थे—(१) राजनैतिक विभाग, (२) आर्थिक विभाग, (३) रफ्तनी विभाग, (४) प्रबन्ध कमीशन और अल्पसंख्यक विभाग, (५) आदेशयुक्त शासन विभाग, (६) निशस्त्रीकरण विभाग, (७) स्वास्थ्य विभाग, (८) सामाजिक विभाग (९) बौद्धिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय (ब्यूरो) विभाग, (१०) कानून विभाग, (११) सूचना विभाग, (१२) राजस्व विभाग।

इनके अलावा कार्यालय सार-संगह, अनुवाद, प्रकाशन आदि का भी काम करता था।

राष्ट्र-संघ की कई सहायक संस्थाएँ थीं। इनमें से कुछ स्थायी थीं, जो संघ के सब तरह के काम किया करती थीं; और कुछ अस्थायी थीं, जो आवश्यकता होने पर बना ली जाती थीं। ये सहायक संस्थाएँ दो तरह की थीं— (१) खास कामों के लिए विशेषज्ञों की समितियाँ, (२) परामर्श समितियाँ। विशेषज्ञों की समितियाँ तीन थीं—(क) अर्थ और राजस्व समिति (ख) रफ्तनी समिति, और (ग) स्वास्थ्य समिति। अर्थ और राजस्व समिति ने कई ऐसे देशों के आर्थिक पुनर्गठन की योजनाएँ बनायीं, जिनकी आर्थिक साख और मुद्रा यानी टकसाल नीति को पिछले योरपीय महायुद्ध के कारण धक्का लगा था। इसकी योजनाओं के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध किया। मिसाल के तौर पर राष्ट्र-संघ की सहायता से सन् १९२२ में आस्ट्रिया दिवालिया होने से बच गया, उसके बजट का संतुलन हो गया, वहाँ के सिक्कों का मूल्य ठहर गया, बैङ्कों की बचत बीस गुना हो गयी, लोगों के रहन-सहन का खर्च कम हो गया और बेकारी घटकर काबू में आ गयी। सन १९२४ में दूसरे देशों की तरह आस्ट्रिया में भी आर्थिक संकट आया, परन्तु राष्ट्र-संघ की सहायता से वह उसका सामना कर सका। चौदह वर्ष राष्ट्र-संघ द्वारा सूत्र संचालित होने पर सन् १९३६ में आस्ट्रिया ने स्वयं अपना कार्य संभाला और राजस्व का उत्तरदायित्व ग्रहण किया।*

रफ्तनी समिति के सुपुर्द यह काम था कि भिन्न भिन्न देशों के बीच होने वाली रफ्तनी स्वतंत्रता पूर्वक हो सके, और यदि

* A Lasting Peace नाम की पुस्तक के आधार पर।

कोई बाधा हो तो उसके विषय में समिति राष्ट्र-संघ की कौंसिल को परामर्श दे। इस संस्था ने इस विषय की पुरानी संस्थाओं को भी रहने दिया, और उनके कार्य को अधिक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया।

स्वास्थ्य समिति के काम की मिसाल यह है कि इसने एक मलेरिया कमीशन नियुक्त किया था, जो संसार के विविध देशों में जाकर इस रोग की जांच करे. और इस रोग के नष्ट होने के उपाय सुझावे। इस कमीशन के सदस्यों में विविध राष्ट्रों के विशेषज्ञ थे और उन्होंने पैलेस्टाइन, स्पेन, संयुक्त राज्य अमरीका, यूगोस्लेविया, इटली, बलगेरिया, यूनान, रूस और भारत आदि देशों में जाकर वहाँ मलेरिया फैलने की अवस्था, लोगों के रहन सहन, मलेरिया फैलाने वाले मच्छरों की आदतें आदि बातों और इस रोग को न फैलने देने के उपायों पर विचार किया। उनकी इस विषय की रिपोर्ट अनेक जानने योग्य बातों से भरी थी, वह विविध राज्यों के स्वास्थ्य विभागों के अधिकारियों के पास भेजी गयी। इस तरह संसार में फैले हुए इस रोग की रोक और इलाज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मेल जोल बढ़ाने का कार्य किया गया। स्वास्थ्य समिति एक साप्ताहिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती थी; उसमें प्लेग, चेचक आदि के उन रोगियों का ब्योरा रहता था, जो बन्दरगाहों में हों, जहाँ से रोग संसार के विविध देशों में फैल सकते हैं। समिति का एक दफ्तर सिंगापुर में था, जो हर रोज यहाँ से होकर एशियाई बन्दरगाहों में आने वाले यात्रियों की बीमारियों के बारे में बेतार के तार द्वारा समाचार भेजता था।

राष्ट्र-संघ के विशेषज्ञों के काम के उदाहरण-स्वरूप यह कहना है कि उनकी सन् १९३० की कमेटी की रिपोर्ट से चीन की

सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य, रेल सड़क आदि, अर्थ और राजस्व, शिक्षा, और बाढ़ से रक्षा आदि विषयों में लाभ उठाकर अपने देश का बहुत सुधार किया।

राष्ट्र-संघ को परामर्श देने वाली मुख्य मुख्य संस्थाएँ ये थीं— १—निशस्त्रीकरण कमीशन, २—जल-थल-वायु सेना कमीशन, ३—आदेश (मेंडेट) कमीशन। ४—बालकों और लड़कों के स्वास्थ्य और रक्षा सम्बन्धी कमीशन। ५—अफीम और दूसरे विषैले पदार्थों के अनियमित क्रय विक्रय सम्बन्धी कमीशन, ६—सहकारिता कमीशन। ये समितियां अपने अपने विषय की ऐसी सामग्री तैयार करती थीं, जो राजनैतिक संस्थाओं के सामने रखी जा सके।

राष्ट्र-संघ के विधान में कहा गया था कि स्त्रियों और बच्चों की, और अफीम और विषैली चीज़ों की खरीद बिक्री के बारे में राष्ट्रों के बीच जो इकरार हुए हैं, वे कहां तक काम में आते हैं, उसकी जाँच की जाय। राष्ट्र-संघ ने इस जाँच के अलावा गंदे या अश्लील साहित्य को एक देश से दूसरे देश में जाने से रोकने, जहां दास-प्रथा थी उसे बन्द करने, युद्ध के निराश्रित सिपाहियों को सहायता पहुँचाने, और युद्ध के असमर्थ कैदियों को उनके घर पहुँचाने का भी उद्योग किया। अफीम और दूसरी नशीली चीज़ों की ग़ैर-क़ानूनी बिक्री को रोकने के लिए संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय इकरारनामा तैयार किया और उस पर विविध राष्ट्रों की सम्मति और दस्तख़त हासिल करने की कोशिश की।* इसी

---

* राष्ट्र-संघ ने तय किया था कि किसी देश से अफीम की निर्यात उतनी ही हो, जितनी औषधियों के लिये ज़रूरी हो। पहले भारत सरकार बहुत सी अफ़ीम चीन भेजती थी। अफ़ीम सम्बन्धी समझौते पर दस्तख़त करने वालों में भारत-सरकार के भी होने से, यह अनैतिक व्यापार बन्द हो गया।

तरह संघ ने स्त्रियों और बच्चों की ख़रीद बेच को रोकने का उद्योग किया। संघ ने दो कमेटियाँ बनाईं, जिनमें से एक अफ़ीम के यातायात के सम्बन्ध में और दूसरी बच्चों और लड़कों की रक्षा और स्वास्थ्य के विषय में काम करती थी। संघ का सामाजिक विभाग इन दोनो कमेटियों के दफ़्तर का काम करता था।

बौद्धिक सहकारिता कमेटी सन १९२२ में क़ायम हुई थी। यह, बौद्धिक सहकारिता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करती और संसार में बौद्धिक सम्बन्धों की वृद्धि करने का कार्य करती थी। यह स्पष्ट ही है कि विविध राष्ट्रों के विद्वानों के पारस्परिक सम्पर्क से वैज्ञानिक उन्नति और शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण होने में सहायता मिलती है।

राष्ट्र-संघ के काम में दूर दूर के, अलग अलग समाजों के, स्त्री-पुरुष शामिल थे। इनमें राजनीतिज्ञ, मजदूर और वैज्ञानिक सभी तरह के लोग थे। इनकी संस्कृति, रहन सहन आदि अलग अलग तरह के थे। पर सब के मन में एक सीमा तक यह विचार रहता था कि हमें एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने और समझने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसी भावना का हितकर प्रभाव केवल राष्ट्र-संघ के प्रधान कार्यालय तक ही परिमित नहीं रहा, बल्कि दूर दूर के देशों पर भी पड़ा।

ब्राजील के एक विद्वान एम० आर० फ़र्नेंडिस के सन् १९२५ के नीचे लिखे कथन से, राष्ट्र-संघ के महत्व और प्रभाव पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। "अन्याय का निषेध करने, षडयन्त्रों को रोकने, और लोगों की न्यायमूलक माँगों के अनुकूल लोक-मत बनाने के लिए कोई पुस्तक, समाचारपत्र या किसी राजनीतिज्ञ का पत्रव्यवहार उतना काम का नहीं है, जितना

राष्ट्र-संघ की असेम्बली का मंच है। इस मंच पर खड़े होकर जो आदमी व्याख्यान देता है, वह ५५ देशों के प्रतिनिधियों को को लक्ष्य करके बोलता है।......दो सौ से अधिक अखबारों के प्रतिनिधि सङ्घ की असेम्बली में मौजूद थे। उन्होंने जेनेवा के समाचार और टिप्पनियों का, और अपने मन पर पड़ी हुई छाप का, प्रकाशन सभ्य जगत में किया था। बहुत सी शान्ति-संस्थाओं के, खासकर संयुक्त राज्य अमरीका के संवाददाता या प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित हुए थे। गुणों और परिमाण के विचार से, किसी विषय का जितना प्रचार असेम्बली के द्वारा होता है, उतना किसी दूसरी संस्था के द्वारा नहीं हो सकता। और, यह प्रचार लोकतंत्रवादी सरकारों पर लोकमत का प्रभाव डालने के लिए बहुत ही सफल होता है।"

ऊपर के विवेचन से ज़ाहिर है कि खासकर पिछले सौ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। यह सम्बन्ध चाहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का संगठन हो, विविध राज्यों के एक दूसरे से संघर्ष का अन्त हो, और संसार में शान्ति बनी रहे। इस दिशा में हमने कहाँ तक प्रगति की है, इस का विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

—:o:—

दसवां अध्याय

शान्ति के प्रयत्न

शान्ति की विजय युद्ध की विजयों की अपेक्षा अधिक स्थायी और दृढ़ होती है। —एन० एम० कुलकर्णी

प्रिंस पीटर क्रोपोटकिन ने कहा है एक ही युद्ध से, युद्ध के समय और उसके बाद इतनी हानि हो सकती है, जितना सैकड़ों वर्ष के लगातार आपसी मेल मिलाप से लाभ हो। इससे जाहिर है कि युद्ध को बन्द करने और शान्ति बनाये रखने की कितनी जरूरत है। इस अध्याय में हम ऐसे प्रयत्नों के बारे में लिखेंगे, जिनका मुख्य उद्देश्य आपस के लड़ाई झगड़ों को मिटाना रहा है।

बहुत ही पुराने ज़माने की बात छोड़ कर यह तो कहा ही जा सकता है कि अब से ढाई हजार साल पहले यूनान के नगर-राज्यों ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य उनके आपसी युद्धों को रोकना, और यदि युद्ध हो ही जाय तो युद्ध में भी एक निश्चित आचरण को अमल में लाना था। इन यूनानी राज्यों ने एक संधि-पत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक दूसरे के नगरों को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मंदिरों की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचावेंगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नहीं डालेंगे, और, जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे। यह बात बहुत शिक्षाप्रद है कि जब यूनानियों ने अपनी इस प्रतिज्ञा की अवहेलना की, तभी से उनका राजनैतिक और सांस्कृतिक पतन शुरू हो गया।

इसके दो सौ वर्ष बाद बौद्ध सम्राट अशोक एक संस्था के रूप में अनेक राज्यों के सामने आता है, वह दूसरे देशों को जबरदस्ती विजय करने की प्रथा बन्द करता है और स्वयं अपनी मिसाल और अपनी राजकीय आज्ञाओं द्वारा प्रेम, शांति और सहिष्णुता के लिए अपील करता है। उसके एक शिला-लेख का कुछ अंश यह है—"हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उनमें कभी देश विजय की प्रवृत्ति पैदा हो तो वे उसे रोक कर शान्ति और नम्रता में ही आनन्द अनुभव करें और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल (इस लोक और पर-लोक) दोनों में सुख होगा।"

इसके बाद जिसे यूरोप वाले 'मध्य युग' कहते हैं, उसमें वहाँ के ईसाई देश धार्मिक बन्धुत्व मानते थे, यानी यह कि एक धर्म के मानने वाले सब भाई-भाई हैं; और पोप जो कि ईसाई धर्म का सबसे बड़ा आचार्य था, उन सब के झगड़े निपटाया करता था। उसकी मध्यस्थता से कई ऐसे झगड़े शान्त किये गये, जिनसे यूरोप की शान्ति भंग होने की आशंका थी मध्य युग के बाद पुनरुत्थान ('रिनेसाँ')-काल में, यूरोप में धार्मिक भाईचारे का स्थान राष्ट्रीय भावना ने ले लिया। फिर भी वहाँ के विचारशील आदमी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के बारे में विचार करते और लिखते रहें; इनमें डेन्टे, इरेस्मस, ग्रोटस, रूसो, केन्ट और बेन्थम आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

यूरोप के विविध राज्यों का संगठन करने का कुछ विशेष प्रयत्न सन् १८१५ में हुआ। उस समय रूस के ज़ार अलेग्ज़ेन्डर पहले के नेतृत्व में रूस, प्रशिया और अस्ट्रिया के शासकों ने 'पवित्र-सङ्घ' ('होली एलायंस') की योजना की, जिसमें उन्होंने यह प्रतिज्ञा

की कि हम सब ईसाई-धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार राज्य करेंगे, और, आपस में लड़ाई झगड़ा न करेंगे। यह योजना भी वहुत समय तक न चली। वैज्ञानिक साधनों के बढ़ने के साथ साथ वलवान राष्ट्रों की शक्ति और बढ़ गयी, वे निर्वल राष्ट्रों को अपने अधीन करने लगे। संघर्ष बढ़ चला। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी यूरोप में वहुत समय तक घातक युद्ध हुए। युद्ध की आशका हर समय बनी रहने लगी।

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि पिछली सदी के युद्ध अधिकतर 'शक्ति-संतुलन' क़ायम रखने के बहाने लड़े गये। यूरोप की राजनीति का एक मुख्य सिद्धान्त 'शक्ति-संतुलन' रहा। एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण राज्य गुप्त संधियाँ और गुटबन्दी करते रहे। हर पक्ष ने यह कोशिश की कि उसकी शक्ति विरोधी पक्ष से किसी तरह कम न रहे, यदि उससे अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य हो। इसे ही 'शक्ति-संतुलन' नीति कहा गया है। प्रसिद्ध लेखक नार्मन एञ्जल ने एक लेख में कहा था—'हमारे (अँगरेजों के) हित प्रत्यक्ष रूप से यूरोप में नहीं है, वे समुद्र पार के देशों में हैं। उन हितों को हम उसी समय तक सुरक्षित रख सकते हैं, जब तक यूरोप के किसी एक राज्य की शक्ति दूसरे राज्य की शक्ति से बढ़ने न पावे। परन्तु यदि यूरोप का कोई राज्य—नेपोलियन के अधीन फ्रांस या क़ैसर विलयम के अधीन जर्मनी—यूरोप के अन्दर की प्रतिद्वन्द्विता से इतना मुक्त हो जाय कि वह निर्विघ्न अपनी सारी शक्ति हमारे विरुद्ध लगा सके तो संतुलन सिद्धान्त के अनुसार हमारे संसार भर में फैले हुए समुद्र पार के उपनिवेशों की रक्षा खतरे में पड़ जायगी।'

शक्ति-संतुलन सिद्धान्त का यह आधार कैसा कमज़ोर है,

यह सहज ही समझ में आ सकता है। स्वार्थ, आशंका, भय, और अविश्वास उसकी जड़ में है। ऐसे कमज़ोर आधार पर शान्ति बनाये रखने की आशा दुराशा मात्र है।

आखिरकार, युद्धों की वृद्धि और विनाशकता ने जनता की नींद हराम कर दी। विचारवान आदमी युद्धों को समाप्त करने, और यदि ये समाप्त न हों तो कम से कम इन्हें घटाने या नियन्त्रित करने के उपाय सोचने लगे। महाकवि टेनिसन ने लोगों के सामने उस उज्ज्वल भविष्य का चित्र पेश किया, 'जब लड़ाई का बाजा बजना बन्द हो जायगा, युद्ध-पताकाएँ लपेट दी जायँगी, और मनुष्य मात्र की पार्लिमेंट और संसार भर का सङ्घ क़ायम होगा।'

विश्व-शन्ति और आपसी समझौतों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सभा सम्मेलनों की धूम मच गयी। उनकी तादाद बराबर बढ़ती गई। उनमें खास महत्व की वे अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सें हैं, जो सन १८९९ और १९०७ में हालैण्ड के हेग नगर में हुईं। उन दोनों को 'मानव जाति की पार्लिमेंट' कहा गया है। उनकी योजना के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती न्यायालय कायम किया गया, जिस में सब राज्य अपने विवादग्रस्त मामले पेश कर सकते थे। शुरू में इस न्यायालय ने राज्यों के बहुत से मामले तय किये और इस का फैसला उन राज्यों ने माना। पर इस न्यायालय की उन्नति बहुत सन्तोषप्रद न रही।

पहले यूरोपीय महायुद्ध के बाद राष्ट्र-सङ्घ के द्वारा सन १९२२ में हेग नगर में ही एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ। इसे 'स्थायी' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह हमेशा काम करने के लिए था। इससे पहले का न्यायालय हर बार ज़रूरत पड़ने पर नये जज चुनकर बना लिया जाता था। स्थायी

न्यायालय के दो काम थे—दो या अधिक राज्यों के बीच का जो झगड़ा सामने आवे, उसका फैसला करना, और राष्ट्र-सङ्घ समय समय पर जो विषय उसके सुपुर्द करे, उस पर सलाह देते रहना। इसका फैसला मानना उन्हीं राज्यों का फर्ज होता था, जिनमें झगड़ा होता था; दूसरे राज्यों या दूसरे विषयों पर इसका कोई बन्धन न था, हाँ इसके फैसले आखरी होते थे, उनकी कहीं अपील न थी।

राष्ट्र-संघ का काम

अब हम १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सब से बड़ी कोशिश का कुछ विस्तार से जिक्र करते हैं, जिससे मालूम हो जाय कि इस काम में कहाँ तक तरक्की हुई, और क्या कमी रही। यह कोशिश राष्ट्र-संघ नाम की संस्था द्वारा की गयी, जो सन् १९१९ में कायम हुई। इस का संगठन पहले बताया जा चुका है। इसने तय किया कि हर राष्ट्र की परिस्थिति और भौगोलिक अवस्था की जाँच करके उसके शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटाने की योजना तैयार की जाय। ऐसी योजनाओं पर, हर दसवें वर्ष फिर विचार किया जाय और उनका संशोधन किया जाय। इस निशस्त्रीकरण के साथ-साथ बीच-बचाव और सब की रक्षा के प्रश्न का भी सम्बन्ध था। बीच-बचाव का अर्थ है, शान्ति के साथ आपसी कलह मिटाना, जिससे भविष्य में युद्ध के साधनों की ज़रूरत ही न रहे। हर राष्ट्र की रक्षा दूसरे राष्ट्रों के शान्तिमय विचारों पर निर्भर होती है, इसलिए राष्ट्र-संघ की यह कोशिश थी कि सब राष्ट्र एक साथ तय की हुई योजना के अनुसार अपने-अपने शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटा कर रखें।

राष्ट्र-संघ की एक परामर्श-समिति इस काम के लिए थी कि जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करके कौंसिल को रिपोर्ट और सलाह दिया करे।

शुरू में राष्ट्र-संघ का अलग-अलग राज्यों पर अच्छा असर पड़ा। उसने उनके कई आपसी झगड़े तय किये, जिनमें पन्द्रह बीस काफी गहरे थे। एक मिसाल यहाँ दी जाती है। अक्तूबर १६२५ में बलगेरिया राज्य की सीमा पर एक यूनानी संतरी को गोली मार दी गयी। तीन दिन में यूनान की सेना ने बलगेरिया पर चढ़ाई करदी। इस मौके पर राष्ट्र-संघ ने तुरन्त दखल देकर आक्रमण रोक दिया। साथ ही राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने सर एच० रम्बोल्ड की अध्यक्षता में एक निस्पक्ष कमीशन इस लिए भेजा कि मौका देखकर झगड़े का मूल कारण मालूम करे, इस बात की जाँच करे कि दोष किस का है, और ऐसी घटना फिर कभी न होने पावे, इस के लिए उपाय सुझावे। यह काम बिना हिचक के किया गया। जब फिर कौंसिल की मीटिंग दिसम्बर में हुई, तो यूनान ने हर्जाने के तौर पर पैंतालीस हजार पौंड देना मंजूर किया और दोनों राज्यों की सरकारों ने भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के सम्बन्ध में राष्ट्र-संघ की योजना मान ली।

इस तरह संघ को शुरू में खासी सफलता मिली। पर पीछे यह बात न रही। सन् १६२६ में संसार में आर्थिक संकट हुआ, तो सब राष्ट्र अपनी-अपनी घरू समस्याओं में लग गये, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, खासकर जब कि झगड़े यूरोप से बाहर के थे। सितम्बर १६३१ की एक बात लें। जापानी सेना ने चीन के मंचूरिया प्रान्त के मकदन नगर पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। इस

पर संघ की कौंसिल की बैठक में चीन के प्रतिनिधि ने जाँच कमीशन नियुक्त किये जाने का आग्रह किया। जापानी प्रतिनिधि इसके खिलाफ था; अमरीका ने भी कमीशन में भाग लेना पसन्द नहीं किया। इस लिए राष्ट्र-संघ ने इस मामले में पड़ने से इनकार कर दिया। जापान का हमला बढ़ता गया। आखिर जैसे तैसे कमीशन मुकर्रर हुआ, और उसने अपनी रिपोर्ट दी। समझौते की कोशिश की गई। जापान की सरकार ने कमीशन की तजवीजें मन्जूर न कीं, और अन्त में मार्च १९३३ को जापान ने राष्ट्र-संघ से त्यागपत्र देकर अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

राष्ट्र-संघ इस मामले में बुरी तरह असफल रहा। इस का कारण उसके स्थायी सदस्यों की कूटनीति और अपने अपने स्वार्थों की चिन्ता थी। अगर वे दृढ़ता के साथ शान्ति का प्रयत्न करते तो अकेला जापान उनके विरोध करने का तो क्या, उन्हें अप्रसन्न करने का भी साहस न कर सकता। 'यदि तोकियो (जापान) से राष्ट्र-संघ के बाकी सब सदस्य अपने-अपने राजदूतों और मंत्रियो को बुला लेते तो जापानी सरकार तुरन्त ही अपने युद्धवादियों को दबा देती। यदि जापानी युद्धवादियों को यह मालूम हो जाता कि युद्ध के लिए उनको दूसरे देशों से अस्त्र-शस्त्र और पेट्रोल आदि न मिलेंगे तो वे कभी भी रणभूमि में कदम न रखते। अगर जापान का माल दूसरे देशों में न लिया जाता तो जापान का 'येन' सिक्का इतनी जल्दी गिर जाता कि आर्थिक कारणों से ही जापान को शीघ्र युद्ध बन्द कर देना पड़ता। इसमें भी कुछ शक नहीं कि अगर ग्रेट ब्रिटेन ने ही इन साधनों में से किसी का उपयोग किया होता तो सारा संसार उसका साथ देता।'

राष्ट्र-संघ की शिथिलता से और उसके मेम्बरों की अनुदारता और तुच्छ स्वार्थपरता से जापान को अन्तर्राष्ट्रीय हित के विरुद्ध काम करने की हिम्मत हुई. इससे चीन को तो नुकसान पहुँचा ही, राष्ट्र-संघ के आदर्शों और उद्देश्यों को भी गहरा धक्का पहुँचा ; निशस्त्रीकरण परिषद् का काम पहले भी ईमानदारी से नहीं हो रहा था, अब तो वह परिषद् निर्जीव ही हो गई। उसमें हिस्सा लेने वाले राज्यों ने अपने शस्त्रास्त्र या हथियार कम करने की नीति छोड़ दी। जापान की मिसाल से इटली का भी हौसला बढ़ा, उसने अबीसीनिया यानी इथियोपिया को धर दबाया। राष्ट्र-सङ्घ के ढीलेपन और निकम्मेपन ने ही जर्मनी में हिटलर की शक्ति बढ़ाई। यूरोप में अनेक उलटफेर हुए, जिनका आखरी नतीजा इस समय का महायुद्ध है, जो १९३९ में शुरू हुआ। इस तरह राष्ट्र-सङ्घ की विफलता की जिम्मेवारी उन राष्ट्रों पर है, जिन्होंने अपनी कायरता या खुदगरजी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम न लिया, और विश्व-शान्ति के लिए अपनी ताक़त और अपने असर का उपयोग न किया।

कुछ लोगों की राय है कि राष्ट्र-सङ्घ के पास अन्तर्राष्ट्रीय सेना ज़रूर होनी चाहिए थी। यह सेना फ्रांस की विदेशी सेना के ढंग पर होती। * अगर राष्ट्र-संघ के पास काफी सेना होती

* फ्रांस की विदेशी सेना में संसार के प्राय सभी जातियो या राष्ट्रों के लोग शामिल थे, उसके अफसरो में एस्किमो, इटेलियन, अंग्रेज, जुलू, ईरानी और चीनी भी थे। अलग-अलग जातियों या राष्ट्रों के लोगों के मेल से उनके जीवन पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता था; उसके सैनिकों में झगड़े बहुत कम होते थे। वह सब तरह के अस्त्र शस्त्रों से लैस थी, उसे बिल्कुल आधुनिक ढंग की युद्ध-शिक्षा दी जाती थी, और धीरे-धीरे फ्रांसीसी भाषा सिखायी जाती थी।

तो सङ्घ अलग अलग राज्यों के आपस में लड़ने का मौका न आने देता और संसार में शान्ति बनाये रखने में सफल होता। लेकिन ये लोग भूल जाते हैं कि राष्ट्र-संघ में कुछ इने गिने बहुत बलवान राष्ट्रों का बोलबाला था। अगर राष्ट्र-संघ की मातहती में बहुत सेना रहती तो वह उन राष्ट्रों के ही इशारे पर तो काम करती।

कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि राष्ट्र-संघ की विफलता का कारण उसके विधान यानी नियमों की खराबी थी। परन्तु असली बात यह है कि संघ के सदस्यों में सचाई, हिम्मत, दूसरों की भलाई का ख्याल, और अपने उद्देश्य के लिये कष्ट सहने और और त्याग करने की भावना होती तो उनकी संस्था, विधान में दोष होते हुए भी सफलता के साथ काम करती रहती। जब सदस्यों में इन गुणों का अभाव या इनकी कमी होती है तो संस्था का काम कभी ठीक-ठीक नहीं चल सकता और वे विधान की बारीकियों में उलझ जाते हैं, और अपनी विफलता का दोष विधान पर मढ़ा करते हैं। राष्ट्र-संघ का विधान बड़े-बड़े राष्ट्रों ने बनाया था, यदि उनमें अपने उद्देश्य के लिए लगन होती, यदि वे सबके भले की भावना से प्रेरित रहे होते, यदि वे विश्व-शांति के प्रश्न को उतना ही महत्व देते जितना अपने-अपने राष्ट्रों की रक्षा को, और उसके लिए काफी जोखम उठाने तैयार रहते तो राष्ट्र-संघ को यह दुर्दिन देखने का मौका न आता; राष्ट्र-संघ जिन्दा रहता और जरूरत के मुताबिक वह अपने विधान में भी परिवर्तन कर लेता। जीवित संस्थाएँ अपने विधान में देश और काल के अनुसार सुधार किया ही करती है।

जो हो, संघ की विफलता का दोष उसके विधान पर मढ़ना उचित नहीं है। संघ का संगठन ही ठीक नहीं था। कहने को तो

उसका दरवाजा संसार भर के राज्यों के लिए खुला हुआ था, पर असल में उसकी बागडोर कुछ बड़े-बड़े राज्यों के हाथ में थी, जिन्होंने अनेक भू-भागों को अपने अधीन कर रखा था, और जो पहले महायुद्ध के बाद की संधि से अपना साम्राज्य और प्रभुता खूब अधिक बढ़ा चुके थे। ये राज्य अपने अधीन प्रदेशों को आजाद करने के लिए तैयार न थे। इनमें त्याग की वह भावना ही न थी जो विश्व-शान्ति की चिन्ता करने वालों में होनी बहुत जरूरी होती है। वे कहीं सभ्यता फैलाने के नाम से, कहीं दूसरों को शासन-कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, कहीं निर्बलों या अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की आड़ में, असंगठित या पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन रखकर उनकी पैदावार या सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते थे। उनमें से कुछ को ये अपना अधीन देश न कहकर राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार शासित ('मेंडेटेड')* या रक्षित प्रदेश आदि नामों से पुकारते थे। पर इससे उनकी हालत में खास फरक नहीं पड़ता।

अब राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण यानी सेना आदि घटाने की नीति का विचार करें। बड़े-बड़े राज्यों ने सिद्धान्त रूप में तो निशस्त्रीकरण को पसन्द कर लिया, पर जब अमल करने की बात आयी तो उन्होंने अपने-अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र घटाये नहीं। इसके खिलाफ, न केवल राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्य ही, बल्कि वे

* पहले महायुद्ध के बाद जो रंगदार जातियों के देश विजेताओं को मिले, उन्हें आज़ादी के अयोग्य समझा गया, और तजरुबेकार और उन्नत राष्ट्रों की शागिर्दी में रखा गया। ये राष्ट्र उन देशों का शासन राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार करते थे, फिर भी उनका दमन और शोषण बहुत कुछ अपने अधीन देशों की तरह ही करते थे।

राज्य भी जिनका संघ के संगठन में खासा हिस्सा था, आत्म-रक्षा या तिजारत आदि के बहाने, या गुप्त रूप से, अपनी अपनी फौज और हथियार बढ़ाने का चिन्ता करते रहे। निशस्त्रीकरण-सम्मेलनों का कोई नतीजा नहीं निकला। हर साम्राज्यवादी राष्ट्र ने अधिक से अधिक सैनिक शक्ति रखना जरूरी और अनिवार्य समझा। उन्हों ने यह कहना शुरू कर दिया कि "जब तक रक्षा का पूरा इन्तजाम न हो, निशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।"

अगर सोचा जाय तो शान्ति कायम करने के लिए असली समस्या निशस्त्रीकरण नहीं है। यह तो रोग का बाहरी उपचार मात्र है, जिसका फल अधूरा और क्षणिक ही हो सकता है। शस्त्रास्त्र तो एक उद्देश्य को पूरा करने के साधन हैं, वह उद्देश्य है स्वार्थसाधन, पूँजीवाद और साम्राज्य-पिपासा। जब तक राष्ट्रों में स्वार्थ-त्याग, और सब के भले को देखने की भावना न हो, तब तक शस्त्रास्त्रों के कम करने से या ज्यादह घातक शस्त्रों की जगह कम घातक शस्त्र रखने मात्र से शान्ति कायम करने का काम नहीं हो सकता। सब से बड़ी जरूरत है, जनता में शान्ति और प्रेम के भावों के प्रचार की, अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे के सम्बन्ध में लोकमत जागृत करने की। श्री० चियांग काई शेक ने ठीक कहा है कि 'अगर आदमी अपनी बुद्धि और अपने चरित्र-बल को युद्ध को रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बन्दूक से लड़ाई लड़ने में कोई खास फरक नहीं है।' जब तक आदमी अपनी युद्ध-मनोवृति पर अंकुश न रखें, तब तक वे चाहे जिस हथियार से काम चला सकते हैं, और यदि कोई भी हथियार न मिले तो घूँसे, मुक्के, दांत और नख आदि से ही अपनी हिन्सक भावना का सबूत दे सकते हैं, जैसा कि

प्राचीन काल में किया करते थे। अब आदमी के अधिक बुद्धिमान और वैज्ञानिक हो जाने से उसने जन-संहार के तरीकों में भी उन्नति कर ली है। बुद्धि और विज्ञान का यह दुरुपयोग ही है। जरूरत है कि आदमी इनके सदुपयोग की तरफ ध्यान दे, और इन्हें मानव समाज की सेवा और सहायता में लगावे, स्वार्थ साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का अन्त किया जाय, और हर देश को पूरी आर्थिक और राजनैतिक आजादी दी जावे।

सारांश यह कि राष्ट्र-संघ के द्वारा शान्ति कायम करने के सम्बन्ध में मानव जाति का जैसा हित होना चाहिए था, न हुआ। राष्ट्र-संघ की कमजोरियों ने दूसरे महायुद्ध का मौका पैदा कर दिया, जिसमें इस संस्था का ही अन्त हो गया। इस पर भी राष्ट्र-संघ सोचने के लिए अच्छी सामग्री छोड़ गया। अब जो संस्थाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके उद्देश्य को पूरा करने की जिम्मेवारी लें, वे उसके जीवन और कार्यों से अच्छी शिक्षा ले सकती हैं। एक खास शिक्षा यह है कि कोई भी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-रोग का इलाज नहीं कर सकती, जब तक सब राष्ट्र आपस में बराबरी और भाईचारे का परिचय न दें; और जनताओं में ऊंच-नीच गोरे काले, यूरोपीय, एशियाई, अफ्रीकी, अमरीकी आदि का भेद भाव दूर होकर प्रेम और सहानुभूति की भावना न जागे। सबराष्ट्रों को स्वार्थ और संकीर्णता छोड़ने में देर लगेगी, पर यह बात नामुमकिन नहीं है, और हमें उस दिशा में आगे बढ़ते रहना चाहिये।

—:o:—

ग्यारहवाँ अध्याय

नयी व्यवस्था

यह बात पत्थर की लकीर है कि दुनिया के किसी हिस्से में भी तब तक शान्ति नहीं रहेगी, जब तक दुनिया के सभी हिस्सों में शान्ति की नींव मजबूत नहीं होती। —*विंडेल विल्की*

शान्ति की बारबार कोशिशें होने पर भी अभी तक शान्ति कायम नहीं हुई। राजनीतिज्ञ और दूसरे विचारक जगह जगह यह सोच रहे हैं कि भविष्य के लिए कैसी व्यवस्था करनी चाहिए। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सब तरह की समस्याएँ हमारे सामने हैं, जिनके हल करने की ज़रूरत है। योजनाएँ बनाने वाले बहुत हैं, और नित्य नई योजनाएँ सामने आती रहती हैं। उन सब पर विचार करने की यहाँ गुँजायश नहीं है। कुछ खास खास बातों पर विचार करना हमारे लिए काफी होगा।

मोटे तौर पर दो तरह की योजनाएँ बनती हैं—(१) किसी एक ख़ास राष्ट्र के लिए, और (२) सारी दुनिया के लिए। इनमें से पहली तरह की योजना की मिसाल श्री० विलयम विवरेज की योजना है, जो इंगलैण्ड के लिए बनायी गई है। इसमें तीन मुख्य बातें हैं—(१) बच्चों के लिए अलाउंस, (२) सारी जनता के स्वास्थ्य की व्यवस्था, और (३) सब के लिए रोजगार का स्थायी इन्तजाम। इन तीन बातों में सब से प्रमुख तीसरी है। बात यह है कि इंगलैण्ड और दूसरे लड़ने वाले देशों में तरह तरह के नये उद्योग धन्धे शुरू हुए हैं, नये कारखाने खुले

हैं, नये सरकारी दफ्तर कायम हुए हैं। इन कामों से पहले की बेकारी बहुत कुछ दूर हो गयी है। अगर युद्ध के बाद शान्ति के समय में भी लोगों का रोज़गार इसी तरह कायम रखा जा सके तो बेकारी का, और उससे पैदा होने वाला दूसरा संकट टाला जा सकता है। रोज़गार बनाये रखने का उपाय यही है कि युद्ध के बाद भी ये सब कारखाने चलते रहें और दूसरे नये उद्योग धन्धों का काम शुरू किया जाय। उस समय कारखानों से सामान बहुत कुछ दूसरी तरह का बनवाना होगा।

इस योजना को अमल में लाने के लिए धन की बहुत ज़रूरत होगी। यह रकम सामाजिक बीमे के रूप में सारे राष्ट्र से जमा की जायगी। हर आदमी को अपनी बेकारी और जीवन रक्षा के लिए बीमा कराना होगा। यह तो जाहिर ही है कि इस योजना से किसी बेकार को जो रकम मिलेगी वह उसकी सब ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकती, वह उसे ज़िन्दा भले ही रख सके। इसलिए इस बात की ज़रूरत है कि सरकार साफ साफ ऐलान कर दे कि जहाँ तक हो सकेगा वह हर आदमी को कोई न कोई रोज़गार दिलाने की पूरी कोशिश करेगी, चाहे हर आदमी के हर समय रोज़गार में लगे रहने की गारन्टी न भी कर सके। इस योजना का लक्ष्य यह है कि राष्ट्र की सारी आमदनी को सन्तोषजनक ढङ्ग से बाँटा जा सके, इस बात का ध्यान रखा जाय कि जीवन-निर्वाह के लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत है, वे सब समय सब परिवारों को मिलती रहें, ऐश आराम की चीज़ों का विचार पीछे किया जाय। इस योजना का लाभ तभी है जब कि उत्पादक उद्योगों के द्वारा सारे राष्ट्र की कुल सम्पत्ति को बढ़ाया जाय, और सरकार तथा व्यवसाइयों का आपस में गहरा सहयोग हो।

इस तरह की योजनाएँ अमरीका आदि दूसरे औद्योगिक और पूंजीवादी देशों में भी बनी हैं। इनके बनाने वालों को अपने-अपने देश के भविष्य की चिन्ता है। ये चाहते हैं कि अपनी-अपनी वर्तमान समृद्धि बनाये रखें, अपने यहाँ की जनता के रहन सहन का धरातल जहाँ तक हो सके ऊंचा रखें और युद्ध के बाद जितना भी माल इनके यहाँ बने वह दूसरों देशों में बिकता रहे। इस तरह इन योजनाओं में दूसरे देशों के फायदे नुकसान का कोई विचार नहीं किया गया; ये राष्ट्रीय हैं, अन्तरराष्ट्रीय नहीं। *

अब दूसरी तरह की योजनाओं के बारे में विचार करें।

जुलाई १९४१ में अमरीका के प्रेसीडेंट रूजवेल्ट और इङ्गलैण्ड के प्रधान मंत्री चर्चिल ने एक ऐलान किया था, जो 'एटलांटिक चार्टर' के नाम से मशहूर है। इस चारटर में महायुद्ध का उद्देश्य संसार की स्थायी शान्ति के लिए दुनिया भर में लोकतंत्र शासन प्रणाली को फिर से कायम करना और रक्षा करना बतलाया गया था और कहा गया था—'हम हर देश के लोगों के इस अधिकार को मानते हैं कि वे ही अपने यहाँ की सरकार के स्वरूप का फैसला करें, और हम चाहते हैं कि जिन कौमों से उनका यह अधिकार और उनकी आजादी जबरदस्ती छीन ली गयी है, उन्हें ये वापिस मिलने का इन्तजाम

---

* भारतवर्ष में भी योजनाएँ बनी हैं, जिनका उद्देश्य जनता की आमदनी बढ़ाना और रहन सहन के दर्जे को ऊँचा करना बताया गया है; लेकिन इस देश के पराधीन रहने और यहाँ राष्ट्रीय सरकार कायम न होने तक ऐसी योजनाएँ कुछ महत्व नहीं रखतीं।

हो जाय।' ये शब्द कितने आकर्षक हैं! पर ये कितने कूटनीति से भरे हुए हैं! इनमें सब देशों को नहीं, केवल उन्हीं देशों को आज़ाद करने की बात कही गयी, हैं, जिन पर (दूसरे) महायुद्ध जर्मनी और जापान आदि ने अधिकार कर लिया है। इन देशों के दो हिस्से किये जा सकते हैं—पूर्वी और पच्छमी। पच्छमी देशों के निवासी गोरे लोग हैं, उन्हें तो आजाद कर ही दिया जायगा। सवाल है, पूर्वी देशों का—बर्मा, श्याम, इंडोचीन आदि का, और फिलीपाइन जैसे बहुत से टापुओं का। इन्हें फिर से लेने की बात तो कही जाती है, पर आजाद करने की नहीं। कौन जाने, ये प्रदेश कुछ समय के लिए शत्रु द्वारा ही आज़ाद किये जायँ!

'अटलांटिक चारटर' की दूसरी बात लीजिए। इस चारटर में यह नहीं बताया गया कि जिन देशों की आजादी इस महायुद्ध से पहले ही इङ्गलैंड ने छीन ली थी, और जो इस समय इङ्गलैंड ही के अधीन हैं, उनका भविष्य में क्या होगा। जब इस विषय की आलोचना की जाने लगी तो इंगलैण्ड के डिप्टी प्रधान मंत्री मेजर एटली ने यह कह कर लोगों को चुप किया कि "पार्लिमेंट के मजदूर दल के सदस्यों का सदा यह कहना रहा है कि जिस तरह की आज़ादी हम चाहते हैं, उसी तरह की आज़ादी का अधिकार सबको होना चाहिए; और चारटर की शर्तों को सब कौमों के लोगों के लिए—जिनमें एशिया और अफ्रीका के निवासी भी शामिल हैं—समान रूप से अमल में लाया जायगा।"

मेजर एटली के ये शब्द हवा में गूंज ही रहे थे कि श्री० चर्चिल ने पार्लिमेंट के सामने युद्ध की हालत बताते हुए साफ कह दिया कि इंगलैण्ड और अमरीका की सरकारों ने मिल

कर जो ऐलान किया है, वह भारत, बर्मा, और ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे देशों के लिए किसी भी रूप में लागू न होगा।

इस तरह श्री० चर्चिल ने, जहाँ तक भारत और बर्मा आदि का सम्बन्ध था, अटलांटिक चारटर की अन्त्येष्टि कर डाली। ज़ाहिर है कि आज कल के साम्राज्य-प्रेमी देश अपने साम्राज्य के अधीन देशों को आज़ाद होने का उस समय तक अवसर न देंगे, जब तक कि परिस्थितियाँ उन्हें मजबूर न करदें। यह भावी सुव्यवस्था के मार्ग में सब से बड़ी रुकावट है।

प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने इस (दूसरे) महायुद्ध के बाद की विश्व-व्यवस्था का आधार चार तरह की आज़ादी मानी है—अभाव से आज़ादी (खाने-पीने की चीज़ों और रहने की आज़ादी) डर से आज़ादी, बोलने की आज़ादी और धार्मिक आज़ादी। इस में सीधे शब्दों में राजनैतिक और आर्थिक आज़ादी की बात नहीं कही गयी। राजनीतिज्ञ लोग कूटनीति की और गोलमोल भाषा का उपयोग करते है, जिसके अर्थ का वे जब चाहें अनर्थ कर सकें। इसीलिए चार आज़ादियों के नये और मोहक शब्दों का जाल फैलाया गया है।

सन् १९४३ के अन्त में तेहरान में अमरीका, इंगलैण्ड, और रूस के सूत्रधारों का एक सम्मेलन हुआ था। उसके बाद प्रेसीडेंट रूजवेल्ट, मि० चर्चिल, और मो० स्टेलिन की तरफ से ऐलान किया गया कि युद्ध के बाद ऐसी शान्ति कायम करने की बात सोची गयी है, जो संसार के सभी देशों को पसन्द आवेगी, इससे सब देशों के आदमी आज़ाद ज़िन्दगी बसर कर सकेंगे। यह ऐलान एटलांटिक चारटर से मिलता हुआ है, इसे मो० स्टेलिन ने भी समर्थन किया है। लेकिन एटलांटिक चारटर के अन्दर भारतवर्ष जैसे पूर्वी देशों को शामिल करने से

मि० चर्चिल ने इनकार कर दिया था, क्या तेहरान के ऐलान का भी यही मतलब लिया जायगा ? ज़ाहिर है कि यूरोपियन क़ौमों का संसार से मतलब अक्सर केवल यूरोप से ही होता है।

संसार में अव्यवस्था और अशान्ति का खास कारण यह है कि क़ौमों क़ौमों में राजनैतिक और आर्थिक विषमता है, और हर ताकतवर क़ौम अधिक से अधिक ज़मीन पर अधिकार जमाना चाहती है। यदि बड़े और ताकतवर राष्ट्र भी अपने देश के बाहर किसी ज़मीन को अपने अधीन करना छोड़ दें, और जो देश इस समय उनके अधीन हैं, उन सब को आज़ाद कर दें, और, सब लोग अपने अपने देश में अपनी इच्छानुसार आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था करने लगें तो अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का अन्त हो जाय। आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर देश के निवासी भोजन वस्त्र की आवश्यक सामग्री हासिल कर सकें। सब के रहने के लिए स्वास्थ्यप्रद घर हों, किसी को बीमारी के समय ठीक ठीक दवा और इलाज की कमी न रहे, सब बालक और बड़े यथा योग्य शिक्षा पा सकें। राष्ट्र के लिए अपना अपना या अपने समूह का स्वार्थ सिद्ध करने की भावना विनाशकारी है। सब का हित करने में ही सब का भला है।

विश्व-व्यवस्था के लिए ज़रूरी है कि आदमियों के और राज्य के आपसी व्यवहार में सहयोग और सद्भावना हो। परिवारों में, गाँव और नगरों में, क़ौमों में और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब जगह शान्ति और प्रेम हो। इसके वास्ते विचार करने और अमल में लाने की कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं—

१—हम हर घड़ी यह अनुभव करें कि हम सब भाई भाई हैं; इसलिए वर्ण, रंग, जाति, धर्म आदि का भेदभाव मानना अनुचित है।

२—किसी आदमी को अपना दास या सेवक मानना अनुचित है; इसी तरह एक जाति या देश को किसी भी बहाने से अपने अधीन करना पाप या गुनाह है—अक्षम्य है।

३—हर आदमी और हर जाति को आज़ादी का हक़ है—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी तरह की।

४—हर आदमी और हर जाति का कर्तव्य है कि वह दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसे वह चाहती है कि दूसरे उसके साथ करें।

दूसरा खंड
रास्ते की बाधाएँ

बारहवाँ अध्याय
यात्रा का अनुभव

पिछले खंड में इस बात पर विचार किया गया है कि अब तक कितनी यात्रा तय हो चुकी है, किन किन मंज़िलों में से होकर हम कहाँ तक पहुँचे हैं। हमने देखा कि मनुष्य में सामाजिक भावना का धीरे धीरे विकास हुआ। उसने परिवार बनाया। परिवारों का कबीला या जाति बनी। एक अधिक कबीलों या जातियों के आदमी टिक कर किसी गाँव या नगर में बसे। नगर-राज्यों का निर्माण हुआ। नगर-राज्यों से बढ़ कर, या कई-कई नगर-राज्यों का मिल कर एक राष्ट्र-राज्य हुआ। राष्ट्र-राज्य ने दूसरे राज्यों के साथ मिल कर संघ-राज्यों का निर्माण किया। इस तरह समय समय पर कई तरह के संगठन हुए। इस समय दुनिया में में बहुत से राष्ट्र-राज्य और संघ-राज्य, और कुछ इन राज्यों के अधीन, पराधीन देश हैं। कहीं कहीं पुराने ढंग के संगठन—कबीले या नगर-राज्य के भी नमूने मौजूद हैं। अलग अलग राज्यों में एक दूसरे से सम्बन्ध बढ़ता रहा है; अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ रहा है। फिर भी संसार में शान्ति नहीं है। नयी नयी

तजवीजें सोची जा रही हैं, लेकिन कलह और लड़ाई जगड़ा बना ही रहता है। ज़ाहिर है कि आजकल की व्यवस्था संतोष-जनक नहीं है। मनुष्य की यात्रा अभी पूरी नहीं हुई; उसे और आगे बढ़ना, और बेहतर संगठन करना है।

अच्छा होगा कि अब ज़रा यह विचार कर लिया जाय कि इस समय तक की यात्रा में क्या क्या अनुभव हुए। हमारे रास्ते में कौन कौन सी बाधाएँ या रुकावटें आयीं। अगर हम इन बाधाओं को जानलें तो आगे यात्रा करने में अधिक सावधान रह सकते हैं। इससे हमारा काम कुछ आसान हो जायगा, और हमें जहाँ पहुँचना है, वहाँ जल्दी पहुँच जायँगे; क्योंकि आदमी में यह योग्यता है कि वह अपनी पिछली भूलों से लाभ उठा सकता है, और आगे का कार्यक्रम पूरा करने के लिए ज्यादह तैयार हो सकता है।

हर यात्रा में बाधाएँ दो तरह की हुआ करती हैं—(१) आदमी की अपनी पैदा की हुई, और (२) प्रकृति की या दूसरों की पैदा की हुई। एक आदमी कहीं जा रहा है। रास्ते में उसे कोई सुन्दर दृश्य या वस्तु दिखायी दी, या मनोहर संगीत सुनाई दिया, वह उसे देखने या सुनने में लग गया। कुछ देर बाद उसे अपनी यात्रा का ध्यान आया, तब वह आगे बढ़ा। कुछ दूर चलने पर फिर कोई ऐसी ही बात हो गयी। इस तरह यात्रा में अनावश्यक देर लग सकती है। या कल्पना करो, आदमी कुछ दूर खासी तेजी से चलता है, भूख, प्यास और थकान सहकर भी बढ़ा चला जाता है, पर एक खास हद तक जाने के बाद उसके मन में अहंकार आ जाता है कि मैंने यात्रा का बहुत सा भाग बहुत जल्दी तय कर लिया। मैंने बड़ा साहस और पुरुषार्थ किया है, अब मैं इतनी मेहनत क्यों करूँ। यह

सोच कर वह आराम करने लगता है, और उसका आराम पीछे आलस्य में बदल जाता है। इसी तरह किसी डर या लोभ के कारण भी आदमी का ध्यान अपनी यात्रा से हट कर दूसरी तरफ लग सकता है। ये सब ऐसी रुकावटों की मिसालें हैं; जो आदमी खुद पैदा करता है, और जिनके लिए वह खुद ही जिम्मेवार होता है।

दूसरी तरह की बाधाएँ ऐसी होती हैं कि रास्ते में कोई नदी पड़ती हो और उसमें बाढ़ आ जाय, या जंगली जानवर का सामना करना पड़ जाय। ये बाधाएँ अचानक आ सकती हैं, और इनके लिए, यात्रा करने वाले को दोष नहीं दिया जा सकता।

ये दोनों तरह की बाधाएँ हर मंजिल पर अलग अलग आयी हैं, और कुछ पुराने समय से चली आ रही हैं; कारण, यद्यपि आदमी ने बड़े बड़े संगठन बना लिये हैं, उसके पुराने संगठन भी थोड़े बहुत मौजूद हैं। इन बाधाओं के बारे में व्यौरे-वार विचार अगले अध्यायों में किया जायगा। यहाँ एक ख़ास व्यापक दोष की तरफ ध्यान दिलाना है। वह यह कि आदमी अकसर अपनी नजर दूर तक नहीं फैलाता, वह संकीर्ण विचार से काम लेता है। वह अपनी दुनिया बहुत छोटी मान लेता है, एक छोटे से दायरे के आदमियों को ही अपना समझता है, उनसे ही प्यार करता है, उनके लिए सब तरह के कष्ट सहता और त्याग करता है। इस दायरे से बाहर के आदमियों को वह पराया या गैर मान लेता है; उन्हें प्रेम करना, उनसे सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना तो दूर, उन्हें वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझ लेता है। इसलिए उन्हें कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने में वह संकोच नहीं करता। मिसाल के लिए मामूली

आदमी अपने सुख के लिए अपने परिवार के लोगों को दुख पहुँचाता है और उनसे सख्त काम लेता है। इतिहास में ऐसा अनेक स्थानों पर हुआ है, जब पिता ने पुत्र को, या पुरुष ने स्त्री को केवल मारा पीटा ही नहीं, उन्हें दूसरों के हाथ बेच कर अपने लिए धन हासिल किया। मनुष्य आगे बढ़ता है, अपने परिवार को तो अपना समझता है, पर दूसरे लोगों को कष्ट या धोखा देना उसे बुरा नहीं लगता। इसी तरह कुछ और प्रगति करके मनुष्य अपने कबीले, जाति, गाँव या नगर के आदमियों को एक हद तक अपना मानता है। वह धीरे धीरे राजभक्त या देश-प्रेमी, या राष्ट्र-सेवक कहलाने में गर्व करता है। पर ये सब भी उसकी अपूर्णता के ही प्रमाण हैं।

आजकल के जमाने का आदमी अपने आप को बहुत उन्नत और विकसित मानता है। वह समझता है कि मैंने असभ्य अवस्था को पीछे छोड़ दिया है, पर अब भी ठंडे दिल से सोचने पर हमें अपनी कमी का अनुभव होता है। हम आगे बढ़ना चाहते हैं, पर कई बाधाएँ हमारे सामने हैं। प्रकृति ने संसार के अलग अलग हिस्सों के आदमियों को अलग अलग बोली बोलने वाला और जुदा जुदा रंग का बनाया; बस, मनुष्य उन सब की भीतर की एकता को भूल गया, वह उनमें अपने और पराये का भेद देखने लगा। इसके अलावा उसने कई और बाधाएँ अपने आप ही खड़ी करलीं। कहीं साम्प्रदायिकता की दीवार है, कहीं राष्ट्रीयता की; और, अब इस जमाने की नयी बाधा साम्राज्यवाद है। ये बाधाएँ ऐसी नहीं हैं जिनको दूर करना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो। पर जब वह इन्हें दूर करना चाहे तब न। इस समय तो दशा यह है आदमी में इन बाधाओं को दूर करने का पूरा

इरादा ही नहीं मालूम होता। वह तो जान बूझ कर इनकी रक्षा करने में लगा है। हमें अपने पुराने संगठन से बहुत मोह हो गया है। हम यह नहीं सोचते कि उनकी उपयोगिता अब है या नहीं, किस संस्था में कुछ सुधार करने की ज़रूरत है, और किसे बिल्कुल बदल देने की। हम उदार या व्यापक दृष्टिकोण रखने के लिए तैयार नहीं होते। हम भूल जाते हैं कि हमें आगे बढ़ना है; नये विशाल संगठन के बिना हमारा काम नहीं चलेगा।

आदमी को कहाँ पहुँचना है, और वहाँ पहुँचने के लिए उसे क्या करना है, इन बातों का विचार करने से पहले हमें रास्ते की रुकावटों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, जिससे उनको हटाया जा सके। हमें यह विचार करना है कि मानव समाज के आजकल के संगठनों में किस तरह की नीति या व्यवहार रहे, जिससे छोटा बड़ा हर संगठन मनुष्य के सर्वोच्च और व्यापक संगठन यानी मनुष्य मात्र के हित का ध्यान रखे; हर समूह अपने से बड़े समूह से मेल रखे, अपने आपको उसके अधीन, उसका एक अंग समझे; हमारे पारिवारिक हित का राष्ट्रीय हित से, और राष्ट्रीय हित का मानव हित से, किसी भी हालत में विरोध न हो। जो संगठन अपने से बड़े संगठन का विरोधी हो, उसका अन्त कर दिया जाय; किसी भी संगठन के बने रहने की ज़रूरी शर्त यह हो कि वह पूर्ण मानव समाज की दृष्टि से भी उपयोगी और आवश्यक हो।

———

तेरहवाँ अध्याय

पारिवारिक मोह

—•—

केवल अपने ही बालक का विचार न करें। जब तक आप के पड़ोसी, आप के गाँव, आप के देश, और समस्त जनता के बालकों की स्थिति नहीं सुधरेगी, तब तक आप चाहे जितना परिश्रम करें, आपके बालक को सच्चा सुख, सच्ची सम्पत्ति और सच्चा जीवन नहीं मिलेगा।

—गिजूभाई

पहले कहा जा चुका है कि आदमी के सामाजिक संगठन की सब से पहली कुदरती और आवश्यक सीढ़ी परिवार है। परिवार में बालकों का पालन पोषण होता है और उन्हें अगली पीढ़ी का भार उठाने के योग्य बनाया जाता है। यदि माता पिता अपनी संतान के साथ जैसा चाहिए स्नेह भाव न रखें, और उनके लिए तरह तरह का कष्ट न उठावें तो बालकों की परवरिश होना कठिन है। इसी तरह पति पत्नी का, भाई बहिन का, भाई भाई का, या बहिन बहिन का, एक दूसरे से प्रेम दोनों के लिए हितकर और ज़रूरी होता है। सब अपने निजी सुख का त्याग करके भी एक दूसरे को आराम पहुँचाने और उसका भला करने में हिस्सा लेते हैं। इस तरह सामाजिक जीवन में परिवार-प्रथा का उपयोग ज़ाहिर है। लेकिन हर चीज़ और हर बात की मर्यादा होती है। एक सीमा तक ही, कोई चीज़ उपयोगी होती है; उसके आगे, वह उपयोगी होने की जगह हानिकारक होने लगती है। तब यह कहा जाता है कि इसका दुरुपयोग हो रहा है। समझदार आदमी को चाहिए कि अति का सर्वत्र त्याग करे;

किसी बात के भी दुरुपयोग का मौका न आने दें।

परिवार-प्रथा के बारे में विचार करने पर मालूम होता है कि बहुत से पुरुषों और स्त्रियों का अपनी संतान से इतना ज्यादह प्यार होता है कि वे उसके लिए विशाल मानव हित की अवहेलना करने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि समाज में दूसरे भी लाखों बच्चे हैं, और उन के साथ भी प्रेम और न्याय का व्यवहार होना चाहिए। इस तरह के माता पिता परिवार-प्रथा के दुरुपयोग के दोषी हैं। वे अपने छोटे छोटे परिवारों में इतने रम जाते हैं कि उन्हें बड़े मानव समाज का ध्यान नहीं रहता, जैसे आँख के सामने एक पाई रख लेने से सूरज नज़र नहीं आता। अपने परिवार के साथ बहुत अधिक अनुराग होने से स्वार्थ, लोभ, और अनुदारता बढ़ती है। इसी से बड़े बड़े कल कारखानों के मालिक लाखों मज़दूरों का पेट काट कर करोड़ों रुपये कमाते हैं, और उसे अपने छोटे से परिवार के लिए शौक़ीनी और विलासिता में उड़ाते रहते हैं, और जो धन बचता है, उसे मरते समय अपने बाल बच्चों के नाम वसीयत कर जाते हैं। हिन्दुस्तान में जिन अमीरों के सन्तान नहीं होती, वे अकसर अपने खानदान के किसी बालक को गोद ले लेते हैं, जिससे उनका वंश चले। ये गोद आये हुए बालक मुफ़्त का धन पाकर प्रायः बिगड़ जाते हैं, और आरामतलबी या भोग विलास का जीवन बिताते हैं। बहुत सी औरतों के जब सन्तान नहीं होती तो वे जादू टोने का आश्रय लेती हैं, और दूसरों के बच्चों का अनिष्ट सोचने में भी कुछ संकोच नहीं करतीं। 'सौतेली माँ' ये शब्द ही निर्दयता के सूचक हो गये हैं। इस तरह संतान की कामना या परिवार की भावना ही पुरुषों और स्त्रियों के घोर पतन का कारण बन जाती है।

परिवार के मोह से आदमी अपने पड़ोसियों को लूटते और देश या राज्य को बरबाद करते हैं। इससे ईमानदारीका सार्वजनिक जीवन असम्भव हो जाता है। हर राजनीतिज्ञ, राष्ट्र को हानि पहुँचाकर भी, अपने परिवार को लाभ पहुँचाने की कोशिश करता है। चीन, ईरान और हिन्दुस्तान जैसे देशों में सार्वजनिक भावना के बहुत कम होने का एक खास कारण यही नैतिक दोष है। क्या आश्चर्य है कि मशहूर समाजवादी नेता रोबर्ट ओवन ने घरों को स्वार्थ और छल का अड्डा बताया है। यही बात बड़े पैमाने पर लीजिए। रोम के सम्राट् मारकस औरिलियस ने अपने निकम्मे लड़के कोमोडस को अपना उत्तराधिकारी बनने में मदद दी। औलिवर क्रामवेल की, अपने खानदान का राजनैतिक महत्व बढ़ाने की कोशिश ने इंगलैण्ड में लोकतंत्रवाद के पक्ष को नष्ट कर दिया।

इस ज़माने में विवाह और पारिवारिक जीवन ने बहुत से प्रगतिशील आन्दोलनों को उत्साही प्रचारकों और धुन के पक्के कार्यकर्ताओं से वंचित कर दिया है। विवाह से पहले बहुत से पुरुष और स्त्रियाँ तरह तरह के आन्दोलनों और आदर्शों के साथ खूब जोश से काम करते हैं, लेकिन जब उनके प्रेम और सेवा के लिए उनका परिवार हो जाता है तो उनके उच्चतर कर्तव्यों की अवहेलना होने लगती है। फिर, उन्हें सभा सोसायटियों में जाना भी कठिन मालूम होने लगता है। विवाह ने ऐसे कितने ही देश-सेवकों का खात्मा कर डाला। हरबर्ट स्पेन्सर ने कहा था कि अगर मेरा विवाह हो जाता तो मैं 'सिंथेटिक फिलासफी' (समन्वयात्मक दर्शन) पर निबन्ध न लिख सकता। बहुत से वीर स्त्री पुरुष क़ैद से और आर्थिक हानि से ज्यादहतर इसलिए डरते हैं कि उन्हें अपने बाल बच्चों की बहुत फ़िक्र

रहती है। परिवार आदमी को ऐसे मौकों पर कायर बना देता है।

इसी दृष्टि से समय समय पर परिवार-प्रथा का घोर विरोध हुआ है। यूनान का दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) रक्षक वर्ग या सैनिक वर्ग के लिए परिवार-प्रथा को उठा देना चाहता था। अनेक बौद्ध और ईसाई साधु इसीलिये आजीवन अविवाहित या कुआँरे रहने लगे, जिससे वे परिवार में लिप्त न हों। ऐसी बातें थोड़े से लोगों में ही परिमित रहीं। आम तौर से परिवार-प्रथा बराबर चलती रही है। बात यह है कि पुरुष और स्त्री में मिलकर एक दूसरे के साथ रहने की इच्छा स्वाभाविक है। बालिग होने पर यह प्रवृत्ति एक बार सब में जागती है। अरस्तु (एरिस्टोटल) के शब्दों में 'प्रेम एक समय में एक ही वस्तु के साथ होता है।' प्रेम केवल विषय वासना की पूर्ति ही नहीं चाहता, वह गहरा व्यक्तिगत स्नेह भी चाहता है। हर आदमी और हर औरत की यह इच्छा होती है कि कोई व्यक्ति ऐसा हो, जिसे मैं खूब चाहूँ, और जो मुझे सब से अधिक चाहे। पति-पत्नि सम्बन्ध की जड़ में यही भावना है। संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों, संतान को प्यार करते हैं, और उसे प्यार करने में दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग मालूम होता है।

यह पारिवारिक प्रेम जब मर्यादा से बाहर हो जाता है, जब यह मोह का रूप धारण कर लेता है तो मनुष्य अपने दूसरे कर्तव्यों की अवहेलना करने लगता है। इसलिए अब हम पारिवारिक मोह को रोकने के उपायों पर विचार करते हैं।❀

(क) कुछ लोगों की राय है कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों को प्यार करने और पालने के लिए दूसरों के बच्चे दिये जायँ, उनके

❀ Hints for Self-Culture के आधार पर।

अपने बच्चे न दिये जायँ। क्योंकि पुरुष और स्त्री दोनों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी न किसी बच्चे से निजी और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहते हैं, इसलिए वे उस दूसरे के बच्चे से भी अवश्य प्यार करेंगे, परन्तु उनके प्रेम का सामाजिक-करण हो जायगा, वे उस बच्चे की खातिर न तो दूसरे बच्चों को कष्ट पहुँचाने की कोशिश करेंगे, और न समाज या देश के साथ छल-कपट करेंगे। पुरुष और स्त्री दूसरे के बालक में अपनेपन की भावना इतनी ज्यादह नहीं रख सकते। और इस तरह यह तजवीज़ इस भावना को रोक रखने के लिए अवश्य उपयोगी है। लेकिन यह बनावटी और अस्वाभाविक है; यह इसका बड़ा दोष है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(ख) यह कहा जाता है कि बच्चों का पालन पोषण निजी तौर पर न हो, बल्कि सरकारी या राष्ट्रीय शिशु-शालाओं में, सीखे हुए कर्मचारियों की देख रेख में हो। किसी बालिग आदमी का किसी बच्चे से व्यक्तिगत सम्बन्ध न हो और न कोई बालक किसी व्यक्ति विशेष को पिता या माता के रूप में माने। इस तजवीज में तर्क या गणित की सी सादगी का गुण है, लेकिन यह सचाई भुला दी गयी है कि मनुष्य का जीवन तर्क या गणित से कहीं ज्यादह पेचीदा है। अगर पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों में एक दूसरे से अपनापन या व्यक्तिगत प्रेम न रहे, और सब मशीन के पुर्जों की तरह रहें तो सम्भव है कि वे किसी साधु संन्यासी की तरह परिवार के मोह से बचे रहें, लेकिन वे मनुष्य जाति के अच्छे नमूने नहीं हो सकते। हम चाहते है कि पुरुष और स्त्रियाँ पूरी तरह विकसित हों, और उनमें दिल और दिमाग दोनों के सब असली गुण मौजूद हों। जो बालिग आदमी किसी बालक को 'अपना' नहीं कह सकता, वह आम तौर

पर उदास, रूखा, और अपनी निजी चिन्ताओं में ही लीन रहेगा। और, जिस बालक को पालने वाले ऐसे आदमी (माता-पिता आदि) नहीं होते, जिनका उसके साथ खास अपनेपन का अनुराग हो, वह कभी ऐसा स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न नहीं होगा, जैसा उसे होना चाहिए। अनाथालयों में रहने वाले और घरों में पलने वाले बालकों में साफ़ फरक होता है। इसलिये बालिगों के सुख, और बच्चों की ठीक ठीक वृद्धि दोनों दृष्टि से यह प्रणाली हानिकर है, इसे त्याग देना चाहिए।

(ग) अच्छा उपाय यह है कि मा बाप अपने अपने बच्चों का पालन पोषण तो करें लेकिन पारिवारिक मोह का नियंत्रण करना, उसे काबू मे रखना सीखें; उनका प्यार मर्यादा में रहे, वह मोह की सीमा तक न पहुँच जाय। हमें उन महान पुरुषों और स्त्रियों का विचार करना चाहिए जिन्होंने अपनी सन्तान के मोह के लिए देश या समाज की भलाई का त्याग नहीं किया। गौतम बुद्धने अपना अपना परिवार इसलिए छोड़ दिया ताकि वह आध्यात्मिक खोज में लग सके। बाद में उन्होंने अपनी स्त्री और पुत्रको भी समझा बुझा कर इस बात के वास्ते तैयार कर लिया कि वे निर्धन रह कर मानव समाज की सेवा में अर्पण हो जायँ। सुकरात ने अपनी स्त्री और बच्चों के लिए सम्पत्ति नहीं चाही। उसने निर्धनता में जीवन बिताया और ज़रूरत पड़ने पर निर्धनता में ही मृत्यु का आलिंगन किया।

यूरोप में अनेक धर्मनिष्ट ईसाइयों ने अपने धर्म पर अटल रहने के लिए अपने पारिवारिक मोह का सर्वथा परित्याग कर दिखाया। भारतवर्ष आदि देशों का इतिहास भी ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है। स्थानाभाव से यहां यही उल्लेख किया जाता है कि समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने और उसकी

पत्नी जेनी ने अपनी जन्म भूमि से दूर लन्दन में बड़े संकटों का जीवन व्यतीत किया। उनके बच्चों को कई बार रोटी तक न मिली और भूखा रहना पड़ा। तो भी वीर दम्पति ने मानव समाज की भलाई के लिए पारिवारिक हितों को हँसते हँसते न्यौछावर कर दिया। उनके बच्चे भी बड़े होकर अपने मा बाप की तरह समाजवाद के प्रचार में लग गये। कैसा अनुकरणीय उदाहरण है! सारा परिवार एक ऐसे उच्च आदर्श से प्रेरित था, जिसने उसे मोह से सर्वथा मुक्त कर दिया था।*

बस, पारिवारिक मोह के दोषों से सावधान रहो। अपने साथियों और हितचिन्तकों की अवहेलना न करो, जो तुम्हें, परिवार बनाने से पहले, बहुत प्यारे थे। सामाजिक जीवन से केवल इसलिए अलग मत हो कि अब तुम अपने बाल बच्चों के साथ ज्यादह वक्त गुजारना चाहते हो। लोगों की भलाई के आन्दोलनों में धन और समय लगाने में कमी न करो। अगर कुटुम्ब से तुम्हारा प्रेम तुम्हें स्वार्थी और लोभी बनाता है तो वह अभिशाप है, वरदान नहीं। सच्चा प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करता है, ह्रास नहीं। उससे पुरुष और स्त्री दोनों को यह प्रेरणा मिलनी चाहिए कि वे अपने शरीर और मन को देश और समाज की उन्नति में लगावें। अगर तुम प्रेम के स्वामी रहते हो तो वह आदर्श की तरफ तुम्हारी चढ़ाई को आसान कर देता है, लेकिन अगर तुम प्रेम के दास बन जाते हो तो वह तुम्हें पतन के गड्ढे में जा गिराता है।

सारांश यह कि परिवार-प्रथा के रहते हुए भी पारिवारिक मोह हटाया जा सकता है। यदि मनुष्य इसी भावना से

* कार्ल मार्क्स, सुकरात और गौतम बुद्ध आदि महापुरुषों के बारे में विशेष इस ग्रन्थमाला की 'श्रद्धांजलि' पुस्तक में लिखा गया है।

परिवार में रहें तो उसे अपने बाल बच्चों का पालन पोषण करने से कोई हानि नहीं हो सकती। बच्चों को हमें अपनी निजी मिलकीयत नहीं समझना चाहिए। हमें यह मानना चाहिए कि वे मानव समाज के बच्चे हैं, जो देखभाल के लिए हमारे सुपुर्द किये गये हैं। हमें उनको इस बात का अभ्यास कराना चाहिए कि वे हमसे माता या पिता के रूप में बेजा मोह न करें; उनका प्रधान कर्तव्य मानव समाज के प्रति है, हमारे प्रति नहीं। हमें उनके लिए बहुत अधिक धन कमाने या जोड़ कर रखने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, और न उनके लिए स्कूल, कालिज, व्यापार या राजनीति में अनुचित रियायतें हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। हमें उनको उनकी योग्यता से अधिक ऊंचे या विशेष आमदनी वाले पदों पर नियुक्त करके या कराके समाजद्रोह या देशद्रोह का दोषी नहीं बनना चाहिए। उनके मस्तिष्क को क्षुद्र पारिवारिक विषयों में कैद नहीं करना चाहिए। हमें उनका ध्यान म्युनिसिपल, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों की ओर दिलाना चाहिए। हमें चाहिए कि हम उनमें लड़कपन में ही नागरिकता की भावना का विकास करें, जिससे बड़े होने पर वे अपने सामाजिक कर्तव्यों का ठीक ठीक पालन कर सकें। यदि हम ऐसा करें तो मानव जाति का हित साधन होगा, और हमारे बच्चों का भी भला होगा। यह काम कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असाध्य नहीं है। महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने ऐसा कर दिखाया है। वे समाज के बड़े हित के सामने परिवार के हित को गौण समझते हैं। हमें भी इसका अभ्यास करना चाहिए।

चौदहवाँ अध्याय

वर्ण-भेद और जाति-भेद

प्रकृति ने मनुष्यों को अलग अलग रंग देकर चक्कर में डाल दिया है। हम धोखे में आ जाते हैं। रंग के इस पर्दे को अलग करके हमें अपने भाई मनुष्य के मन और हृदय तक पहुँचना चाहिए। इस तरह देखने पर न कोई आर्य मालूम होगा न अनार्य, न यहूदी, न मंगोल, न हबशी। सब आदमी हैं, सब स्त्रियां हैं; सब की एक जाति है—मानव जाति।

—*हरदयाल*

दक्खिन अमरीका में ऐसे लोग मौजूद हैं जो 'निग्रो' लोगों के साथ बराबरी का व्यवहार करने के बजाय हिटलर को युद्ध में विजयी देखना ज़्यादह पसन्द करेंगे। कुछ ऐसे अमरीकन भी हैं, जो एशिया के लोगों को बराबरी का दर्जा देने के बजाय ख़ुद युद्ध में हार जाना ज़्यादह अच्छा समझेंगे। ऐसे अंगरेज भी हैं, जो हिन्दुस्तानियों को आज़ादी देने की निस्बत हिटलर की विजय ज़्यादह क़बूल करेंगे।

—*श्रीमती पर्ल बक*

संसार में तरह तरह के रंग रूप और शक्ल सूरत के आदमी पाये जाते हैं। कोई गोरा है, कोई गेहुँआ, कोई काला, कोई पीला, कोई ताम्बे के रंग का। किसी का चेहरा चौड़ा है, किसी का लम्बा। तरह तरह के रंगों और चेहरों को देख कर हम मनुष्य जाति की बुनियादी भीतरी एकता को भूल जाते हैं। मुड़ी हुई नाक और सुनहरी बालों वाला लम्बा गोरा काकेशियन छोटे क़द चपटे चेहरे और पीले रंग वाले जापानी से, या मोटे

होंठ और काले रंग वाले हबशी से अलग मालूम होता है। आकृति, कद, माथा, नाक, बाल, मुँह आदि के अनुसार आदमी अलग अलग जातियों के माने जाते हैं।

इन बाहरी भेदों में वर्ण या रंग का भेद आदमियों के मेल मिलाप में बहुत बड़ी बाधा खड़ी करता है। दुनिया की अधिकांश जनता इस रोग से बीमार है। सभ्यता का दम भरने वाली गौरांग जातियों ने तो काले और दूसरे रंग के लोगों का ऐसा ऐसा संहार किया है, कि उसका हाल पढ़कर दिल को गहरी चोट लगती है, और विचारशील आदमी को उस पर हमेशा लज्जा होगी। इसके सम्बन्ध में आगे चल कर विचार किया जायगा। पहले हम हिन्दुस्तान की बात लेते हैं।

हिन्दुस्तान के हिन्दुओं में जो सामाजिक व्यवस्था प्रचलित है, वह वर्णाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। चार वर्ण या जाति यहाँ की मुख्य विशेषता रही है। कहा जाता है कि शुरू में यहां यह जातिभेद श्रम-विभाग की दृष्टि से बना था। श्रम-विभाग का मतलब लोगों को उनके गुण कर्म के अनुसार अलग अलग पेशों में लगा देना होता है। यह काम कुछ आसान नहीं है, खासकर एक बड़े और मिले जुले समाज में। आज एक आदमी की रुचि और योग्यता एक तरह का काम करने की है, कल संगति और शिक्षण आदि के प्रभाव से वह उस काम से अरुचि जाहिर करके किसी दूसरे काम की तरफ़ झुक सकता है। सम्भव है इसी कठिनाई को अनुभव करके, और यह विचार करके कि मनुष्य में अपने पैत्रिक कार्य को ठीक-ठीक करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, लोगों में गुण कर्म के साथ साथ जन्म (वंश आदि) का भी ख्याल रखने की परिपाटी शुरू हुई हो। धीरे धीरे इस ख्याल को इतना महत्व दिया जाने लगा कि इसके

आगे गुण कर्म की बात पीछे पड़ गई। कुछ जातियों के आदमी केवल जन्म या वंश के आधार पर उच्च समझे जाने की माँग करने लगे और अब उन्हें ऐसा कोई सुधार मान्य नहीं होता, जिस के फलस्वरूप उन का उच्चासन डाँवाडोल होने की सम्भावना हो, और दूसरे आदमी उनके प्रतिद्वन्द्वी बन सकें। समाज में उच्च पद, मान, प्रतिष्ठा उनके लिए हमेशा के वास्ते सुरक्षित हो गई है। इसके लिए उन्हें कुछ करने धरने की ज़रूरत नहीं रही। इसके ख़िलाफ़, दूसरी अनेक जातियाँ ऐसी भी हो गईं कि उनके आदमी लाख सिर पटका करें, उनका स्थान समाज में हमेशा नीचा ही रहेगा। वे किसी तरह ऊपर चढ़ने की कल्पना नहीं कर सकते। उन्हें अपनी मौजूदा दशा में ही संतोष करना होगा, सामाजिक सुधार के कार्य में आगे बढ़ने का रास्ता उनके लिए बिलकुल बन्द है; उनको जन्म से यह बात सिखायी जाने लगी, और धर्म-ग्रन्थों द्वारा भी उन्हें यही शिक्षा दी जाने लगी कि तुम जहाँ हो, वहाँ ही रहो, तुम्हारा कल्याण इसी में है, और तुम्हारे भाग्य में यही बदा है।

इस तरह भारतीय समाज़ में श्रम-विभाग के असली आधार गुण कर्म की उपेक्षा हो गई, और जाति-भेद जन्म या वंश परम्परा के कठोर बन्धन में बंध गया। इसके साथ साथ यह अनिष्ट हुआ कि समाज ने श्रम-विभाग को कुछ अंश में तो अपनाया, पर श्रम की महत्ता को बिल्कुल भुला दिया। पुरोहिताई, पंडागिरी, महन्तगिरी, महाजनी, लेनदेन, ज़मींदारी, सर्राफ़ा, अध्यापकी आदि कुछ काम तो ऊंचे मान लिये गये, और दर्ज़ी, लुहार, नाई, धोबी, चमार मेहतर आदि के काम को नीच समझा गया। यह विचार नहीं रहा कि यदि समाज को इनके कामों की ज़रूरत है, और ये काम सामाजिक व्यवस्था के

लिए उपयोगी हैं, तो फिर इन्हें नीच क्यों माना जाय। प्राचीन काल में जब हर आदमी आम तौर पर अपने कपड़े खुद सी लेता था और धो लेता था तो जब ख़ास ज़रूरत होने पर उसके इन कामों को कोई दूसरा आदमी कर देता तो वह उसका अहसान मानता था। पर आजकल की परिपाटी में जब कि एक आदमी को दर्ज़ी या धोबी मान लिया गया है, और उसके लिये प्रायः दूसरा कोई काम रहा नहीं है, तो हमें उसके प्रति कृतज्ञ होने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई। हमें यक़ीन है कि वह आदमी झक मार कर यह काम करेगा, और जब कि हम बाज़ार दर से उसकी मज़दूरी दे देते हैं तो हम उसके ऋण से सदा उऋण ही रहते हैं। यही बात मेहतर चमार आदि के लिये है।

इस जाति-भेद के समर्थन में यह कहा जाता है कि इससे समाज का काम निर्विघ्न चल रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचार भी तो करना चाहिए कि हमें इसके लिए कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। एक तरफ तो उच्च जातियों के आदमी अपने गुण और योग्यता बढ़ाने के लिये कोई प्रेरणा नहीं पाते, उन्हें मुफ्त में ही ऊंचा बनने का विश्वास रहता है, उनमें अहङ्कार दम्भ आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है और बराबरी, हमदर्दी, भाईचारा, निष्पक्षता और स्वतन्त्र चिन्तन आदि सद्गुणों का उनमें अभाव हो जाता है, दूसरे इस परिपाटी में समाज का ख़ासा हिस्सा सदा दलित और पीड़ित रहता है। वह अपने आपको नीच समझता है दूसरे भी उसे नीच समझते और कहते हैं। इन लोगों के भावों और विचारों का विकास हो ही कैसे सकता है? ये चरम भाग्यवादी, सन्तोषवादी, अनुत्साही और उन्नति-विमुख रहते हैं। जो समाज ऐसे दो ऊंच और नीच भागों में

बँटा हो, उसके उद्धार की आशा क्या हो सकती है ? ऐसी सामाजिक व्यवस्था असहनीय है, चाहे उसे किन्हीं शास्त्रों का समर्थन प्राप्त हो।

जात-पाँत की इस प्रथा ने एक तरफ़ तो कुछ आदमियों को दान-पुण्य की आमदनी पर गुलछर्रे उड़ाने वाला बना दिया है, दूसरी तरफ़ लाखों नहीं, करोड़ों आदमियों को जन्म जमान्तर के लिए बहुत नीचे दर्जे की मज़दूरी करने के लिए मजबूर कर रखा है। यह विषमता समाज का पतन करती है। यूनान और रोम में गुलामों की बहुतायत थी, और वहाँ के कितने ही दार्शनिक यह मानते थे कि समाज में गुलामों का होना ज़रूरी है। यह ग़लत विश्वास ही यूनान और रोम की सभ्यताओं का अन्त करने वाला साबित हुआ। खेद है कि हिन्दू समाज ने उससे शिक्षा न ली।

हिन्दुओं की 'वर्ण व्यवस्था' ने कई करोड़ आदमियों का सामाजिक पद बेहद गिरा रखा है, हमारे कितने ही भाई अस्पृश्य या अछूत माने जाते हैं। कुत्ते बिल्ली आदि पशुओं से भी गये बीते ! देश की कितनी शक्ति बेकार जा रही है, भारतवर्ष के विदेशी शासक इस परिस्थिति से कितना लाभ उठाते हैं और यह देश दूसरे देशों में कितना निन्दा और उपहास का पात्र बना हुआ है ! यह प्रथा मनुष्य में ऊँच नीच का भेद भाव पैदा करती है, उनके विकास में बाधा डालती है, मनुष्य को अपने भाई मनुष्य की दृष्टि में अछूत या अस्पृश्य ठहराती है, और मानव समाज का विशाल संगठन नहीं होने देती।

पिछले वर्षों में अनेक महापुरुषों ने भारतीय समाज को जात-पाँत के इस रोग से मुक्त करने का उद्योग किया है। इस विषय पर यहाँ विस्तारसे लिखने की ज़रूरत नहीं; इसका विवेचन

इस ग्रन्थमाला की 'भारतीय जागृति' पुस्तक में किया गया है। इस समय यहाँ और संस्थाओं के साथ जात-पाँत तोड़क मंडल भी इस दिशा में बहुत प्रयत्न कर रहा है। धन्य हैं वे सज्जन जो अपना समय और शक्ति इस महान कार्य में लगा रहे हैं, जिनका आदर्श है कि समाज से विषमता और कटुता दूर होकर सब मनुष्यों की एक जाति हो, गुण कर्मों के अनुसार हर आदमी को आगे बढ़ने का अवसर मिले, क्षुद्र रूढ़ियाँ या परम्पराएँ अब हमारी प्रगति को रोकने वाली न रहें। समाज की स्थिति में ऐसा परिवर्तन या सुधार करना कुछ सरल काम नहीं है। इसके लिए व्याख्यान देना या लेख लिखना काफी नहीं है। सुधारकों को स्वयं उदाहरण बनने को आवश्यकता है।

अब हिन्दुस्तान की बात छोड़कर हम दूसरे देशों के वर्ण-भेद का विषय लेते हैं। आदमी अपने लोभवश अनेक कुकर्म कर जाता है, परन्तु वर्ण भेद या काले गोरे का सहारा मिल जाने पर लोग कहाँ तक नीचता पर उतर आ सकते हैं, इसका सबूत गौरांग जातियों के उस व्यवहार से मिलता है, जो उन्होंने अपने उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति की धुन में रंगदार जातियों के प्रति किया है। कई रंगदार जातियों को उनके दुर्व्यवहार और अत्याचार के कारण न केवल अपने रीति रिवाज, रहन सहन, सभ्यता और संस्कृति से हाथ धोना पड़ा, और अपनी आज़ादी से ही वंचित होना पड़ा, वल्कि अपने प्राणों की वलि चढ़ा कर पृथ्वी से अपना नामोनिशान तक मिटा लेना पड़ा। यह सारा इतिहास अमानुषिक अत्याचारों की एक लम्बी कहानी है, जिसे सुनाने के लिये बड़े बड़े स्वतन्त्र ग्रन्थों की आवश्यकता है। पाठक मानव समाज के इस घातक रोग से होने वाली भयङ्कर हानि का कुछ अन्दाजा लगा सकें, और खुद अपने को इस रोग से

बचाते हुये दूसरों की भी इससे रक्षा करने के लिए प्रेरित हों, इस हेतु यहाँ इसका कुछ दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

दक्खिन अमरीका में एजटेक, मय और इन्का सभ्यताएँ ईसवी सन् के पहले बहुत उन्नत रह चुकी हैं। कहा जाता है कि ये सभ्यताएँ भारत और चीन से चलकर प्रशान्त महासागर को पार करके वहाँ पहुँची थी। एजटेक सभ्यता ने मध्य अमरीका में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। इसकी वास्तुकला के सुन्दर नमूने, पत्थर के वे कैलेन्डर हैं, जो वर्ष के भिन्न-भिन्न भाग प्रदर्शित करते थे। संगीत विद्या में भी यह जाति कम उन्नत नहीं थी। लोहे, सोने, चाँदी आदि धातुओं के गहने और औज़ार बनाने में भी ये बहुत दक्ष थे। कपड़े आदि बुनने और ख़ासकर समूर (फ़र) को कपड़े के तौर पर काम में लाने में भी वे बहुत कुशल थे। इस जाति को यूरोप के लालची लोगों के अनुसंधान के कारण लोप होना पड़ा। मय सभ्यता भी, कई यूरोपीय विद्वानों के मत से, मानव संस्कृति की सर्वोच्चता की प्रतीक थी। उसकी कला के नमूने अत्यन्त सुन्दर थे। राजनीति, अर्थनीति, और ज्योतिष में उसका ज्ञान किसी समय बहुत बढ़ा चढ़ा था। उसने पत्थर के बने मकानों के बड़े बड़े शहर बसाये थे, जो जो देखने योग्य थे। यह सब वर्णन ईसा की पाँचवीं सदी का है।

इन्का सभ्यता की सर्वोत्तम शासन प्रणाली, आने जाने और व्यापार के सुगम साधन, सिंचाई के लिए नहरें, अच्छी-अच्छी सड़कें, कृषि की उत्तमोत्तम व्यवस्थाएँ, निर्माण कला और दस्तकारी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। इसकी भाषा और समाज की सुरक्षा के क़ानून बहुत अच्छे थे। स्पेन की हुकूमत ने इस सभ्यता को मिटा दिया गया। स्पेन के सभ्य कहलाने वालों ने दक्खिन अमरीका में मीता-प्रथा प्रचलित की, जिसके अनुसार यहाँ के

लोगों को ज़बरदस्ती दूसरों के लिए काम करना पड़ता था। इसके फल-स्वरूप कई जातियाँ समूल नष्ट हो गईं। उन्हें इतनी नारकीय यातनाएँ दी जाती थीं कि इनमें से कई जातियों ने आपसी समझौते करके एक दूसरे को मार डाला, और छोटे छोटे बच्चों को मा-बाप ने अपने मरने के पहले अपने हाथ से मार दिया। कई जगह इन अभागों ने यह शपथ लेली कि वे अब सन्तान पैदा न करेंगे। इस तरह एक के बाद दूसरी जाति मरती गई और अपनी मातृभूमि को इन 'सभ्यों' के हवाले करती गईं। दक्खिन अमरीका में इस समय कई छोटे बड़े स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। ब्राज़ील, चाइल, पेरू, पनामा, पेरेगुए इत्यादि ऐसे देश हैं, जिनमें गोरी जातियों के कुछ हज़ार लोग ही सारे देशों पर अपना क़ब्ज़ा जमाये हुए हैं। यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव में होने के कारण ये दूसरी जातियों को वहाँ बसने नहीं देते।

संयुक्त राज्य अमरीका स्वतन्त्रता का पुजारी मशहूर है; क्या वह वर्ण विद्वेष की इस बुरी भावना से बचा? वहाँ की सरकार ने अमरीका के असली पुराने बाशिन्दों को नष्ट करने के लिए 'कैपिटेशन ग्रांट' नाम की प्रथा जारी की थी, जिसके अनुसार पुराने बाशिन्दों की खोपड़ी इकट्ठा करने वालों को अमरीका की सरकार की तरफ़ से इनाम मिलता था। इस प्रोत्साहन के कारण गौरांग पार्टियों द्वारा उन लोगों का ख़ूब शिकार किया गया। वहाँ के ईसाई पादरियों ने इस 'धर्म कृत्य' (!) को परलोक प्राप्ति का एक साधन बतला कर आशीर्वाद दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकांश मार डाले गये, कुछ काम लायक़ बना लिये गये, और, कुछ दूसरे देशों में ले जाकर बेच दिये गये।*

* श्री० कालूराम कानूनगो एम० ए० के 'वीणा' में प्रकाशित लेख से।

आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में भी वहां के मूल निवासियों का भाग्य कुछ कम खराब नहीं रहा। जब से अंगरेज़ वहाँ पहुँचे, तभी से इन उपनिवेशों की नीति रंगीन जातियों के साथ सौतेले भाई की सी रही। 'देश केवल गोरे लोगों के लिए', या 'रंगदार आदमियों का प्रवेश निषेध' इनका आदर्श वाक्य रहा। आस्ट्रेलिया अपने क्षेत्रफल में भारतवर्ष से भी बड़ा है, और इसकी कुल आबादी क़रीब सत्तर लाख है। इसमें वहां के मूल निवासियों की संख्या अब केवल पछत्तर हज़ार रह गई है। ये लोग मैदानों को छोड़ कर घने जंगलों में चले गये हैं। पिछली दो सदियों में इन अभागों का पशुओं की तरह शिकार हुआ है।

दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी हबशी हैं। उनकी सुरक्षा की आड़ में वहाँ की सरकार बाहर के रंगदार आदमियों के वहां आने पर रोक लगाती है। हबशियों के बहुसंख्यक होने पर भी उन्हें वहाँ के शासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वे गुलामी के लिए ही रह गए हैं।

गौरांग जातियों के उपनिवेशों में से कुछ में रंगदार मूल निवासियों पर क्या बीती, यह संक्षेप में ऊपर दिखाया गया है। और भी उपनिवेश हैं, टापू भी अनेक हैं। कहां कहाँ की चर्चा की जाय। सब जगह की यही दुख भरी कहानी है। उसके पढ़ने में भी हृदय पर चोट लगती है। गोरे वर्ण का हो या पीले, गेहुँए, भूरे या काले रंग का हो, मनुष्य के पतन की कथा दुखदायी हुए बिना रहती। उसका उल्लेख करना अरुचिकर है। इसीलिये गई गुजरी बातों को छोड़ दिया जाता है। फिर भी यह तो बताना ही होगा कि अब भी सभ्यताभिमानियों का रवैया कुछ सुधरा नहीं है।

यूरोप और अमरीका के कई देशों के नाचघर, जलपान घर

होटल, सिनेमा और नाटक घरों में और कई दूसरे तमाशों में रंगदार आदमियों को इसलिए जगह नहीं दी जाती कि उनके मेनेजर जानते हैं कि वैसा करने से उनके गोरी जातियों के गाहक बुरा मानेंगे। काला आदमी चाहे जितना शिक्षित हो, वह चाहे उसी ईसाई सम्प्रदाय का हो, और उसी राज्य का नागरिक हो, बहुत से अमरीकन उसे 'अस्पृश्य' मानते हैं। गोरों का यह आग्रह रहता है कि काले आदमियों का हमारे स्कूल, गिरजा और क्लब आदि से वहिष्कार रहे, यहाँ तक कि उनके मरने पर उन्हें हमारे क़ब्रिस्तान में जगह न दी जाय।

इस वर्ण-भेद के मर्मभेदी उदाहरण के लिये उत्तरी अमरीका में वहाँ के मूल निवासी 'रेड इंडियनों' या 'निग्रो' लोगों की दशा पर विचार करना होगा। वास्तव में ये ही पहले उस भूमि के स्वामी थे। वहाँ यूरोपवालों की बस्तियाँ (उपनिवेश) बस जाने पर इन्हें यूरोपवालों की अधीनता या दासता में रहना पड़ा। इन्होंने जहाँ तक बन पड़ा गोरों के रीति रिवाज और बेशभूषा को अपनाया। अनेक बाधाएँ होने पर भी इन्होंने गोरे लोगों की भाषा सीखी और उसी में शिक्षा हासिल करने की चेष्टा की। संगीत में तो उन्होंने बहुत ही उन्नति कर दिखाई। यह सब होते हुये भी वे गौरांग लोगोंकी सहानुभूति और प्रेम के पात्र न बन सके। समता और स्वाधीनता का दम भरते हुये भी वहाँ की सरकार ने इनके साथ न्याय न किया। बहुत साधारण और अप्रामाणित अपराधों पर इन्हें कठोर से कठोर दण्ड दिये गये। वर्तमान महायुद्ध से पहले तक इन्हें क्रूर दंड दिये गये हैं। गोरों द्वारा इनका 'लिंचिंग' होना सभ्यता के लिए एक बहुत बड़ा कलंक है। छोटी छोटी बातों पर इन्हें आग से जला कर मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है। यदि वहाँ की सरकार से कोई इस

विषय में कुछ कहता है, तो उसके पास उसका टकसाली जवाब मौजूद है—'यह हमारा घरू मामला है ; दूसरों को इसमें दख़ल देने का कोई अधिकार नहीं।'

दक्खिन अफ्रीका की रंग-भेद की नीति तो मशहूर है ही। एशिया वालों से अपने यहाँ के अँगूठे के निशान लगवाना, पोल टेक्स अर्थात् प्रति व्यक्ति कर, गिरमिटिया प्रथा, रंगीन लोगों की अलग बस्तियों आदि की बातें सब जानते हैं। इस समय भी वहाँ हिन्दुस्तानियों का रहना स्वीकार नहीं किया जाता। यूनियन पार्लिमेंट की तो बात ही क्या, इस समय वहाँ प्रवासी भारतीयों को प्रान्तीय कौंसिलों और नगर-कौंसिलों (म्युनिसिपेलटियों) तक में मेम्बरी का हक़ हासिल नहीं है और, उनको किसी लगनी बीमारी की तरह यूरोपियन बस्तियों से अलग रखा जाता है। हिन्दुस्तानियों को धीरे धीरे नागरिक अधिकार देने, और शुरू में केवल म्युनिसिपेलटियों में उनके प्रतिनिधि लिये जाने की बात भी यूनियन सरकार को मंजूर नहीं है।

इन पंक्तियों को लिखते समय एक समाचार हमारे सामने है, उसका शीर्षक है—'पहला हिन्दुस्तानी शिकार'। समाचार में कहा गया है कि दक्खिन अफ्रीका की यूनियन सरकार ने 'पेगिंग एक्ट' पास करके गोरे लोगों की बस्ती में हिन्दुस्तानियों के न बस सकने का जो अपमानपूर्ण क़ानून बनाया था, उसके अनुसार गत २६ नवम्बर १९४३ को श्री० पाथर नामक पहले हिन्दुस्तानी को पाँच पौंड (लगभग सत्तर रुपये) का जुर्माना या सात दिन की क़ैद की सज़ा दी गई, क्योंकि उसने मूर रोड नामक गोरे मोहल्ले के एक मकान में रहने का साहस किया था! यह बात ऐसे समय की है जब कि महायुद्ध के रूप में मौत हम सब के सिर पर नाच रही है, और संसार में शान्ति और समता

क़ायम करने के लिये नई नई योजनाएँ बन रही हैं।

लाला हरदयाल ने वर्ण-भेद दूर करने के लिए व्यंग्य पूर्वक एक रासायनिक उपाय बतलाया है—'वैज्ञानिकों को एक ऐसे रोग़न का आविष्कार करना चाहिए, जो दुनिया भर के पुरुषों और स्त्रियों के शरीर के रंग के लिए अच्छा समझा जाय। रंग की गहराई कम ज्यादह हो तो हर्ज नहीं, मुख्य बात यह है कि रंग एक ही हो। एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति कोई एक रंग पसन्द कर ले। गोरा, काला, मटियाला, भूरा, गेहुँआ, खाकी, पीला, बसन्ती आदि। हर नवजात शिशु इस निर्धारित रोगन से रंग दिया जाया करे, और, पीछे उसके जीवन-काल में समय समय पर इसकी पुनरावृत्ति होती रहे। रोगन का रंग वही रहे कोई दूसरा न हो इससे वर्ण-भेद की समस्या हमेशा के लिए हल हो जायगी।' लाला हरदयाल की इस चुटकी में मानव जाति के लिए बड़ा दर्द छिपा हुआ है। क्या हम अब भी ऐसी मूर्खता की बातें सोचते रहेंगे कि गोरे रंगवाले आदमी सब से श्रेष्ठ होते हैं, भूरे रंगवाले उनसे कम श्रेष्ठ, और काले रंगवाले सब से नीचे दर्जे के।

हम अपने आपको बहुत बुद्धिमान और विचारवान कहते हैं। लेकिन जब हम रूप रंग आदि के फ़रक को देखते हैं तो हम भूल जाते है कि सब आदमियों में एक सोचनेवाला मस्तिष्क और प्रेम करने वाला हृदय होता है। अमरीका में गोरे बालक अपने साथ हबशी बालकों के काले रंग से अरुचि प्रकट नहीं करते, वे उनके साथ ख़ूब हिलमिल कर रहते और खेलते हैं। इस तरह बालक हमें बुद्धिमानी सिखाते हैं। पुरुष और स्त्री का प्रेम जाति या रंग से परे होता है। वह क़ानून के बन्धनों या सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। मध्य अमरीका में गोरे और

काले के मेल से भूरे रंग की सुन्दर सन्तानें हुई हैं। हमें भाई-चारे का खूब प्रचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, हमें संस्कृति के उन अनेक तत्वों का विचार करने का अभ्यास करना चाहिए जो सब जातियों में समान रूप से मौजूद हैं। बालकों को घर पर तथा बाहर उदार शिक्षा मिलनी चाहिए। प्रेम और सहयोग के भावों की वृद्धि करने वाले साहित्य का प्रचार होना चाहिए। तभी हम उन विकारों से बच सकते हैं, जो शकल सूरत के भेद से हमारे मन में पैदा हो जाते हैं। वर्ण-भेद का रोग पुराना है, पर असाध्य नहीं है। मानव जाति के सुन्दर भविष्य में विश्वास रखते हुये उसकी धैर्य पूर्वक चिकित्सा की जानी चाहिए। सफलता निश्चित है।

—o—

पन्द्रहवाँ अध्याय

भाषा-भेद

—:o:—

'आपने मुझे भाषा सिखाई और मुझे फ़ायदा यह हुआ कि मैं दूसरों को कोसना सीख गया।' —*शेक्सपीयर*

'जापानियों ने अपने देश की भलाई को सामने रख कर अपनी छोटी बड़ी रियासतों, अपनी देहाती बोलियों और अपनी बहुत सी परम्परागत रूढ़ियों, रस्म रिवाजों को त्याग कर एक भाषा और एक क़ौम का निर्माण कर दिखाया। और एक हम हैं, जो अपने देश में बहुत सी भाषाओं के होते हुए भी सन्तुष्ट नहीं हैं, उनकी तादाद घटाने के बदले बढ़ाने पर तुले हुए है, बना बनाया काम बिगाड़ने और बसी-बसायी बस्ती उजाड़ने पर उतारू हैं।'

—*भवानीदयाल संन्यासी*

भाषा या ज़बान मनुष्यों को मिलाने का बहुत अच्छा ज़रिया है। एक ज़बान बोलने वाले आदमी एक दूसरे का दुःख सुख जान लेते हैं; धीरे धीरे उनमें एक दूसरे की सहायता और एक दूसरे से हमदर्दी के भाव बढ़ते जाते हैं, बातचीत से उनमें विचारों का तबादला होता है, और इससे विचारों में एकता आती है। उनका एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि भाषा की अलहदगी से जनता की नाइत्तफ़ाकी ज़ाहिर होती है। मानव जाति अलग अलग टुकड़ों में बंट रही है और उनमें भेद भाव, एक दूसरे से नफ़रत और कलह बनी हुई है।

यह स्वाभाविक ही है कि उन अनजान अजनबी या अपरिचित लोगों से हम भाईचारा क़ायम न कर सकें, या न करना चाहें, जिनकी भाषा हम नहीं समझ सकते, और जिनके साथ हम बातचीत नहीं कर सकते। सहयोग या मेल मिलाप की ज़रूरी शर्त यह है कि आदमी एक दूसरे की बात समझें। शुरू की हालत में बोलियाँ या उपभाषाएँ अनगिनत होती हैं। इसलिये लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध छोटे छोटे दायरों में महदूद या परिमित रहता है। धीरे-धीरे एक बोली विकसित होकर राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान बन जाती है, और राष्ट्र-भाषा ही के अधार पर जनता का राष्ट्र-राज्य नाम से राजनैतिक संगठन हो जाता है। फिर भी एक राष्ट्र के सब हिस्सों में एक ही भाषा नहीं बोली जाती, अलग-अलग हिस्सों में बोलचाल की अलग अलग भाषाएँ बनी रहती हैं, जिनमें दूरी के हिसाब से फ़रक़ बढ़ता जाता है। जिन देशों में शिक्षा का प्रचार ठीक ठीक नहीं हुआ है, और आने जाने के ज़रियों आदि की कमी के कारण दूर दूर

के लोगों का एक दूसरे से मिलना कम होता है, वहां थोड़ी थोड़ी दूर पर ही इन उपभाषाओं या बोलियों में काफ़ी फ़रक़ होता है, इसलिए कुदरती तौर पर वहां उपभाषाओं या बोलियों की तादाद उन्नत या ज़िन्दा राष्ट्रों की निस्बत कहीं ज्यादा होती है। हां, लोगों की सामाजिक, राजनैतिक और तिजारती ज़रूरतों के कारण उन उपभाषाओं में से, जो राष्ट्र-भाषा की जगह लेने के क़ाबिल होती है, वही शिक्षा और साहित्य की भाषा बनायी जाने के योग्य समझी जाती है। राष्ट्र-भाषा में उपभाषाओं के शब्द और मुहावरे (लोकोक्तियां) शामिल होते रहते हैं; यही नहीं, उसमें ज़रूरत और मेल मिलाप के साथ साथ विदेशी शब्दों और कभी कभी विदेशी वाक्य रचना की शैलियों को भी अपनाने का काम चलता रहता है। जितना जितना इस राष्ट्र-भाषा का प्रचार बढ़ता जाता है, उतना उतना ही राष्ट्र के सब लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। राष्ट्र-भाषाओं का मनुष्य-जाति के विकास में एक ख़ास स्थान है।

पहले यह हालत रह चुकी है कि दस बीस मील के अन्दर के आदमी ही एक दूसरे से बातचीत कर सकते थे, वे ही आपस में सम्बन्ध रखते थे। उस दायरे से बाहर वालों से बातचीत करना उनके लिए सम्भव न था, इशारों की मदद से, जैसे तैसे वे बाहर के आदमियों को अपना मतलब बता पाते थे, और उनका मतलब समझने की कोशिश करते थे। इस तरह हर दस बीस मील के अन्दर के आदमियों की एक अलग दुनिया थी। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि आज कल जिसे हम एक देश, या एक राष्ट्र, या एक क़ौम कहते हैं; वह पहले कितने सौ या कितने हज़ार टुकड़ों में बंटा हुआ रहा होगा, और हमारी यह धरती तो और भी ज्यादह हिस्सों में बंटी हुई होगी।

परन्तु जीवन गतिशील है, वह बदलता रहता है। वह एकसा अर्थात एक ही हालत में नहीं रहता. उसमें परिवर्तन होता रहता है। धीरे धीरे लोगों को यह मालूम होने लगा कि बिलकुल एकांगी जीवन व्यतीत करने में बहुत कठिनाइयां हैं। सामाजिक या तिजारती और दूसरी जरूरतों से एक हिस्से के लोगों का दूसरे हिस्से के रहने वालों से मेल मिलाप बढ़ता गया। उन्होंने एक मिली हुई भाषा की जरूरत और उसके फायदों को अनुभव किया। कुछ लोगों ने इन मिली हुई भाषाओं के बनाने में असली हिस्सा लिया, और कुछ ने अनजाने ही उसमें साथ दिया। हां. कुछ को यह काम नापसन्द भी हुआ, उन्होंने इसका अपने अपने ढंग से विरोध किया। परन्तु परिवर्तन-चक्र चलता रहा, इनकलाब का पहिया नहीं रुका. मिली जुली या विकसित भाषाओं का प्रादुर्भाव होकर रहा, और जो लोग इनसे कुछ बचना चाहते थे. उन्हें भी जल्दी या देर में इनका उपयोग करना पड़ा। मिली जुली भाषाओं ने जुदा जुदा भू-भागों को मिलाया। यह क्रिया जारी रहने का ही यह नतीजा है कि हम दुनिया भर में आजकल की राष्ट्र-भाषाओं और राष्ट्र-राज्यों तक पहुँचे हैं।

अपनी प्रगति की इस मंजिल पर खड़े होकर हम सोचते हैं कि हम कहाँ से कहाँ आगये। हमने बहुत यात्रा तय कर ली है, हमारे रास्ते में समय-समय पर रुकावटें आईं। फिर भी हम निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे हैं। हम उस जगह को दूर छोड़ आये हैं, जहां से हम रवाना हुए थे। परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि हमें कहाँ पहुँचना है, तो अभी भी दिल्ली दूर ही नजर आती है। राष्ट्र-भाषाओं का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ। फिर राष्ट्र भाषाओं ने हमें जो राष्ट्रीयता दी है, वह भी आजकल की दुनिया में कई दृष्टियों से एक बन्धन ही मालूम हो रही है। यह

एक दूसरा ही विषय है। जो हो, राष्ट्र-भाषा हमारी राष्ट्रीय ज़रूरतों को पूरा करने के काम आती है। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के सहारे हमारे अन्तर्राष्ट्रीय काम पूरे होते हैं; अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कायम होती हैं। इसी क्रम या सिलसिले से यह उम्मीद की जाती है कि एक दिन विश्व-भाषा का विकास होकर वह विश्व-राज्य के क़ायम करने में सहायक होगी।

परन्तु अभी इस समय क्या हालत है। पुराने ज़माने की हज़ारों भाषाएँ लोप होकर दुनिया भर में साहित्यिक भाषाएँ कुल चार पाँच दर्जन ही है। फ़िर भी हर राष्ट्र और हर देश में कई कई उपभाषाएँ मौजूद हैं। और, एक उपभाषा बोलने वालों के लिए दूसरी उपभाषा समझना कठिन होता है। मिसाल के लिए ब्रिटिश द्वीप की बात लें, जो क्षेत्र फल में पञ्जाब से भी कम है, और जहाँ आने जाने के साधनों की तरक़्क़ी काफ़ी होने से लोगों का आपस में मिलना जुलना भारतवासियों के आपस के सम्बन्ध के मुकाबले में बहुत ज्यादह है। वहाँ इंगलैन्ड, वेल्ज़, स्काटलैन्ड और आयर्लैन्ड में अँगरेज़ी के कई भेद या रूप मिलते हैं, जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि एक को बोलचाल के काम में लाने वाले दूसरे रूप को आसानी से नहीं समझ पाते। ख़ुद इंगलैण्ड की ही अलग अलग काउंटियों (ज़िलों) में बोली जाने वाली अगरेज़ी भाषा के उच्चारण में, शब्दों में और वाक्य-रचना में काफी फ़रक़ है। परन्तु अंगरेज़ी की इन उपभाषाओं में से हरेक में स्वतन्त्र साहित्य पैदा करने को वहाँ के विद्वान प्रोत्साहन नहीं देते। शिक्षा और साहित्य-रचना के लिए एक सामान्य अंगरेज़ी भाषा का इस्तेमाल करके ही सब अपना काम चलाते हैं। वे यह समझते हैं कि यदि हरेक उपभाषा को शिक्षा और साहित्य की भाषा माना जायगा, तो

जनता की मानसिक उन्नति, दिमाग़ी तरक्की या प्रगति में रुकावट होगी, और आज दिन अंग्रेज़ी भाषा को साहित्य की दृष्टि से जो एक ख़ास जगह मिली हुई है, वह भी न रहेगी। इसलिये उन्हें अपने अपने यहाँ की अलग अलग उपभाषाओं का मोह सीमित और रोक कर रखना पड़ता है। सार्वजनिक उत्थान या सबकी तरक्की और भलाई के लिए मनुष्यों या समूहों को अपनी अपनी बात या भावना कुछ अंश तक छोड़ देने से ही मनोरथ सिद्ध होता है।

इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये अब हम भारतवर्ष की हालत पर विचार करें। यहाँ हिन्दी (उर्दू या हिन्दुस्तानी) बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू, कन्नड़, और मलयलम भाषाएँ मुख्य हैं। इनमें शिक्षा और साहित्य का काम हो रहा है। इनमें से हरेक की बहुत सी उपभाषाएँ हैं, जो एक दूसरे से काफ़ी अलग हैं। ऊपर की भाषाओं में से हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी आदि अपनी उपभाषाओं और बोलियों को मिलाकर भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की भाषा है, जिसे वे रात दिन बोलते हैं। तीन चौथाई से ज़्यादह भारतवासी अपना काम चलाने योग्य हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं। कुछ साल पहले मदरास और आसाम आदि के आदमी हिन्दी नहीं समझ सकते थे, पर अब कोशिश करने से वहाँ भी समझने लग गये हैं। इस तरह यह भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान होने के ज़्यादह क़ाबिल हो गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी के कई भेद या इसकी छोटी छोटी बहुत सी उपभाषाएँ थोड़ी थोड़ी दूर पर मौजूद हैं। हमारा हित और भला इसमें है कि इन्हें अनावश्यक महत्व न

दिया जाय। सारी मनुष्य जाति की प्रगति और उसके भले का विचार करते हुए हमें भारतवर्ष में हिन्दी और ऊपर लिखी मुख्य मुख्य भाषाओं को ही शिक्षा और साहित्य की भाषाएँ मानना चाहिये। हाँ, इनकी जो उपभाषाएँ हैं, भाषा-विज्ञान या समाज-शास्त्र प्रेमी सज्जन उनका अध्ययन करते रहें। उनका जो कुछ साहित्य—गीत, गाथाएँ, कहावतें, मुहावरे, शब्द आदि मिल सकते हैं, उनका संग्रह करके उसे सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी होनी चाहिए, जिससे उसका उपयोग होसके परन्तु इन उपभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने या उनमें अब उच्च कोटि का साहित्य रचने का आयोजन नहीं होना चाहिए। ऐसा करना विकास के सारे क्रम को उलट देना होगा।

खेद है कि यह बात हमारे कुछ अच्छे अच्छे विद्वानों की भी समझ में जल्दी नहीं आती। वे 'जनपदों की भाषा' और 'जनपदों के साहित्य' का नारा बुलन्द करते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दी तो इन जनपदों की केवल राष्ट्र-भाषा है, मातृ-भाषा नहीं, और इसलिये हिन्दी से हमारा सम्बन्ध केवल राष्ट्र की जरूरतों के नाते से ही रहे, प्रारम्भिक शिक्षा आदि का काम जनपद की भाषा से लिया जाय। ऐसी बातों की ओर भावुक और भोली जनता बहुत जल्दी आकर्षित हो जाती है। कुछ नेतृत्व या ख्याति के इच्छुक लोगों को नया धन्धा मिल जाता है और वे इस कार्य में सहयोग देने लगते हैं। परन्तु इससे देश की कितनी शक्ति बँट जाती है, और उस शक्ति का कितना अपव्यय होता है! क्या यह उचित है? हमें अभी कितनी साहित्यिक प्रगति करनी बाक़ी है, विश्व-साहित्य में कितना और क्या हिस्सा लेना है, विश्व-भाषाओं में अपनी भाषा को कैसा स्थान पाने के योग्य बनाना है, इन सब प्रश्नों पर हमें गम्भीरता के साथ विचार

करने की ज़रूरत है।

ऊपर हमने भारतवर्ष को सामने रख कर जो बात कही है, वह सभी देशों के सम्बन्ध में विचारणीय है। हमें समझ लेना चाहिए कि छोटे छोटे देशों में भी समय समय पर अनेक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। अपने समय में उन्होंने जनता का खूब काम चलाया. उनकी उस समय की उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता। पर कालचक्र चलता रहता है। वे सब भाषाएँ आज दिन तक जीवित नहीं रह सकीं और यदि उन्हें जीवित रखने की कोशिश की जाय, तो उसके लिए मानव विकास की रुकावट के रूप में बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी पुरानी आदत, अभ्यास रस्म-रिवाज, रूढ़ि और परम्परा की याद बनाये रखना चाहता है: परन्तु यह बात एक ख़ास हद तक ही उपयोगी होती है। कभी कभी ऐसा देखने में आया है कि बालक एक कपड़ा पहने हुए है, वह मैला हो गया है, शायद फट भी गया है। मा चाहती है कि उस कपड़े को उतार कर बालक को नया वस्त्र पहना दिया जाय। परन्तु बालक अपना कपड़ा उतारना पसन्द नहीं करता, उसे इसमें कष्ट या झंझट मालूम होता है, वह अपना कपड़ा उतारे जाने का विरोध करता है। और, मा को बालक की इच्छा के विरुद्ध अपना काम करना पड़ता है। माता का स्नेह और बालक का हित दोनों इसी में है। बालक उस समय अपने भले बुरे का विचार करने योग्य नहीं होता। इसलिए वह माता के काम में अरुचि और अप्रसन्नता प्रकट करता है। हाँ, कुछ देर बाद नया कपड़ा पहन चुकने पर, बालक को भी यह अनुभव होने लगता है कि अच्छा हुआ, मा ने मुझे नया वस्त्र पहना दिया, अब इस कपड़े में मैं पहले से अच्छा दिखाई देता हूँ। अगर बालक में

कुछ सोचने की शक्ति हो, तो उसे अवश्य ही इस बात पर खेद हो कि उसने पुराना कपड़ा उतारने का इतना विरोध क्यों किया था।

भाषा सम्बन्धी नीति में आजकल हम प्रायः बाल-मनोवृत्ति का परिचय दिया करते हैं। प्रकृति माता चाहती है कि हम अधिकाधिक विकसित भाषा का उपयोग करके अपने विकास और प्रगति में सहायक हों, परन्तु हम अपनी कम विकसित उपभाषा या बोली से ही चिपटे रहना चाहते हैं। हमारा उसके प्रति मोह होता है। हम उसे शिक्षा और साहित्य की भाषा बना कर सृष्टि क्रम के विरुद्ध भी उसे अमर बनाने के उत्सुक रहते हैं। संसार में मानव जाति के काम में आने वाले साधनों का निरंतर विकास और रूपान्तर होता रहा है, और होता रहेगा। हम अपनी अनुदारता, संकीर्णता, तंग दिली या मोह वश इस गति को रोकने की कितनी ही कोशिश करें, हम उसमें पूरी तरह कामयाब नहीं हो सकते। घड़ी की सुइयों को आगे बढ़ने से रोक रखना हमारे वश की बात नहीं है। दुनिया में अनेक उप-भाषाएँ या बोलियाँ लुप्त हो कर अपनी जगह किसी एक भाषा को देती रहती हैं, उन्हें कृत्रिम या बनावटी साधनों से बल प्रदान करना और जीवित रखना मानव विकास-क्रम के विरुद्ध है।

उपभाषाओं की बात छोड़ कर अब हम संसार की बड़ी बड़ी मुख्य मुख्य भाषाओं का विचार करें, तो प्रायः यह बात देखने में आती है कि हर एक भाषा अपने पास की दूसरी भाषा से थोड़ी बहुत मिलती है। इन भाषाओं में यह तय करना कठिन हो जाता है कि कहाँ एक समाप्त होती है और दूसरी शुरू होती है। जो ज़िले दो प्रान्तों के बीच में सरहद पर होते हैं,

उनकी भाषा प्रायः दोनों प्रान्तों की भाषाओं के मिले जुले रूप में होती है। उनमें दोनों भाषाओं के शब्द, कहावतें और मुहावरे मिले होते हैं। इसके अलावा आनेजाने और मेल जोल के बढ़ने के साथ साथ दूसरी भाषाओं के शब्द और मुहावरे भी हर भाषा में आते रहना लाज़मी है। इस तरह संसार की विविध भाषाओं में लेन देन का व्यवहार जारी रहता है। कुछ हम दूसरों से लेते हैं, और कुछ दूसरे हम से लेते हैं। यह लेन देन की क्रिया अधिकतर हमारे बिना जाने ही होती रहती है। कोई आदमी यह अभिमान नहीं कर सकता कि मैं बिल्कुल स्वावलम्बी हूँ, मुझे किसी से कोईचीज़ लेने की ज़रूरत नहीं है। इसी तरह कोई भाषा भी बिल्कुल पूरी होने का दावा नहीं कर सकती। यदि वह अपने चारों तरफ व्याकरण के नियमों आदि की ऐसी दीवार खड़ी करेगी कि उसमें किसी तरह का परिवर्तन न हो, और उसमें नये शब्दों और मुहावरों आदि को स्थान न मिल सके, तो वह भाषा ऐसे प्राणी की तरह होगी, जिसको ताज़ी हवा न मिलने के कारण दम घुटता है, और जिसकी अन्त में मुर्दों में शामिल होने की सम्भावना होती है। जो पानी बहता नहीं रहता, वह सड़ जाता है; और, जो भाषा सुधार, संशोधन, बढ़ने या फैलने से बचती है, वह थोड़े ही समय में मृत-भाषा बनने की तैयारी करती है।

खेद है कि अनेक सज्जन इस साधारण नियम की अवहेलना करते हैं। वे भाषा के विषय में कट्टर साम्प्रदायिकता का परिचय दिया करते हैं। उन्हें हर दम यह खटका लगा रहता है कि हमारी भाषा में दूसरी भाषाओं के संसर्ग से कुछ दोष न आजाय। वे छाँट छाँट कर ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करते हैं जिन्हें वे ठेठ उसी भाषा का समझते हैं। दूसरे शब्दों का वे पूरा पूरा

बहिष्कार करने के पक्ष में होते हैं। इस तरह कुछ हिन्दी-भक्त ऐसी भाषा लिखने पढ़ते हैं, जिसमें संस्कृत के तो कठिन से कठिन शब्द आ जायँ पर उर्दू फ़ारसी आदि दूसरी भाषाओं का शब्द ढूंढ़े भी न मिले। इसी तरह उर्दू के कुछ प्रेमी अपनी भाषा में अरबी फ़ारसी के तो मुश्किल से मुश्किल शब्द काम में ले आवेंगे, पर ऐसा कोई शब्द इस्तेमाल करना पसन्द न करेंगे जो मूल में संस्कृत का रहा हो। इन दोनों कट्टर गिरोहों की नीति का ही यह फल है कि हिन्दी और उर्दू, जो पहले एक ही भाषा के दो नाम थे, अब एक दूसरे से ज्यादह से ज्यादह दूर होती जा रही हैं। हम हिन्दी वाले अपनी ताक़त इस बात में लगा रहे हैं कि हमारी भाषा किस तरह उर्दू से बिलकुल अलग दिखाई दे। हम क़दम क़दम पर कोष और व्याकरण की कसौटी से काम लेते हैं। हम भूल जाते हैं कि कोष और व्याकरण को भाषा का सहायक होना चाहिए न कि उसका जेलर। यदि वे समय-समय पर परिस्थिति और ज़रूरत के अनुसार बदलते नहीं है, तो वे भाषा के विकास और उसकी तरक़्क़ी और बढ़ौती को रोकने वाले बन जाते हैं।

हमारा यह मतलब नहीं कि आदमी ख्वाहमख़ाह भाषा में नये नये दूसरी भाषाओं के शब्दों आदि का प्रयोग किया करे, चाहे वे सुनने और पढ़ने वालों की समझ में आवें या न आवें। कई कई भाषाओं को ज़बरदस्ती मिलाकर खिचड़ी भाषा का व्यवहार करना बेजा और हानिकर है। हमारा मतलब सिर्फ़ यह है कि जिस शब्द या शैली या मुहाविरे को जनता-जनार्दन ने अपना लिया है, उसकी शुद्धि अशुद्धि को परखना साहित्यकार के लिए ग़ैरज़रूरी और अनधिकार चेष्टा है। हमें उनसे परहेज करने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। जहाँ तक बन आवे, हमें

अपनी ज़बान को आमफ़हम यानी सरल और सुबोध रखने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह ज़्यादह से ज़्यादह जनता के काम में आ सके, और देश में आपसी मेल का ही कारण बने, फूट का नहीं। हर भाषा के शुभचिन्तकों को चाहिए कि वे अपने व्यवहार से भाषा के बढ़ने या विकास को रोकने के दोषी न बनें। उनका फ़र्ज़ है कि अपनी ताक़त को व्यर्थ के वाद-विवाद में न लगा कर अच्छी रचनाओं द्वारा भाषा का भंडार भरें. उन रचनाओं के लिए वे तन मन से ख़ूब मेहनत करें। उनकी साहित्य-सेवा का लक्ष्य सचमुच साहित्य की सेवा हो, यही उनकी ज़िन्दगी का व्रत और मकसद हो।

सच यह है कि अच्छे साहित्य को बनाने के लिए लेखक को ख़ुद अपना जीवन निर्माण करना होगा, अच्छे गुणोंका अभ्यास करना और अच्छे विचारों को अमल में लाना होगा। ऊँचे चरित्र के बिना पूरे प्रभावशाली या बाअसर साहित्य की रचना रचना नहीं होती। पर चरित्र-निर्माण एक अलग ही विषय है। इस पर विचार किसी दूसरे मौके पर किया जायगा।

यहाँ कहने की मुख्य बात यह है कि हमें इस भाषा-भेद को धीरे धीरे हटाते रहना चाहिए, जिससे ज़्यादह से ज़्यादह आदमियों में बातचीत और विचार-विनिमय करने और एक दूसरे से मिलने जुलने का रास्ता साफ़ हो; एक सूबे के आदमी दूसरे सूबे वालों के, और एक देश के आदमी दूसरे देश वालों के नजदीक आ सकें। इस भाषा-भेद के कारण जो बड़ी बड़ी दीवारें मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ों में बाँट रही हैं, उन्हें गिराने में, और विश्व-भाषाके लिए रास्ता साफ़ करनेमें सहायक होना हर विचारशील प्रगतिवादी आदमी का परम कर्तव्य है।

—o—

सोलहवाँ अध्याय

साम्प्रदायिकता

सम्प्रदायवाद ने हर सम्प्रदाय की छोटी से छोटी रूढ़ियों, रिवाजों, पूजा के तरीकों आदि को जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं, अमर और एक मात्र सत्य या कल्याण का एक मात्र उपाय साबित करने और बनाये रखने की कोशिश की है। यदि इन आधारों को न हिलाया गया, उनमें बुद्धि और तर्क से छान बीन करके दूध का दूध और पानी का पानी अलग अलग न किया गया तो विविध सम्प्रदायों के वे आपसी झगड़े और मतभेद जो इस समय संसार की उन्नति में कंटकों का काम दे रहे हैं, कभी दूर नहीं हो सकते। —*रघुवीरशरण दिवाकर*

मानव समाज के संगठन के बढ़ने और ज़्यादह व्यापक होने में एक बड़ी रुकावट साम्प्रदायिकता या धार्मिक भेद-भाव है। असल में 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है। इसका अर्थ कर्तव्य या फ़र्ज़ है। इसी तरह 'मज़हब' का अर्थ रास्ता है। धर्म के आधार पर बने हुए सब संगठनों का आपस में मेल होना चाहिए, लेकिन व्यवहार में इसका उलटा है। आम तौर पर धर्म का मतलब अलग अलग मतमतान्तर या सम्प्रदाय लिया जाता है। ये मत मतान्तर समाज-संगठन में किस तरह बाधक होते हैं, इसका विचार करने के लिए हम पहले यह सोचें कि मनुष्य में धर्म की भावना क्यों होती है, और उससे क्या लाभ होता है।

मनुष्य का ज्ञान बराबर बढ़ता रहा है, फिर भी दुनिया की

बहुत सी चीज़ें और घटनाएँ आदमी के लिए अभी तक रहस्यमय ही हैं। उनमें आदमी की अक्ल काम नहीं करती। आदमी चाहे या न चाहे, वह यह सोचने को मजबूर होता है कि उसकी पहुँच से परे कोई न कोई ऐसी अदृष्ट शक्ति है, जो दुनिया में समय समय पर तरह तरह के परिवर्तन करती रहती है, जो सब जानदार और बेजान चीज़ों पर शासन करती है; अन्त में सब जानदारों का जीना, मरना, सुख दुख, हानि लाभ आदि उसी के अधीन हैं। आदमी इस अदृष्ट शक्ति को जान नहीं पाता, पर वह इसके अस्तित्व से इनकार भी नहीं कर सकता। इस महान, सर्वोपरि और सर्व नियंता शक्ति के सामने उसका अहंकार नष्ट हो जाता है, और वह श्रद्धा और विनय के साथ अपना सिर झुका देता है।

मनुष्यों ने उस शक्ति के अलग अलग नाम रखे हैं, कोई उसे परमात्मा कहता है, कोई खुदा, और कोई 'गाड'। अपनी बुद्धि के अनुसार कोई उसे निराकार मानता है; कोई साकार। साकार मानने वाले तरह तरह के देवी देवता, अवतार, पीर आदि की पूजा करते हैं। लोग विश्वास करते हैं कि ईश्वर या देवी देवताओं की आराधना से उनकी सुख शान्ति बढ़ेग, अनिष्ट का निवारण होगा; और इस जीवन के बाद, मरने पर परलोक में भी उनका कल्याण होगा। यही भावनाएँ तरह तरह के धर्मों को जन्म देती हैं। संसार के अलग अलग हिस्सों में समय समय पर अनेक धर्म हुए हैं। उनमें से कुछ का रूपान्तर होगया है, और कुछ लोप हो गये। फिर भी इस समय कई धर्म और उनकी शाखाएँ मौजूद हैं। यदि हम जापान से शुरू करके पच्छिम को चलें तो हमें नीचे लिखे मुख्य मुख्य धर्म मिलते हैं—(१) शिन्तो धर्म जिसका जन्म

जापान में हुआ; (२) ताओधर्म और (३) कनफ्यूसियस धर्म, चीन में; (४) वैदिक धर्म, जिसे अब हिन्दू धर्म कहते हैं; (५) बौद्ध धर्म, (६) जैन धर्म और (७) सिक्ख धर्म, भारतवर्ष में; (८) ज़रदुश्ती धर्म या पारसी धर्म, ईरान में; (९) यहूदी धर्म और (१०) ईसाई धर्म फ़िलिस्तीन (पैलेस्टाइन) में; और (११) इसलाम धर्म अरब में। इनमें से वैदिक धर्म और शिन्तो धर्म को छोड़ कर और सब धर्म एक न एक महापुरुष (अवतार या पैगम्बर आदि) द्वारा चलाए हुए हैं।

हर एक धर्म ने कुछ खास खास आदर्शों या सिद्धान्तों पर विशेष ज़ोर दिया है। कारण यह है कि हर धर्म का उदय एक खास देश काल में हुआ और उस परिस्थिति में वहां के लोगों की कुछ खास ज़रूरतें थीं। श्री० कन्हैयालाल जी राजदान ने एक लेख में लिखा है कि 'हर धर्म का रंग अलग अलग है। आत्मा सब में एक ही है, पर शरीर का रूप रंग जुदा जुदा है, जिस से लाभ ही है न कि हानि। इन रंगों में से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे आगामी विश्व-धर्म में से निकाल फेंका जा सके। हिन्दुस्तान से हमें परमात्मा की सर्वव्यापकता और मनुष्य जाति की एकता लेनी होगी; पारस से पवित्रता का शिक्षा; मिश्र से विज्ञान, जो धर्म का एक अंग है, न कि किसी तरह उसके विरुद्ध है; यूनान से सौंदर्य; रोम से नियम-पालन; यहूदी धर्म से भलाई; और ईसाई धर्म से आत्म त्याग।' ये सभी गुण समाज के लिए ज़रूरी हैं। इसलिए सब धर्मों ने अपने अपने समय और क्षेत्र में समाज का उपकार किया है। इस समय भी जो लोग किसी एक धर्म के या उसकी किसी एक शाखा या उपधर्म के अनुयायी होते हैं, वे आपस में एकता अनुभव करते हैं, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम रखते हैं।

लेकिन धीरे धीरे मनुष्य की अनुदारता और नासमझी द्वारा हर धर्म में विकार आगये। ये धर्म रूढ़ियों और अंध-विश्वासों के भंडार बन गये। इनसे प्रेम की जगह परस्पर कलह और द्वेष का प्रचार होने लगा। यहाँ तक कि धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियों का समर्थन हुआ, और ऐसे ऐसे अत्याचार हुए जिन्हें पढ़ सुन कर हृदय काँप उठता है। न जाने कितने करोड़ पुरुषों, स्त्रियों और बालकों को धर्म के नाम पर मौत के घाट उतारा गया, या अंगहीन और घायल किया गया। लोगों की गाढ़ी मेहनत से कमाई हुई कितनी सम्पत्ति धर्म की खातिर नष्ट की गयी है, इसका कोई हिसाब नहीं है।

जो हो चुका, वह हो चुका; किन्तु अभी तक भी हालत ठीक ठीक सुधरी नहीं है। एक धर्म के कट्टर भक्त दूसरे धर्म वालों को अपने में मिलाने के लिये क्या क्या जोर जुल्म नहीं करते! वे दूसरों का सिर फोड़ने, और कहीं कहीं खुद शहीद बनने के लिए तैयार रहते हैं। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों, शियाओं और सुन्नियों, मुसलमानों और ईसाइयों, हिन्दुओं और मुसलमानों, मुसलमानों और यहूदियों के और दूसरे सम्प्रदायों के आपसी झगड़ों ने कई देशों को कलह का घर बना रखा है।

ऐसा क्यों होता है? बात यह है कि यद्यपि सभी धर्मों के मूल तत्व प्रायः एक से हैं, सभी सचाई, दया प्रेम आदि पर जोर देते हैं, पर हर धर्म ने लोगों के रहन सहन के सम्बन्ध में जो रीति, नियम या पद्धतियाँ तय कर रखी हैं, वे अलग अलग हैं। अलग अलग धर्मों का जन्म अलग अलग देश काल में होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आदमी अपने व्यवहार में धर्म के मूल तत्वों को बहुत कुछ भुला देता है, और बाहरी तथा गौण बातों में फँसा रहता है, जैसे पूजा किस

तरह करनी चाहिए, कैसे स्थान में करनी चाहिए, खाने में कौन कौन सी चीजें निषिद्ध माननी चाहिए, किसके हाथ का खाना चाहिए, विवाह आदि किस तरह करना चाहिए, बालक के जन्म के समय क्या क्या रीति रस्म बरतनी चाहिए, मृतक संस्कार किस तरह होना चाहिए; यात्रा, व्यापार, विवाह-शादी, लड़ाई, या मुकदमा आदि कोई काम शुरू करने के लिए कैसा समय (मुहूर्त) अच्छा होता है, किन किन बातों से अच्छा शकुन माना जाता है, और किन से अपशकुन, इत्यादि। ये बातें लोगों की व्यक्तिगत श्रद्धा पर, और अधिकतर अज्ञान और अंधश्रद्धा पर निर्भर होती है।

इन बाहरी बातों में, धर्मों धर्मों में भिन्नता है। इसके अलावा हर धर्म के अनुयायी अपनी इस तरह की बातों को तर्क संगत और वैज्ञानिक, और दूसरे धर्म वाले की इसी तरह की बातों को अज्ञानता और असभ्यता सूचक समझते हैं। ये दूसरों से भी अपनी ही बातों का अनुकरण कराना चाहते हैं। यही सब झगड़े की जड़ है।

शुरू जमाने में जब लोग छोटे छोटे समूहों में रहते थे, एक समूह के आदमियों का अपना एक देवता था, वे सब एक ही तरह की पूजा पाठ करते और रीति रस्म मानते थे। इससे उन लोगों में प्रेम और एकता बढ़ती थी। अब हम उस शुरू के जीवन को बहुत पीछे छोड़ आये हैं। करीब करीब हर देश में अलग अलग धर्मों के मानने वाले और जुदा जुदा रीतिरस्मों का पालन करने वाले रहते हैं। ऐसी दशा में यदि एक सम्प्रदाय के आदमी दूसरे सम्प्रदाय वालों से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव न रखें, सब अपने अपने ही स्वार्थ सिद्ध करने में लगे रहें और उसके लिए दूसरों को कष्ट देने

में संकोच न करें तो परस्पर कलह और संघर्ष होना लाजमी है। यदि किसी धर्म या सम्प्रदाय वाले बाढ़, महामारी, अकाल आदि के मौके पर ऐसी संस्था बनाएँ, जो केवल उनके ही सम्प्रदाय वालों का विचार करे, और दूसरों की परवाह न करे तो यह किसी तरह धर्म नहीं है, और न किसी धर्म या सम्प्रदाय को शोभा देता है।

हमें इस तरह की सब संकीर्णताओं और क्षुद्रताओं से जल्दी से जल्दी अपना पिंड छुड़ाना चाहिए। हर धर्म में से अपने और पराये का भेद भाव दूर करना चाहिए। यह कैसे हो? ज़रूरत यह है कि हर धर्म के कुछ उदार हृदय लोग इस बात के लिए कमर कसें, वे अपने व्यवहार से और प्रचार से अपने सहधर्मियों का दृष्टिकोण व्यापक बनाएँ। वह उन्हें समझायें कि सेवा या सहायता करते समय अपने पराये का विचार न कर केवल यह सोचना चाहिए कि पीड़ित या मोहताजों में किसे सहायता की ज्यादह ज़रूरत है या हमें किस की मदद करने की सुविधा अधिक है। यदि दस आदमी नदी में डूब रहे हैं तो उन्हें बचाते समय हम यह देखने न बैठें कि छाँट,छाँट कर पहले हिन्दू-हिन्दुओं को बचाया जाय, उसके बाद मुसलमानों या ईसाइयों को। जो भी हमारे हाथ से बच सके, उसे बचाने की हम भरसक कोशिश करें। इसी तरह यदि भूखों की भीड़ को कुछ भोजन देने का अवसर आता है तो उस समय हमारा सहधर्मी और विधर्मी आदि का विचार करने लगना अनुचित और पाप है।

हर आदमी को यह भी सीखना है कि हमें निस्पक्ष हो कर सब के गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करनी चाहिए। हम इतने संकीर्ण हृदय के हो गये हैं कि अगर कोई

दूसरे धर्म वाला त्याग और कष्ट सहन की मिसाल पेश करता है तो हम उसकी तारीफ नहीं करते; यदि कहीं उसका उल्लेख करना ही हो तो अपने शब्दों में कृपणता का परिचय देते हैं। इसके खिलाफ हम अपने सहधर्मी के मामूली से भले काम की भी खूब सराहना करते हैं, उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं। अनेक बार अच्छे अच्छे लेखक, कवि, इतिहासकार और सम्पादक भी इस विषय में दोषी पाये जाते हैं।

इसी तरह यदि कोई अपराधी हमारे धर्म का अनुयायी होता है तो हम उससे सहानुभूति रखते हैं, और जहाँ तक बने उसे कानूनी सजा से बचाने की कोशिश करते है। और, अगर उसे फाँसी दी जाती है तो हम उसका शहीद के रूप में आदर मान करते हैं। इसके खिलाफ़ अगर अपराधी दूसरे धर्म या सम्प्रदाय का है तो हम उसे बदनाम करते हैं और उसे अधिक से अधिक सजा दिलाने का प्रयत्न करते हैं, उसके साथ ही उसके दूसरे सहधर्मियों को भी षडयन्त्र में शामिल समझते हैं। इस तरह हम मामूली मामलों को दो सम्प्रदायों के बीच कलह का रूप दे देते हैं।

जो धर्म हमें इतना पक्षपाती और अन्यायी या अन्याय पसन्द करने वाला बनाता है, मानव समाज में अपने पराये का भेद-भाव पैदा करता है, उसे 'धर्म' कहना ग़लत है। हर देश में समय-समय पर ऐसे महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने अपराध करने वाले को उस अवस्था में भी दंड दिया या दिलवाया जब कि अपराधी स्वयं उनका भाई, बेटा या और कोई रिश्तेदार था। ये उदाहरण अनुकरणीय हैं। परन्तु आजकल के धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयाइयों में ऐसी भावना कितनी कम है!

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने कहा है—"पहले किसी ज़माने में मसजिद में सब मज़हब वालों को जाने की इजाज़त थी। मदीने में जो मसजिद है, उसमें पहले मुसलमान भी नमाज़ पढ़ते थे और ईसाई भी दुआ करते थे। बदकिस्मती से वह दिन आज नहीं रहा। आज क्या से क्या हो गया है। लोग पुराने ज़माने के मज़हब को भूल गये हैं।" बहुत सी बातें हम केवल सिद्धान्त रूप में ही मानते हैं; हमारा व्यवहार उनके अनुसार नहीं होता। हिन्दू ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है, पर उसका दर्शन करने के लिए मंदिरों में ही जाता है, वह इसके लिए मसजिद या गिरजा में जाने का विचार नहीं करता। और उसे यह भी सहन नहीं होता कि कोई दूसरे धर्म वाला उसके मंदिर में आसके। वह 'हिन्दू देवी देवताओं' में विश्वास रखने वाले अपने हरिजन भाई को भी मंदिर-प्रवेश की इजाज़त देने में झिझकता है। जो हिन्दू हरिजनों के प्रति कुछ 'उदारता' का भाव रखने लगे हैं, उनमें से भी कितने ही यह सोचते हैं कि किसी मुसलमान या ईसाई के आने से तो मंदिर अपवित्र हो ही जायगा।

निदान, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और दूसरे धर्मों के कट्टर अनुयायी अपने अपने को एक दूसरे से अलग मानते हैं। अफ़सोस की बात है कि किसी भी देश में धर्म के नाम पर कोई गिरोह यह मांग करे कि व्यवस्थापक सभाओं आदि के लिए चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर हो, हमारे सदस्यों के लिए स्थान सुरक्षित रहें, उनको जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व हो, हमारे सम्प्रदाय वालों को अमुक संख्या में सरकारी नौकरियाँ अवश्य मिलें, चाहे उनमें उसके लिये योग्यता हो या न हो, और चाहे इस से दूसरे धर्म वालों के साथ

अन्याय होने के अलावा शासन के काम में भी कठिनाई पैदा हो।

कुछ लोग धर्म के ही आधार पर राष्ट्र या कौम बनाना चाहते हैं, जिससे अन्त में देश के भी टुकड़े टुकड़े होने की बात सामने आती है। इस गलत धारणा से केवल हिन्दू और मुसलमानों के लिए ही अलग अलग राज्यों की बात नहीं रहती। दलित समझी जाने वाली जातियों के अखिल भारतीय सम्मेलन के अध्यक्ष ने उन जातियों की अलग बस्तियाँ बसाये जाने की माँग की। इसी तरह एंग्लो इंडियन असोसियेशन की देहली प्रान्त की सालाना बैठक में सभापति ने यह विचार प्रकट किया कि एंग्लो इंडियनों का एक अलग उपनिवेश कायम किया जाय, जहाँ उनके अपने स्कूल, अपने अस्पताल, और दूसरी अपनी अलग संस्थाएँ हों। जब कि किसी धर्म के लोग किसी देश भर में फैले हुए हों, और शिक्षा, आजीविका आदि के लिए उनका अलग अलग स्थानों में रहना जरूरी और उनके लिए लाभदायक हो तो उन सब को एक ही जगह में रखना अव्यावहारिक और अहितकर है। और, कोई देश उस समय तक सभ्य कहलाने का हकदार नहीं है, जब तक उसमें धर्म की पूरी आजादी न हो; न वह मनुष्य मनुष्य कहला सकता है, जो दूसरे धर्म वालों के साथ प्रेम से मिल जुलकर अच्छे पड़ोसी की तरह न रह सके। धर्म के आधार पर अलग अलग राष्ट्रों की कल्पना, और उसी आधार पर किसी एक देश के टुकड़े करने की प्रवृत्ति दोनों मनुष्य की भावी उन्नति और मानव समाज की भावी एकता में बहुत बड़ी रुकावटें हैं।

कितने दुख का विषय है कि विविध धर्म आज मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ों में बाँट रहे हैं, और विश्व-बंधुत्व जैसे असूलों, सिद्धान्तों या आदर्शों की बात करते हुए

भी मानव समाज के बीच स्वयं ऊँची ऊँची दीवारों के रूप में खड़े हैं, जिन्हें पार करके मनुष्यों के लिए एक दूसरे को गले लगाना, और एक दूसरे के सुख दुख में साथ देना अत्यन्त कठिन हो रहा है। इन दीवारों को तोड़ने, या इनके बीच में आने जाने के लिए दरवाजे बनाने, के समय समय पर प्रयत्न हुए हैं, उन में अभी तक पूरी सफलता नहीं मिली, परन्तु विशाल मानव समाज के हित के लिए यह काम करना ही होगा।

एक बात और ध्यान देने की है। बहुत से आदमियों के लिए धर्म इस जीवन की, या नकद व्यवहार की, चीज़ न होकर केवल उधार या भविष्य का ही कारोबार रह गया है। जिस तरह कुछ लोग तरह तरह के कष्ट सहकर भविष्य के लिये धन सम्पत्ति जोड़ जोड़ कर रखते हैं, उसी तरह दान पुण्य पूजा पाठ आदि बातों में हमारी नजर केवल इसी तरफ रहती है कि हमारा परलोक सुधरे, मरने पर हमारी सद्गति हो। हम यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि हमारे कार्यों से हमारा नागरिक जीवन अच्छा बने, हमारा विकास हो, और दूसरे आदमियों की उन्नति में सहायता मिले। जब हमारी सब कामों की कसौटी केवल परलोक ही का सुधार होती है तो हम धर्म के नाम पर अनन्त धन और सामानका दुरुपयोग करते रहते हैं। मिसाल के तौर पर एक आदमी सवेरे से शाम तक कोई मेहनत मजदूरी नहीं करता, कोई ऐसा मानसिक या शारीरिक काम नहीं करता, जिससे नगर-निवासियों का हित हो। वह केवल स्नान, ध्यान, पूजा पाठ में ही लगा रहता है। उसे धर्मात्मा क्यों कहा जाय, और उसे दूसरे नागरिकों द्वारा उत्पन्न सामग्री से अपने लिए अन्न वस्त्र की ज़रूरतें पूरी करने की सुविधाएँ क्यों दी जायँ!

अगर उसके पास उसके माता पिता आदि की कमाई हुई सम्पत्ति है तो भी उसे अपने लिए खर्च करने का क्या अधिकार है जबकि वह खुद कुछ काम नहीं करता ! वह सम्पत्ति दूसरे आदमियों के सहयोग से ही पैदा हुई है, और समाज के हित के लिए खर्च की जानी चाहिए।

कोई आदमी यदि किसी ऐसी जाति या वंश में पैदा हुआ है, जिसे 'धार्मिक' कहे जाने वाले ग्रन्थों में ऊँचा माना गया है तो इसमें उसे क्या श्रेय है, इससे उसे दूसरों की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ या रियायतें क्यों मिलनी चाहिएँ ! इसी तरह नीची मानी जाने वाली जाति में पैदा होने वाले आदमी ने क्या अपराध किया है कि वह अपने दूसरे भाइयों द्वारा अस्पृश्य या घृणित समझा जाय !

क्या यह लज्जा और शोक का विषय नहीं है कि जिन स्थानों को धर्म का केन्द्र या तीर्थ माना जाता है, वहाँ का ही नागरिक जीवन प्रायः सबसे अधिक ख़राब है, वहाँ ही सबसे अधिक मुफ्तखोरे, सबसे अधिक स्पृश्यास्पृश्य विचार, सबसे अधिक भिखारी, सबसे अधिक धर्मान्धता, कायरता और जी-हुजूरी है।

बड़े बड़े मन्दिरों के लिए जो आलीशान और भव्य मकान हैं, और उनमें जो असंख्य जनता की गाढ़ी कमायी का पैसा है, उसका जनता के लिए क्या उपयोग है ? इन्हीं जगहों में अनेक आदमी बिना घर के और बिना किसी खाने पीने के साधन के रहते हैं। कैसी विषमता है ! यदि मंदिरों की इमारतों और संम्पत्ति का बँटवारा इन दरिद्रों में हो जाय तो क्या भगवान को इस बात की प्रसन्नता न होगी कि उस की इतनी सन्तान की दशा सुधारने में मन्दिरों का उपयोग हुआ ? और

परम पिता भगवान को अपने लिए इस विलास-सामग्री के उपयोग की क्या आवश्यकता है, जब कि उसकी प्यारी सन्तान अन्न वस्त्र के लिए तरस रही हो !

हाल की बात है। ९ फरवरी १९४४ को देहली में शतकोटि महायज्ञ समाप्त हुआ। कहा जाता है कि इसमे पाँच लाख रुपया खर्च हुआ और ७६० मन अन्न (तिल, राई, जौ, चावल), ११ मन चन्दन, १० मन चीनी, ५०० मन घी और ८०० मन लकड़ी काम आयी। यह सब सामग्री ऐसे समय में अग्नि की भेंट की गयी, जबकि भारतवर्ष के बंगाल आदि कई प्रान्तों में लाखों मर्द, औरत और बच्चों ने भूख से तड़फड़ा तड़फड़ा कर प्राण दिये, और कितनों ही ने दरख्तों की छाल, पत्ते या घास खा खा कर अपनी जान बचाने की कोशिश की, और इन में से बहुत से पीछे तरह तरह की बीमारियों के शिकार हुए। अगर ऊपर लिखी हुई सामग्री भूख से व्याकुल दरिद्रनारायण को दी जाती तो कितना उपकार होता और ईश्वर भी प्रसन्न होता। लेकिन भावुक धर्म-प्रेमी लोगों का कहना है कि यज्ञ करने से वह सामग्री न जाने कितनी गुनी अधिक मात्रा में फिर पैदा होगी। ऐसे लोगों से तर्क करना व्यर्थ हो जाता है। ये अंधविचार मनुष्य-समाज की आर्थिक और नागरिक उन्नति में भयानक रूप से बाधक हैं।

बात यह है कि अलग अलग सम्प्रदायों के अपने धार्मिक विचार या अलग अलग रीति रिवाज ही नहीं होते, उनके तरह तरह के अद्भुत सामाजिक या राजनैतिक सिद्धांत भी होते हैं। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत से लोगों को लोकतंत्र राज्य और तलाक का अधिकार मान्य नहीं है। बहुत से मुसलमान इस बीसवीं सदी तक खलीफा को धर्म के नाम पर अनियंत्रित सत्ता

देना चाहते रहे हैं। बहुत से सनातनी हिन्दू बाल-विवाह और छुआछूत को शास्त्रों से अनुमोदित मानते है, बहुत सों ने पिछले वर्षों में इन रिवाजों के, कानून द्वारा, सुधारे जाने का घोर विरोध किया। इस तरह सम्प्रदायों में ऐसी अनेक बातें हैं, जो मानव समाज के हित से मेल नहीं खातीं। ज़ाहिर है कि साम्प्रदायिक रीति रस्मों, रूढ़ियों और अंधविश्वास के आधार पर समाज का संगठन नहीं हो सकता। उसके लिए व्यापक बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक, और सांस्कृतिक आधारों ही से काम चलेगा। ज़रूरत है कि धर्म में इस उदार दृष्टिकोण को स्थान दिया जाय, तभी वह धर्म नागरिक जीवन के सुधार में सहायक हो सकता है और भविष्य के लिए सच्चे धर्म का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

सतरहवाँ अध्याय

राष्ट्रवाद

वह समय जल्दी आ रहा है, जब किसी आदमी को देशभक्त कहना उसका बहुत ही अपमान करना समझा जायगा। देशभक्ति का अर्थ अब यह रह गया है कि जिस राज्य में हमारा जन्म हुआ है, उसके खास खास अधिकार-प्राप्त वर्गों के हित के लिए दूसरे देशो को लूटा जाय। —*टाल्स्टाय*

कोई गुलाम राष्ट्र आज़ादी के लिए कोशिश करे तो उसकी वह राष्ट्रीयता मानवता के अनुकूल होगी, और, वह ऐसी महान होगी कि उसके पीछे प्राणों का भी उत्सर्ग करना गौरव की बात होगी। लेकिन

जहां एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या बनाये रखने के लिए कोशिश करे, वहां मनुष्य का कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीयता के उन्माद का—मानवता के प्रतिकूल राष्ट्रीयता के इस कुत्सित स्वरूप का—विरोध करे और उसे क्षत-विक्षत करने में जान की बाजी लगादे।

—*रघुवीरशरण दिवाकर*

हम पहले कह चुके हैं कि सामाजिक संगठन में गाँव और नगर के बाद राष्ट्र भी एक ज़रूरी और उपयोगी सीढ़ी है। सार्वभौम या विश्व-राज्य तक पहुँचने के लिए राष्ट्र भी एक मंजिल है। परन्तु इस लक्ष्य को भुला देने पर राष्ट्रीयता मानवता के वास्ते अहितकर और विघातक हो जाती है। यह राष्ट्रवाद का दुरुपयोग है। इसी पर यहाँ विचार करेंगे। पर इससे पहले नागरिक भावना या प्रान्तीयता के दुरुपयोग का भी उल्लेख कर दिया जाय, क्योंकि राष्ट्र ग्राम, नगर और प्रान्तों का ही बनता है।

'गाँव और नगर' शीर्षक अध्याय में हमने बताया है कि हर नागरिक को अपने गाँव या नगर से खूब प्रेम होना चाहिए और उसकी उन्नति या सुधार की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी याद रखें कि हम विशाल मानव जाति के अंग हैं और उसके प्रति भी हमारा कर्तव्य है। कहा जाता है कि प्रेम अन्धा होता है। अपने गाँव या नगर का प्रेम हमें अपने दूसरे कर्तव्यों से विमुख न करदे। अगर हमारा कोई नागरिक भाई कोई खराब काम करे या दूसरी जगह के रहने वालों को हानि पहुँचावे तो हमें यह सोच कर उसका पक्ष न लेना चाहिए कि वह हमारे गाँव या नगर का है। इसी तरह अगर कभी नगर भर के आदमी कोई बेजा काम करें

तो हमें उन सबका विरोध करने को तैयार रहना चाहिए, चाहे इससे हमें कितना ही कष्ट सहना पड़े। विश्वबन्धुत्व के लिए यह हमारे अपने स्थानीय प्रेम की आवश्यक मर्यादा है।

गांव और नगर से आगे बढ़ कर हम देश या राष्ट्र पर आते हैं पर कुछ लोगों की दृष्टि अपने प्रान्त तक ही परिमित रहती है। वे उससे आगे राष्ट्र-हित का विचार नहीं करते। यही नहीं, कभी कभी यह जानते हुए भी कि उनकी नीति के अनुसार काम होने से राष्ट्र को हानि पहुँचेगी, वे अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार नहीं होते। मिसाल के तौर पर हिन्दुस्तान को ही लीजिए। यहां अनेक शिक्षित और समझदार कहे जाने वाले लोग भी प्रान्तीयता के शिकार बने हुए हैं। खास कर सन् १९३५ ई० के शासन-सुधारों के बाद यह रोग बहुत बढ़ गया है। कहीं हम बंगाली-बिहारी समस्या देखते हैं, कहीं बंगाली-मारवाड़ी, कहीं महाराष्ट्रीय-हिन्दुस्तानी और कहीं तामिल-तैलिगू आदि। जैसा कि 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' पुस्तक में बताया गया है, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय उन्नति का ध्यान रखते हुए ही हमें अपने प्रान्त की भलाई की कोशिश करनी चाहिए। हर प्रान्त के निवासियों को चाहिए कि वे दूसरे प्रान्तों से यहां आकर बसे हुए लोगों के प्रति किसी तरह का द्वेष भाव न रखें; वे यह न भूलें कि ये दूसरे प्रान्तों वाले भी हमारे ही राष्ट्र के हैं। साथ ही जो व्यक्ति अपने प्रान्त से बाहर किसी दूसरे प्रान्त में रहते हों, उनका भी कर्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा सीखें, वहां की तरह तरह की उपयोगी संस्थाओं की तरक्की में हिस्सा लें और वहाँ के निवासियों से मिल जुल कर रहें। जब तक ऐसा न होगा, और आदमी प्रान्तीयता के शिकार रहेंगे, तब तक राष्ट्र-हित की अवहेलना

तो होगी ही, किसी प्रान्त की भी असली और टिकाऊ उन्नति नहीं हो सकती।

इसी तरह राष्ट्रीयता के सवाल पर विचार किया जाना चाहिए। हम पहले कह आये हैं कि सच्ची और उदार राष्ट्रीयता मानवता की विनम्र और वफादार सहायक है। दुर्भाग्य से ऐसी राष्ट्रीयता बहुत कम है, और हमारे सामने राष्ट्रीयता के दुरुपयोग के ही उदाहरण अधिक आते हैं। अपने इस संकुचित और उग्र रूप में राष्ट्रवाद मानव जाति के टुकड़े टुकड़े कर डालता है। यह राष्ट्रवाद एक देशीय होता है। इसका उद्देश्य एक खास राष्ट्र को ही लाभ पहुँचाना होता है। इसके चक्कर में आकर आदमी दूसरे देश वालों के साथ पागलों का सा व्यवहार करने लगता है। ऐसे आदमियों के, लाला हरदयाल ने कई लक्षण बताये हैं; उन में से कुछ ये हैं—

(क) वे केवल अपने ही राष्ट्र के बारे में सोचते और बातें करते हैं। दूसरे राष्ट्रों के भले की उन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। विशाल पृथ्वी के सारे नक्शे पर उन्हें सिर्फ अपना छोटा सा देश ही दिखायी देता है। ये अपने काव्यों में, अपने साहित्य में, और अपने इतिहास में दूसरे देशों का ज़िक्र अपमान, ईर्षा और घृणा के साथ करते हैं, और अपने राष्ट्र की हर बात को बढ़िया रंगों में चित्रित करते हैं। अंगरेज कवि टैनिसन फ्रांसीसियों के स्वाधीनता-प्रेम को 'स्कूल के लड़कों का जोश' कहता है। शेक्सपीयर ने इंगलैण्ड की तारीफ में अपने देश को 'तेजोमयी भूमि, मंगल देवता का निवास-स्थान' आदि कहा है। जर्मनों ने युद्धगीत में गाया है कि "परमात्मा इंगलैण्ड को दंड दे।" भारत का कवि कहता है—

"निगाहों में मेरी भारत तू ही कुल जहाँ मेरा।"

(ख) ऐसे लोग अपने ही देश का इतिहास पढ़ते हैं, और उसकी छोटी छोटी बातों को भी खूब महत्व देते हैं, बिलकुल मामूली अप्रसिद्ध तिथियों को याद रखने की चेष्टा करते हैं, लेकिन उन्हें संसार के इतिहास से कुछ मतलब नहीं होता, वे दूसरे देशों की बड़ी बड़ी घटनाओं की ओर भी ध्यान नहीं देते।

(ग) इस तरह के राष्ट्रवादी यह विश्वास करते हैं या विश्वास करने का बहाना करते हैं कि हमारा देश और हमारी जाति संसार भर में हर दृष्टि से सब से बढ़-चढ़ कर है। उसके से फल, उसका सा जलवायु, दृश्य आदि और कहीं भी नहीं मिलते। सेसिल रीड्स ने अपनी वसीअत में यह दावा किया था कि इतिहास में जितनी जातियाँ हुई हैं उनमें से अंगरेज़ जाति सब से सुन्दर है। जर्मन कवि कारनर ने गाया था—कि 'जर्मन राष्ट्र! तू सब से बढ़कर और सब से शानदार है।' डेनियल वेब्स्टर ने कहा था 'ईश्वर का धन्यवाद है, कि मैं अमरीकन हूँ।' शेक्सपीयर ने इंगलैण्ड को 'दूसरा ईडन,* आधा स्वर्ग' कहा है, यद्यपि वहाँ बेहद गर्मी और कोहरा भरा रहता है। सिलवियो पेटिको ने अपने एक गीत में कहा है—'हे इटली! क्या तू सब देशों में सब से अधिक सुशील नहीं है! क्या तू हर सुन्दर कला की जननी नहीं है!' भारतीय कवियों ने गाया है—

'महिमंडल में सुन्दरतम, यह भारतवर्ष हमारा है।'

* बाइबल के अनुसार ईडन में आदम और हव्वा नाम के सब से पहले पुरुष और स्त्री पैदा हुए थे, जिनसे, पीछे सब मानव सृष्टि पैदा हुई।

अथवा

'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा।'

सचाई तो यह है कि संसार के हर देश में कुछ गुण होते हैं, तो दोषों का भी कहीं अभाव नहीं होता, लेकिन ये तंगख़्याल राष्ट्रवादी अपने नशे में इस बात को भूले रहते हैं। बुद्धिमान आदमी का काम है कि अपने देश को इसी तरह प्यार करे, जैसे कोई सच्चा सपूत अपनी मा को प्यार करता है। उसे यह बहस करने की ज़रूरत नहीं कि मेरी मा दुनिया भर की स्त्रियों से बढ़ कर है।

(घ) इस तरह के उग्र राष्ट्रवादी इस बात का दावा करते हैं कि हमारे राष्ट्र का दुनिया के इतिहास में एक खास और निराला उद्देश्य है, और हम दूसरे राष्ट्रों से उच्च कोटि के हैं। यहूदी अपने आपको "परमात्मा की खास चुनी हुई संतान" कहते है। उनकी निगाह में सब गैर-यहूदी जातियाँ असभ्य हैं। यूनानी दूसरे देश वालों को 'बारबेरियन' यानी बर्बर कह कर उनसे घृणा करते थे। हिन्दुओं ने अपने को आर्य (श्रेष्ठ) जाति का कहते हुए अनार्य शब्द का अर्थ ही असभ्य कर डाला; दूसरी कौमों के लिए 'मलेच्छ', 'राक्षस' 'यवन' आदि शब्दों का व्यवहार करके उनकी भी यही गति की। फ्रांस के मशहूर उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो का कहना है, 'ए फ्रांस! संसार के लिए इस बात की ज़रूरत है कि तू ज़िन्दा रहे। मैं फिर कहता हूँ, मानव जाति के लिए फ्रांस ज़रूरी है।' गौरांग जातियाँ संसार भर की रंगदार जातियों को असभ्य समझती हैं, और उन्हें सभ्य करने का बीड़ा उठाए हुए हैं, और इसी 'परोपकार' के भाव से वे उन पर अधिकार जमाये हुए हैं, क्योंकि (उनकी निगाह में) ये असभ्य जातियाँ खुद अपनी हकूमत करने के

क़ाबिल नहीं है, यदि उन्हें गोरों का संरक्षण न मिले तो वे आपस में लड़-लड़ कर मर जाँय। जर्मनों ने अपनी पृथक् संस्कृति का ऐसा गर्व किया कि वे अपनी जाति के सभी आदमियों को 'मनुष्य से बढ़ कर' ('सूपरमेन') मानने लगे। अहंकार या दम्भ की सब जगह हद हो गयी। सच्ची बात यह है कि किसी राष्ट्र का स्थायी रूप से दूसरों की अपेक्षा कोई खास या उच्चतर स्थान नहीं है। सब राष्ट्र मानव जाति रूपी एक विशाल परिवार के हिस्से हैं, सभी को अपना अपना काम करना है, ऊँच नीच की सारी भावना मूर्खता पूर्ण है।

(च) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र के लिए पूर्ण और अनियंत्रित प्रभुता चाहता है। यही उनका आराध्य और इष्ट है। औलीवर वेंडल होम्स ने हर्षोन्माद में गाया था—'एक झंडा, एक भूमि, एक हृदय, एक मत और सदैव एक राष्ट्र।' इसके ख़िलाफ़ सच्चा विश्व-प्रेमी चाहता है कि आखरी शक्ति विश्व-राज्य में रहे, वह अपने देश को शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उस विशाल विश्व-राज्य का अंग समझता है। वह जानता है कि अन्तिम प्रभुत्व वाला राज्य एक और केवल एक ही होना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी एक है, और मानव जाति एक है। इसके विपरीत, संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने छोटे से राष्ट्र-राज्य और उसके प्रतीकों—झंडे और गीत आदि—के पीछे पागल रहता है। वह अपनी मातृभूमि या अपने राष्ट्र-राज्य के लिए अपनी जान न्यौछावर करने को हरदम तैयार रहता है, परन्तु उसकी खातिर वह दूसरों के प्राण लेने में तनिक भी संकोच नहीं करता।

(छ) ये लोग जनता को इस बात की शिक्षा देते हैं कि मानव समाज के संगठन का सर्वोच्च आदर्श राष्ट्रीयता है।

अपने राष्ट्र या राज्य की सीमा से बाहर की जनता के हित के लिए कोई काम करना इन्हें असम्भव और काल्पनिक मालूम होता है। ये अन्तर्राष्ट्रीयता के सब स्वरूपों को अनुचित समझते हैं और उनका विरोध करते हैं। ये धार्मिक और वैज्ञानिक संस्थाओं को भी राष्ट्रीय ढांचे में ढालने की कोशिश करते हैं। ये खेलों और कलाओं तक को राष्ट्रीय ढंग से संगठित करते हैं। आह! ये लोग सचाई सौन्दर्य और मनोरंजन तक का 'राष्ट्रीय' विभाजन करते हैं। इस तरह का व्यवहार प्रकृति के विरुद्ध है, और मानव समाज के सामूहिक हित के भी विरुद्ध है।

(ज) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र-राज्य की आराधना करता है, वह हर तरह उसकी शान बढ़ाने की फ़िकर में रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह अपने राष्ट्र के धर्म, कला, विज्ञान और साहित्य की निस्बत उसकी सैनिक विजय, राजनैतिक गौरव या आर्थिक उन्नति को अधिक महत्व देता है। पाशविक बल और धन बल ये दो बल ही राष्ट्र-राज्य के आराध्य, होते हैं। ऐसे लोग शेक्सपीयर, स्पेन्सर और गेटे की अपेक्षा नेपोलियन, नेलसन और बिस्मार्क की अधिक शानदार यादगारें खड़ी करते हैं। इन आज कल के देशभक्तों से प्राचीन मंगोल और असीरियन विजेता अधिक ईमानदार होते थे; वे अपनी विजयों की स्मति में सीधे-सीधे नर मुंडों की मीनारें खड़ी करते थे परन्तु ये उसी तरह के कामों के लिए पत्थर और धातुओं के मीनारें बनाते हैं। किन्तु जिन्हें ज्ञान-चक्षु प्राप्त हैं, जिनमें कुछ विचार-शक्ति बाकी है, उन्हें सहज ही इन पत्थरों और धातुओं में खोपड़ियाँ और हड्डियां दिखाई दे सकती हैं। ऐसा राष्ट्रवाद दुनिया के बच्चों में पाशविक भावना भर देता है, क्योंकि यह

राष्ट्रवाद पाठ्य पुस्तकों द्वारा बच्चों के हृदय पर जूलियस सीज़र, सिकन्दर, नेपोलियन, चंगेज़ ख़ां, वेलज़ली और किचनर का चित्र खैंचता रहता है, जबकि अनेक संतों, महात्माओं, जिज्ञासुओं और सच्चे लोकसेवकों को या तो भुला दिया जाता है, या उनका उल्लेख मात्र किया जाता है। इस राष्ट्रवाद के वातावरण में कविता एक बांदी या दासी का काम करती है। अच्छे अच्छे कवि अपनी योग्यता और प्रतिभा नेताओं, राजाओं, सरदारों या शासकों की सेवा में अर्पित करते रहते हैं, और योद्धाओं और विजेताओं के गीत गाकर धन और सम्मान पाते हैं। भारतवर्ष के रामायण और महाभारत, ईरान का शाहनामा, और यूनान के ईलियड और ओडेसी—किसी भी प्राचीन महाकाव्य का विचार करके देखें, उनमें दूसरी कितनी ही बातों का समावेश क्यों न हो, उनके प्रधान नायक नायिकाएँ अधिकतर युद्ध-वीर ही रहे हैं। और, आजकल के महाकाव्यों में से भी अधिकांश का मुख्य आधार युद्ध और हत्याकांड की कथाएँ ही हैं। इस उग्र राष्ट्रवाद के प्रचार के कारण आज कल बहुत से आदमियों के लिए युद्ध ही जीवन का प्रधान लक्ष्य होगया है; कवि कहता है *—

समर के गायेंगे हम गान।

समर ही जीवन का उछ्वास, समर ही यौवन का उल्लास॥
समर में पौरुष ने उद्दाम, सदा ही पाया सकल विकास॥
समर ही करता हमें महान, समर के गायेंगे हम गान॥

भारतवर्ष अपने पराधीनता-पाश को तोड़ फैंकने के लिए राष्ट्रवाद की शरण ले रहा है। यह आवश्यक और क्षम्य

* श्री० राय दुर्गाप्रसाद जी रस्तोगी, 'शुभचिन्तक' में।

भी है। फिर भी उसके झंडा-गान की नीचे लिखी पंक्ति से विचारशील हृदयों को ठेस लगनी स्वाभाविक है—

'विश्व विजय करके दिखलावें, तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।'

विश्व तो एक ही है; यदि सभी राष्ट्र उसे विजय करने लगें तो विश्व की कैसी दुर्गति हो।

उग्र राष्ट्रवाद राज्यों में युद्ध कराता है। प्रभुत्व के प्रतीक जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना हैं। राज्यों में शिक्षा और चिकित्सा के लिए स्कूल और अस्पताल चाहे न हों, हर एक राज्य में सेना अनिवार्य मानी जाती है। हर राष्ट्र में दूसरे राष्ट्रों के भले की परवाह न करना, और उनसे घृणा करना सिखाया जाता है। इसलिए एक राष्ट्र के नागरिक खूनी लड़ाइयों में भी दूसरे राष्ट्रवालों से बाज़ी ले जाना अपना कर्तव्य समझते हैं। नीति और सदाचार केवल कुछ आदमियों का कभी कभी लिखने या पढ़ने का विषय रह जाता है, व्यवहार में तो युद्ध-शास्त्र को ही प्रधानता मिलती है। और, युद्ध में जब नर-हत्या तक की प्रशंसा की जाती है तो चोरी झूठ, छलकपट तो आदि मामूली बात ठहरी। हर राष्ट्र संसार की सम्पत्ति को सब के साथ मिलकर प्रेम पूर्वक उपभोग करने के बजाय उसे स्वयं अधिक से अधिक हड़पना चाहता है। यह घृणित लालच ही सब झगड़ा कराता है। इसकी चरम सीमा आज कल के पूँजीवाद में ज़ाहिर होती है। इसके बारे में आगे लिखा जायगा। सारांश यह है कि उग्र या संकीर्ण राष्ट्रवाद विशाल मानव संगठन के मार्ग में एक भयंकर बाधा है। इसे हटाया जाना चाहिए; मनुष्यों को अपना काम और नीति विश्व-बंधुत्व और मानवता के दृष्टिकोण से निर्धारित करनी चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

साम्राज्यवाद

कोई भी देश जब किसी दूसरे देश को अपनी गुलामी में बाँधे रखता है, तब यह खुद भी आज़ाद नहीं हो सकता। इसलिए जब तक फ्राँस अपने उपनिवेशों को, अमरीका फिलीपाइन्स को और सुदूर पूरब के देशों को, और ब्रिटेन हिन्दुस्थान और अफ्रीका, कनाडा, मिश्र आदि को पूरी तरह आजाद न कर देगा और उन्हें अपनी तरक्की का खुला मौका न देगा—तब तक फ्राँस, अमरीका और ब्रिटेन सुख से जिन्दा नहीं रह सकते।

—*लेनिन*

ब्रिटेन चाहे समझे या न समझे, हमें—संयुक्त राज्य अमरीका वालों को—यह समझना चाहिए कि ऐसा संसार, जिसका आधार साम्राज्य के पुराने सिद्धान्त पर या साम्राज्यशाही पर हो, अब असम्भव है; अब यह चल नहीं सकता।

—*श्रीमति पर्ल बक*

पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि राष्ट्रवाद किस तरह सामाजिक विकास की आगे की उन्नति में बाधक होता है। अब हम साम्राज्यवाद के बारे में विचार कराते हैं। यहाँ इस बात को दोहरा देना ज़रूरी है कि प्राचीन काल के अनेक साम्राज्य उसी तरह राष्ट्र-राज्य के आगे की मञ्ज़िल रहे हैं, जैसे नगर-राज्य से आगे राष्ट्र-राज्य। जब हम साम्राज्यवाद का सामाजिक विकास की बाधा के रूप में, जिक्र करते हैं तो हमारा मतलब ऐसे साम्राज्यों से है, जिनमें एक राष्ट्र दूसरे राज्यों को अपने

अधीन करके उनकी धन सम्पत्ति को लूटता है, वहाँ की जनता का शोषण करता है, और, अपने आदमियों के लिए सुख और विलासिता की सामग्री जुटाने को दूसरे देशों की जनता का दमन करता है।

साम्राज्य शब्द से आम तौर पर सैनिक चढ़ाई की तरफ ध्यान जाता है, लेकिन व्यापारियों और पुरोहितों (पादरियों) ने भी साम्राज्य खड़े करने में पूरा पूरा हिस्सा लिया है। एक देश का व्यापारी दूर देशों में जाकर वहाँ के शासकों या सरदारों को तरह तरह की चीज़ें दिखाकर उनका मन मोह लेता है, और वहाँ छोटी मोटी व्यापारिक सुविधाएँ हासिल करके अपने देश वालों के लिए मैदान तैयार करता है। इसी तरह पादरी या उपदेशक दूसरे देश के लोगों को धर्म और परलोक का सन्देश सुनाकर अपने साथ अपने धर्म वालों के लिये सहानुभूति का वातावरण बना लेता है। इसके बाद साम्राज्य चाहने वाले राष्ट्र को उस देश की भौगोलिक स्थिति, वहाँ की जनता की कमज़ोरी, वहाँ के सैनिक रहस्य आदि का पता लगाने में कठिनाई नहीं रहती। वह मौके की ताक में लगा रहता है, और ठीक मौका पाते ही अपने सिपाहियों और अपने शस्त्रास्त्रों का उपयोग करके उस देश पर अपना अधिकार जमा लेता है।

आजकल साम्राज्यों का स्वरूप ज्यादहतर आर्थिक हो गया है, उनका आधार दूसरे देश वालों की मेहनत और उनके साधनों से लाभ उठाना और उन्हें चूसना हो गया है। इस साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। यह पूँजीवाद का ही बदला हुआ रूप है। थोड़े से शब्दों में पूँजीवाद का अथ है— 'अपने लाभ के लिए माल तैयार करने की वह विकसित उन्नत व्यवस्था, जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार

किसी एक या इनेगिने विशेष व्यक्तियों का हो, राज्य का या आम लोगों का नहीं।' यह व्यवस्था खासकर यूरोप की औद्योगिक क्रांति के बाद प्रचलित हुई है, जिसका समय मोटे तौर से १७५० ई० से १८५० ई० तक कहा जा सकता है। इससे पहले यूरोप में किसानों की जमीन उनके अपने अधिकार में थी। उसमें वे आज़ादी के साथ खेती करते थे और उसकी उपज को अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकते थे। इसी तरह उस समय कारीगरों के पास अपने औज़ार होते थे। जो चीज़ें वे बनाते, उनके मालिक वे खुद ही होते थे। उन चीज़ों की बिक्री से जो आमदनी होती थी, उसपर उनका ही अधिकार होता था। धीरे धीरे इस व्यवस्था में फ़रक़ आया। ज़मीन पर ऐसे लोगों ने अधिकार कर लिया जो खुद खेती न कर, दूसरों से खेती कराने लगे। ये लोग 'ज़मींदार' कहे जाने लगे। इन्हें बिना मेहनत किये काफ़ी आमदनी होने लगी, और खेती करनेवालों को बहुत मेहनत करने पर भी अपना गुज़ारा करना मुश्किल होगया।

उद्योग धंधों में भी परिवर्तन हुआ। पहले सब कारीगर अपना अपना सामान तैयार करने और बेचने में स्वतंत्र थे। अठारहवीं सदी के मध्य से यह बात न रही। भाफ की शक्ति और सायन्स की दूसरी ईजादों से बड़े बड़े कल कारखाने बनने लगे, जिनके मालिक बड़े बड़े धनवान और साहूकार ही हो सकते थे। इन कल कारखानों में माल बड़े पैमाने पर और सस्ता तैयार होने लगा। बाज़ारों में ज्यादहतर उसकी ही खपत होने लगी। मामूली कारीगरों का हाथ से तैयार किया हुआ माल महँगा होने के कारण, उसके सामने न टिक सका। उन्हें अपना निर्वाह करना कठिन हो गया। बहुतों ने अपना स्वतंत्र पेशा छोड़ कर

कल कारखानों में नौकरी या मज़दूरी करना शुरू कर दिया। इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था में समाज मोटे तौर पर दो वर्गों में बँट जाता है। एक वर्ग में बहुत थोड़े आदमी होते हैं, इनके पास ही सारी भूमि और पूँजी—कल कारखाने—आदि होते हैं, ये इतने धनवान हो जाते हैं कि बहुत से मज़दूरों को अपने पास रख कर उनसे काम ले सकते हैं। दूसरा वर्ग, जिसमें अधिकतर जनता होती है, ऐसे लोगों का होता है, जिन बेचारों के पास अपनी मेहनत करने की शक्ति के अलावा, और कोई सम्पत्ति नहीं होती। पहला वर्ग पूँजीपति या साहूकार वर्ग कहलाता है, और दूसरा श्रमजीवी या मज़दूर।

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पूँजीवाद का दुनिया पर क्या असर पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि पूँजीपति जो माल पैदा करते हैं, उसमें उनका मुख्य उद्देश्य जनता की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं होता बल्कि जैसे बने अधिक से अधिक नफा कमाना होता है। इसके लिए उनमें माल ज्यादह से ज्यादह परिमाण में, और सस्ते से सस्ता तैयार कराने की होड़ होती है। इसीलिए वे मजदूरों को काम की दृष्टि से कम मजदूरी देते हैं। अब एक तरफ तो माल बहुत तैयार होता है, और दूसरी तरफ मज़दूरों की (और, दुनिया में ज्यादह तादाद मज़दूरों की ही होती है) माली हालत ऐसी नहीं होती कि वे काफी माल खरीद सकें। इस तरह अपने देश में माल की खपत कम होती है, और गोदामों में माल बढ़ता जाता है। धीरे धीरे माल खराब होने की नौबत आने लगती है। इसलिए उसे सस्ता बेचने और आगे माल की पैदावार घटाने का विचार करना पड़ता है। कई कारखाने तो बन्द ही हो जाते हैं। कारोबार और लेन देन कम हो जाने से बैङ्क फेल होने लगते हैं। इन बातों से पूँजीवादी व्यवस्था

की विफलता साबित होती है। जब ऐसी बातें इकट्ठी सामने आती है, तो कहा जाता है कि आर्थिक संकट आ गया।

यूरोप में पहला बड़ा आर्थिक संकट नेपोलियन के युद्धों के बाद सन् १८२५ में आया था। उसके बाद सन् १८३६, १८४७, १८५७, १८६६, १८७३, १८७७, १८६०, १६००, १६०७, १६२१, १६२६ और १६३६ में एक एक करके बारह आर्थिक संकट आये। इस समय महायुद्ध चल रहा है। इसके फल स्वरूप आने वाले आर्थिक संकट से बचने के लिए पुनर्निमाण की योजनाएँ बन रही हैं।

हमने पूँजीवादी पद्धति में बहुत अधिक तैयार माल गोदामों में जमा हो जाने और उसके खराब होने की बात कही है। माल की निकासी करने, और आगे नया माल तैयार करने और उसे बेचकर नफा कमाने का सिलसिला बनाये रखने के लिए यह उपाय काम में लाया जाता है कि ऐसे दूसरे देशों के बाजारों पर अपना अधिकार जमाया जाय, जो उनका माल खरीदते रहें और उन्हें कच्चा सामान देते रहें। पूँजीपतियों का अपने पैसे के बल पर देश के शासन में बड़ा प्रभाव होता है। व्यवस्थापक सभाओं के बहुत से मेम्बर उन्हीं की मदद से चुनाव में जीतते हैं। पैसे के बल पर कई मंत्रियों से उनका गहरा सम्बन्ध होता है। यहाँ तक कि अपने यहाँ की सरकार द्वारा दूसरे देशों से युद्ध की घोषणा करा देना उनके बायें हाथ का खेल होता है। जब कोई राज्य दूसरे पर धावा करता है तो अकसर उसमें पूँजीपतियों का छिपा हाथ रहता है। इन पूँजीपतियों में से कुछ, हथियारों आदि के कारखानों के मालिक होते हैं। निदान, पूँजीवादी राष्ट्र हमेशा इस बात की कोशिश करते रहते हैं कि उनके तैयार माल की खपत के लिए कुछ बाज़ार सुरक्षित

रहें, इन बाज़ारों में किसी दूसरे का दख़ल न हो। इसीलिए ये उन देशों को पूरी तरह अपने अधीन रखना चाहते हैं।

कुछ राष्ट्र अपनी पूँजी का और कोई बेहतर उपयोग न पाकर उसे दूसरे देशों को उधार दे देते हैं, और इसके बदले में वहाँ व्यापार करने, कारखाने खोलने और अपना तैयार माल खपाने की ख़ास सुविधाएँ हासिल कर लेते हैं। ये राष्ट्र जो क़र्ज़ देते हैं; वह हमेशा उत्पादक कार्यों के लिए ही नहीं होता। यदि कोई राजा अपने भोग विलास और ऐश आराम के लिए कर्ज़ ले तो इसमें साम्राज्यवादी राष्ट्र को कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि इसमें उसे लाभ दिखाई देता है। उत्पादक कामों के लिए कर्ज़ लेने से तो वह देश अपने यहाँ तैयार माल बनाने और स्वावलम्बी होने की योजना करता, अब वह तैयार माल के लिए अपने ऋणदाता पर आश्रित रहता है। आर्थिक साम्राज्य-वाद का उद्देश्य दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करने के बजाय, वहाँ की जनता के व्यापारिक और औद्योगिक जीवन को अपने हाथों में ले लेना होता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद का खास जोर, सन् १८७५ से १६०० तक रहा। उस समय यूरोप के राष्ट्रों और संयुक्त राज्य अमरीका ने संसार भर पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की। हर राष्ट्र चाहता था कि आगे बढ़ कर जल्दी से जल्दी बाजी मार लूँ। हालैण्ड और बेलजियम के छोटे छोटे राष्ट्रों ने अपने से साठ गुने और अस्सी गुने भूखंड को अपने अधीन कर डाला। इस साम्राज्य-विस्तार में इंगलैंड सबसे बढ़ कर रहा। सन् १६३६ में महायुद्ध आरम्भ होने से पहले इंगलैण्ड, वेल्स, स्काटलैण्ड और उत्तरी आयर्लैंड का क्षेत्रफल मिला कर एक लाख वर्ग मील और आबादी पांच करोड़ थी। उसी समय

ब्रिटिश साम्राज्य का कुल क्षेत्रफल एक सौ चौतीस लाख वर्ग मील और जनसख्या पचास करोड़ थी। यह बात ध्यान देने की है कि केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और न्यूफाउंडलैंड के आज़ाद उपनिवेशों की गोरी जनता केवल दो करोड़ है जो कि संसार के सौवें भाग से कम है; और यह इतनी सी जनता पृथ्वी का सातवाँ भाग घेरे हुए है, गैर-यूरोपियन या रंगदार आदमियों का इन्होंने अपने अपने यहाँ आना रोक रखा है। इससे घनी आबादी वाली कौमों के लिए जमीन की कमी हो रही है और दूसरे राष्ट्रों या साम्राज्यों की ब्रिटिश साम्राज्य से ईर्षा बढ़ रही है। पाठक जानते हैं कि यूरोप में इटली और जर्मनी को राष्ट्रों का रूप मिलने में देर हुई। इस अर्से में यूरोप के दूसरे राष्ट्रों ने संसार भर में अच्छी अच्छी जमीनों पर कब्ज़ा जमा लिया। इटली और जर्मनी अपने उपनिवेश बनाने में पिछड़ गये। संगठित होने पर इनमें भी लालसा पैदा हुई। फिर जापान भी मैदान में उतर पड़ा। यह, दुनिया की भूमि और बाजार हथियाने की, लालसा ही महायुद्ध के रूप में प्रकट होती है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, जब तक कुछ कौमों में यह साम्राज्यवाद की भावना बनी रहेगी, तब तक न तो पृथ्वी के सब आदमियों के भोजन वस्त्र और रहने की जगह का ही ठीक प्रबन्ध हो सकेगा, और न महायुद्धों का ही अन्त होगा।

कुछ राज्यों के मिलकर संघ-राज्य बनाने को हमने सामाजिक प्रगति के रूप में माना है, परन्तु किसी मामूली राज्य का साम्राज्य रूप धारण करना स्वाभाविक प्रगति नहीं है। साम्राज्य के विविध भागों में से कुछ स्वाधीन और कुछ पराधीन होते हैं। उनका आपस में ठीक मेल नहीं बैठता। फिर स्वाधीन भागों की भी एक दूसरे से ऐसी आर्थिक या सामाजिक घनिष्ठता नहीं होती,

जैसी उनकी अपने पास के दूसरे राज्यों से हो सकती है। मिसाल के तौर पर कहाँ इंगलैण्ड, और कहाँ उसके उपनिवेश केनेडा, आस्ट्रेलिया आदि। केनेडा का सम्बन्ध कुदरती तौर पर जितना संयुक्त राज्य अमरीका से, और आस्ट्रेलिया का जितना जापान से हो सकता है, उतना इन देशों का इंगलैण्ड से नहीं हो सकता। इस महायुद्ध में यह दिखायी दे गया कि आस्ट्रेलिया जापान से अपनी रक्षा करने में इंगलैण्ड पर निर्भर नहीं रह सकता। सम्भव है, महायुद्ध के बाद नयी व्यवस्था में इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय।

कुछ साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ कहा करते हैं कि हमारी जन-संख्या बढ़ रही है, और बढ़ने वाली आबादी के लिए हमें उपनिवेशों की जरूरत है। पर इस कथन में कोई सार नहीं है। सन् १९१३ में जर्मनी के अधिकार में दस लाख वर्ग मील भूमि थी, फिर भी अधिकाँश जर्मन अमरीका और केनेडा में ही जाकर बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार में बहुत से उपनिवेश हैं, फिर भी वहाँ के आदमी बहुत बड़ी तादाद में अमरीका में ही जाकर रहते हैं। फिर अगर किसी राष्ट्र के आदमी योग्य, मेहनती और ईमानदार हैं, तो वे चाहे जहाँ रह सकते हैं, उन्हें राजनैतिक सत्ता के सहारे की जरूरत नहीं होती। उपनिवेशों पर कब्जा करने का असली मतलब यही है कि उनका धन चूसा जाय और पूँजीपतियों का लाभ हो। इसीलिए साम्राज्यवादी अपने अधीन देशों को आजाद नहीं होने देते, और बहुत मजबूर किये जाने पर ही उनके किसी अधिकार को स्वीकार करते हैं।

साम्राज्यवादियों का कहना है कि उन देशों को तो आज़ाद करना ठीक है, जो इसके योग्य हों। पर जो अयोग्य हैं, उन्हें आज़ाद कैसे किया जा सकता है, उन्हें पहले योग्य बनाने की

ज़रूरत है। साम्राज्यवादी भाषा में 'योग्य बनाने' का अर्थ क्या होता है, यह जानने के लिए पाठकों को दो मिसालें याद रखनी चाहिएँ—पहली यह कि अंगरेज़ शासक बार बार हिन्दुस्तान की स्वराज्य सम्बन्धी अयोग्यता की बात कहते हुए नहीं लजाते, यद्यपि उनको यहाँ शासन करते इतना समय बीत गया। इसी तरह अमरीका फ़िलीपाइन द्वीपों को ४५ वर्ष में भी स्वराज्य के योग्य न बना सका; आखिर, जापान ने उनपर अधिकार जमा कर अमरीका को उन्हें योग्य बनाने की चिन्ता से ही मुक्त कर डाला।

फिर, योग्यता अयोग्यता को जाँचने की कसौटी क्या है? क्या एशिया और अफ्रीका का निवासी या काले रंग का होना अयोग्यता मानी जाय? इसका तो कोई उपाय ही नहीं। क्या आपसी मतभेद या लड़ाई झगड़े के कारण किसी देश को अयोग्य ठहराया जाय? फिर तो सारा यूरोप आज़ादी के अयोग्य साबित हो चुका है। ये बातें कहाँ नहीं होतीं! पराधीन देशों में शासक खुद अपने स्वार्थ के लिए इन झगड़ों को प्रोत्साहन देते रहते हैं। क्या शिक्षा का काफी प्रचार न होना अयोग्यता का लक्षण माना जाय? पर अंगरेजों के शासन में भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार जिस मंद गति से हुआ है, उसके हिसाब से तो हर बालिग स्त्री पुरुष को ऊंचे दर्जे की नहीं, मामूली शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी सदियों का समय चाहिए। क्या आत्म-रक्षा को स्वराज्य की योग्यता का माप समझा जाय? शक्तिशाली साम्राज्यों के सामने कोई पराधीन देश अपनी रक्षा कैसे कर सकता है! और, अब तो बड़े बड़े साम्राज्यों को भी महायुद्ध के समय दूसरे देशों की सहायता के लिए हाथ पसारना पड़ता है। निदान, योग्यता अयोग्यता की बात

में कोई दम नहीं है।

साम्राज्यवादी शासक अपने साम्राज्य का विनाश करना नहीं चाहते। उनमें जो खरे स्वभाव के हैं, वे अपनी इच्छा को छिपा कर भी नहीं रखते। श्री० चर्चिल के ये शब्द बिल्कुल साफ हैं—'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए सम्राट् का प्रधान मंत्री नहीं बना हूँ।' ज़ाहिर है कि यह दूसरा महायुद्ध भी साम्राज्यवादियों की आखें खोलने के लिए काफी नहीं है। वे अब भी अपने अहंकार और नशे में मस्त हैं। पर वे सुनें या न सुनें, साम्राज्यवाद का अन्त निश्चित है!

साम्राज्यवादी, संसार भर में सभ्यता, एकता और शान्ति के प्रचार का दम भरा करते हैं। लार्ड हेलीफेक्स ने, जो लार्ड इरविन के नाम से हिन्दुस्तान में गवर्नरजनरल रह चुके हैं, जनवरी १९४४ में वाशिङ्गटन में भाषण करते हुए कहा कि 'मैं ख्याल करता हूँ कि हम इस बात का खासा दावा कर सकते हैं कि हमने भारतवर्ष को युद्ध के बजाय शान्ति, फूट की जगह एकता, अराजकता की जगह सुव्यवस्था, और स्वेच्छाचारी शासकों की ग़ैरजिम्मेवर हुकूमत की जगह क़ानून प्रदान किया है।' यह दावा कितना उपहासजनक और निस्सार है, इस बात को हर विचारशील भारतवासी अच्छी तरह जानता है। भारत-मंत्री श्री० अमेरी ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'ब्रिटिश साम्राज्य दूसरी मानवी संस्थाओं की तरह अपूर्ण वस्तु भले ही हो, पर मुझे विश्वास है कि मानव स्वतन्त्रता और न्याय कायम करने के लिए जो जो साधन संसार ने अब तक देखे हैं, उनमें यह सबसे बड़ा है।' अमेरी साहब और उनके साम्राज्यवादी भाईबन्द चाहे जो विश्वास करें, साम्राज्य के शोषण और पीड़न का सच्चा अनुभव भुक्तभोगी अधीन देशों को ही हो

सकता है। जूता पहनने वाला ही यह जानता है कि वह कहाँ कहाँ काटता है। हम केवल मानवता-प्रेम के नाते इस विशाल साम्राज्य के वकील अमेरी साहब से पूछते हैं—आपके साम्राज्य ने अमरीका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के तथा महासागरों में फैले हुए विविध टापुओं के मूल निवासियों से कैसा व्यवहार किया? भारतवर्ष आदि में अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कैसे कैसे उपाय काम में लाये गये? जिन एशियायी देशवासियों ने स्वतन्त्रता का झंडा उठाया, उनके लिए कैसे कैसे कायदे क़ानूनों की रचना की गयी? इत्यादि।

क्या साम्राज्यवाद शान्ति कायम रखने में सहायक होता है? हर साम्राज्य दूसरे साम्राज्यों को आशङ्का की नज़र से देखता है। इसका नतीजा यह है कि साम्राज्यों में समय समय पर युद्ध होते रहते हैं। फिर यदि दो तीन साम्राज्यों का मेल हो जाय तो क्या कहना? गत वर्ष जब ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री० चर्चिल ने यह कहा कि ब्रिटिश और अमरीकन राष्ट्र अपनी रक्षा और सब के हित के लिये शांति, न्याय और शान से साथ साथ चलेंगे, तो अमरीका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल बक ने स्पष्ट लिखा था कि "रंगीन लोगों के लिये इंगलैण्ड और अमरीका के शान से साथ साथ चलने का अर्थ गोरे रंग के लोगों का भयानक साम्राज्यवाद है—यह उससे भी अधिक भयानक है, जितना विजेता जापान भयानक हो सकता है।"

महायुद्ध के बाद के एंग्लो अमरीकन साम्राज्य की योजनाएँ बन रही हैं। सुप्रसिद्ध निग्रो लेखक जार्ज पेडमोर ने अपने एक लेख में कहा है।—"देश—बटवारे की नयी योजना में अमरीका वाले पूँजी लगावेंगे, और अंगरेज राजनैतिक और शासन सम्बन्धी नियंत्रण कायम रखेंगे। इस तरह ब्रिटेन और अमरीका के

पूँजीपति मिल कर उपनिवेशों का शोषण करेंगे। जब तक ब्रिटेन शक्तिशाली रहा तब तक उसने इस तरह का सहयोग कभी स्वीकार नहीं किया, किन्तु साम्राज्य पर संकट के कारण इस तरह का सहयोग ज़रूरी हो रहा है। ब्रिटेन अपने हाथ में राजनैतिक नियंत्रण रखेगा, जिसका यह अर्थ हुआ कि कुछ न कुछ आर्थिक नियंत्रण भी उसके हाथ में रहेगा ही।"

यह नया साम्राज्यवाद अधिक बलवान होता दिखायी देता है, इसीलिए यह मानव जाति के विकास के लिए और अधिक बाधक होगा। परन्तु इसमें स्थिरता नहीं। सम्भव है, मानव समाज को साम्राज्यवाद की बुराई का अच्छी तरह परिचय मिलने के लिए वह अधिक बड़े और विकराल रूप में दुनिया के सामने आवे। आखिर, उसका अन्त होना ज़रूरी है, और वह होगा।

हम यह मानते हैं कि साम्राज्यवाद से कुछ लाभ भी हुआ है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही सही, साम्राज्यों ने दूर दूर तक सभ्यता की बाहरी ज़रूरतों को पूरा किया। पराधीन देशों के लिए रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, समुद्री तार, जहाज और वायुयान आदि की व्यवस्था की। इसके मूल में कोई पर-हित या कल्याण की भावना भले ही न हो, और अधिकांश में थी भी नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन साधनों द्वारा पराधीन देशों के आदमियों में विचारों का आदान-प्रदान बढ़ा, उनमें अपनी परिस्थिति के ज्ञान के साथ बाहरी दुनिया का भी ज्ञान बढ़ा। उनके कुछ अंध-विश्वास हटे, और पुराने विचार बदले। उनमें एक तरह की जागृति हुई। उन्होंने नए युग का संदेश सुना और संगठन करने और आजाद होने का बीड़ा उठाया। इस तरह उनमें जो नयी राष्ट्रीय भावनाएँ पैदा हुईं, उसका कारण

एक अंश तक साम्राज्यवाद है। हम पहले कह चुके हैं, और फिर साफ़ कर देना चाहते हैं कि साम्राज्यवाद का यह उद्देश्य नहीं था कि वह पराधीन देशों की जनता का हित साधन करे। उसका तो एकमात्र ध्येय उन्हें अपने अधीन और कमजोर बनाये रख कर उनसे अपना स्वार्थ पूरा करना था। उसने पराधीन देशों में जो भी वैज्ञानिक या यातायात सम्बन्धी उन्नति की, वह अपने सैनिक तथा आर्थिक फ़ायदे के लिए की। हाँ, साम्राज्यवाद के न चाहने पर भी, गौण रूप से ये बातें एक सीमा तक पराधीन देशों के उत्थान में सहायक हुई। पर साम्राज्यवाद को इसका कोई श्रेय नहीं।

साम्राज्यवाद ज्यों ज्यों बढ़ता गया, उसका स्थूल परिणाम विनाशकारी महायुद्धों के रूप में संसार के सामने आया। मानव जाति अपना हित चाहती है, उसे भयंकर विनाश से बचना है, तो साम्राज्यवाद का अन्त करना होगा। मनुष्य-समाज को अपनी मुक्ति के लिए साम्राज्य के सभी प्रतीकों को, जैसे साम्राज्यिक झंडे, साम्राज्यिक गान, साम्राज्यिक नारों को समाप्त कर देना है। जब तक किसी भी एक देश के अधीन कोई दूसरा प्रदेश या उपनिवेश आदि रहेगा, जब तक कोई भी जाति या राष्ट्र साम्राज्यवादी भावना रखेगा, दुनिया में स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। मानव सभ्यता और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए यह ज़रूरी है कि संसार के हर देश की आज़ादी का असूल माना जाय; नहीं तो एक महायुद्ध के दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा—यह सिलसिला चलता ही रहेगा। महायुद्धों के बारे में विस्तार से अगले अध्याय में लिखा जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

महायुद्ध

—o—

अगर आदमी अपनी बुद्धि और चरित्र-बल को युद्ध के रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बंदूक से लड़ाई लड़ने में कोई ख़ास फ़र्क़ नही है।

—चियांग काई शेक

हम महायुद्ध को समाप्त करें, नहीं तो यह हमें समाप्त कर देगा।

—अज्ञात

युद्ध के रूप में मनुष्य जाति को चिरकाल से एक भयानक रोग लगा हुआ है। मनुष्य संधि और समझौतों की बात करता है, फिर भी लड़ना नहीं छोड़ता। श्री० एम० वेलवर्ट ने बताया है, कि ईसा पूर्व सन् १५०० से ईस्वी सन् १८६० तक लगभग साढ़े तीन हज़ार वर्ष में आठ हज़ार से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ हुई हैं। ये सब हमेशा के लिए की गई थीं। पर इन संधियों में से हर एक का औसत जीवन-काल सिर्फ दो वर्ष ही रहा। सृष्टि की शुरू की हालत में आदमी छोटे छोटे समूहों या क़बीलों में रहता है, और एक क़बीले की दूसरे क़बीले से लड़ाई होती रहती है। पारिवारिक जोवन में, एक ही परिवार के लोगों में कभी कभी काफी झगड़ा होजाता है। नगर-राज्यों का निर्माण होने पर एक नगर-राज्य दूसरे नगर-राज्य से लड़ता है। कालान्तर में बड़े बड़े राज्यों का या संघ-राज्यों का संगठन होता है। ये बड़े राज्य अपनी रत्ता के लिए बड़े बने थे, पर एक ओर तो ये राज्य अपने से छोटों के लिए संकट पैदा

करने वाले वाले सिद्ध हुए, और दूसरी ओर खुद इनका जीवन भी निष्कंटक नहीं रहा; क्योंकि इनसे भी बड़े राज्यों का संगठन हुआ, या दो तीन राज्य मिल कर किसी राज्य से युद्ध ठानने लगे।

मानव जाति का युद्धों से पिंड नहीं छुटा। अब महायुद्ध होते हैं, जिनका क्षेत्र विश्वव्यापी और रूप पहले से कहीं अधिक विकराल होता है। प्राचीन काल के योद्धा एक सीमित मैदान में लड़ते थे, दोनों दल आमने सामने होते थे। मारने वाला यह जानता था कि मैं किसे मारने का प्रयत्न कर रहा हूँ। लड़ाई के मैदान से बाहर के आदमियों को—किसानों, मज़दूरों, दूकानदारों, बच्चों, स्त्रियों और बूढ़ों को—चिन्तित होने की ज़रूरत न थी। वे अपना समय पहले की तरह बिताते रहते थे। किन्तु अब युद्ध में कोई सुरक्षित नहीं। जब दो राज्यों में लड़ाई ठन गयी तो फिर उनके योद्धा दूसरे राज्य के सभी नागरिकों से शत्रु का सा व्यवहार करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके वार का शिकार कौन होता है। हवाई बम-वर्षक यंत्र की भाँति अंधाधुन्ध अपना संहार-कार्य करते रहते हैं—चाहे निर्दोष बालक दयालु उपदेशक, परोपकारी चिकित्सक, मा बहिन के समान प्यारी महिला, कोई मित्र या रिश्तेदार ही मौत के घाट क्यों न उतर जाय। इसी तरह विरोधी राज्य की सभी भूमि नष्ट करने योग्य समझी जाती है, चाहे वहाँ खेती, कल, कारखाने, स्कूल अस्पताल, मन्दिर या गिरजाघर कुछ ही क्यों न हों। राजधानियाँ और कल कारखानों को तो खास तौर से लक्ष्य बनाया जाता है।

हम सभ्यता-युग में रह रहे हैं। हमारा यह कैसा दुर्भाग्य है कि हम इस पीढ़ी में एक नहीं, दो महायुद्धों को देख चुके हैं;

छोटे छोटे युद्धों की तो बात अलग ही रही। तीस वर्ष पहले सन् १९१४ में हमने पिछले महायुद्ध का अनुभव किया था। पाँच वर्ष तक भयङ्कर मारकाट हुई थी। अनेक देशों में शोक छा गया था। आदमी अपने होनहार बेटों, नर-रत्नों, के विछोह से दुखी थे। घर घर मातम छाया हुआ था। जिस परिवार का कोई निकट या दूर का सम्बन्धी मरा या ज़ख्मी नहीं हुआ, वह भी आर्थिक अभावों के कारण त्रस्त था। उस समय सब शान्ति की बातें कहते और सुनते थे। बड़े-बड़े आदमी दूसरों को यह सतोष दिलाने में लगे थे कि यह युद्ध दूसरे युद्धों का अन्त करने के लिये लड़ा गया है, अब सब सुख की नींद सो सकेंगे, किसी दूसरे युद्ध का दृश्य न देखना पड़ेगा। जहाँ तहाँ कुछ अच्छे अच्छे मस्तिष्क सुन्दर योजनाएँ बनाने में लगे थे। राजनीतिज्ञों के भाषण सुनने और लेख पढ़ने के योग्य थे। पर वह सब आश्वासन कहाँ गया? मालूम होता है, सब ज़बानी जमाखर्च था। स्मशान वैराग्य था। किसी मृतक को स्मशान ले जाते समय आदमी बड़ी आध्यात्मिकता, पारलौकिकता त्याग और वैराग्य की बातें किया हैं। पर बहुधा वह बातें दाह-क्रिया तक ही रहती हैं, उसके बाद उनका रूप बदल जाता है। यहाँ तक कि घर लौटते लौटते कितने ही आदमी वही पुरानी रोजमर्रा की सांसारिक बातों में लग जाते हैं। यही व्यवहार हमने पिछले यूरोपीय महायुद्ध की अन्त्येष्टि पर किया।

संधिपत्र की रोशनाई सूखने भी न पायी कि नये, बढ़िया औरअधिक घातक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की बातें चलने लगीं। बुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग इसलिये होने लगा कि किस तरह आगामी युद्ध की रचना हो—वह युद्ध जो इतना महान्, इतना संहारक और व्यापक हो कि सन् १९१४ का युद्ध उसके

सामने कुछ चीज न गिना जाय !

महायुद्ध का डर बराबर बना रहा। हर संघर्ष को देख कर यह आशंका होती रही कि कहीं यह महायुद्ध का रूप धारण न करले। १६३६ निकला, तो ग़नीमत समझा, सन् १६३७-३८ भी किसी तरह बिताया, पर बकरे की मा कब तक खैर मनाती ! सन् १६३६ ने मनुष्य-जाति को चिन्ता-ग्रस्त कर ही डाला; फिर वही २५ वर्ष पहले की बातें। १६१४ का सा दृश्य ! उससे भी अधिक विकराल रूप में। नर-संहार अधिक, आर्थिक संकट भी अधिक और, हाँ, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें भी अधिक।

इन महायुद्धों से संसार को कितनी हानि पहुँचती हैं, इसका पूरा बयान करना कठिन है। उसके लिए एक पूरा ग्रन्थ ही चाहिए। हम तो यहाँ संक्षेप में कुछ खास-खास बातों का ही जिक्र करते हैं। * विचारवान पाठक अपने मन में शेष चित्र स्वयं पूरा कर लें।

(१) युद्ध से जनता का भयंकर विनाश होता है। हम युद्धको 'पाशविक' कहते हैं, पर पशु इतने निर्दयी और झगड़ालू नहीं होते, जैसा मनुष्य होता है। अगर जंगली पशु बोलना और लिखना जानते तो वे हमारे युद्धों को ख़ास कर एक ही जाति वालों के युद्धों को देख कर कहते—'ऐसा युद्ध मनुष्यों में होता है, हम पशुओं के लिए तो यह बुरा है, त्याज्य है।' सन् १६१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध में, सरकारी हिसाब से ८५,३८,३१५ आदमी मारे गये और २,१२,१६,४५२ जख्मी हुए। उस महायुद्ध के फल-स्वरूप कितने बालक अनाथ हुए, कितनी स्त्रियाँ विधवा हुई, कितने आदमी सन्तानहीन हुए, और कितने लोग तरह तरह के रोगों

---

* हिन्ट्स-आन-सेल्फ कल्चर' के आधार पर।

के शिकार हुए, इसका हिसाब ही कहीं नहीं! उन चार साल में मानव जाति अपने कितने नौजवान कवियों, लेखकों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, शिक्षकों, चिकित्सकों और लोकसेवी महापुरुषों से वंचित हो गयी! और, अब हम एक उससे भी अधिक विकराल युद्ध में ग्रस्त हैं।

(२) महायुद्ध से धन की महान क्षति होती है। यह खड़ी खेतियों को उजाड़ता है, और कारखानों को नष्ट करता है। यह लोगों की शक्ति को उपज के कामों से हटा कर हत्या करने में लगाता है, और आगे के उत्पादन में बाधा डालता है। यह राष्ट्रों के आर्थिक साधनों को अनुत्पादक और व्यर्थ के शस्त्रास्त्रों में नष्ट करता है। पिछले यूरोपीय महायुद्ध में कुल ५५,४८,६०,००,००० पौंड खर्च हुए। दूसरे महायुद्ध की तो बात ही क्या! अकेले अमरीका ने सन् १९४४-४५ में ९९ अरब ७६ करोड़, ९० लाख, यानी लगभग १ खरब डालर के खर्च का सालाना बजट बनाया था। अब रही निर्धन भारतवर्ष की बात। यहाँ सन् १९४४-४५ में ३६३ करोड़ १८ लाख रुपये के खर्च का अनुमान किया गया, जिसमें से २७६ करोड़ ६१ लाख रु० अकेले रक्षा कार्य के लिए थे, और केवल ८६ करोड़ ५७ लाख मुल्की खर्च के लिए, जिस में अधिकारियों के वेतन, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि सभी आजाते है। इस खर्च को पूरा करने के लिए कई टैक्स बढ़ाये गये, फिर भी ७८ करोड़ २१ लाख रुपये की कमी रह ही गयी। यह कल्पना की जा सकती है कि युद्ध के कारण संसार के सब देशों में कितना धन स्वाहा होता है, और इसका परिमाण कहाँ तक दिन दिन बढ़ता जा रहा है। महायुद्ध से मकान, मंदिर, गिरजा, पुस्तकालय, विज्ञानशालाएँ, प्रयोगशालाएँ, चित्रशालाएँ और विद्यालय भी नष्ट होते हैं;

यह तो क़र्ज़े के सूद की तरह है।

(३) महायुद्ध आदमी में निर्दयता को बढ़ाता है, और उसे बनाये रखता है। यह पाशविकता और अमानुषिकता का पर्यायवाची है। असीरिया के आदर्श योद्धा ने एक शिला-लेख में अपना गर्व इस तरह प्रकट किया है—'उनके (दुशमन के) आदमियों, जवानों और बूढ़ों को मैंने कैद कर लिया, कुछ के मैंने हाथ पाँव काट डाले, और कुछ के नाक, कान और होंठ। जवानों के कानों का मैंने एक टीला बनाया और बूढ़ों के सिरों का एक मीनार बनाया। मैंने उनके शहर के सामने उनके सिरों का विजय-स्मारक खड़ा किया। लड़कों और लड़कियों को मैंने आग की लपटों में जला डाला।' आजकल शिला-लेखों में ऐसी बात लिखना शायद असभ्भता समझा जाता है, पर इससे असलियत में फ़रक नहीं आता। युद्ध के समय आदमी निर्दयता करने में असभ्य से असभ्य आदमी से बाजी ले जाने की कोशिश करता है। आज कल यूरोप के रंगरूटों को नीचे लिखी हिदायतें दी जाती है—'मुठभेड़ के समय शत्रु की आँखों में दो अंगुलियां घुसेड़ना और उन्हें ज़ोर लगाकर दिमाग तक लेजाना; संगीन या किर्च की नोक घुसा कर उसे घुमाते रहना, जिससे ज़ख़्म बन्द न होने पाये; कटार से पेट को ऊपर से नीचे तक चीर डालना; जो आदमी ज़ख़्मी होकर ज़मीन पर पड़े हों, उनको खतम करने के लिए, उनकी छाती पर घुटना रखकर उनके सिर को ऐसे जोर का झटका देना, जिस से उनकी रीढ़ की हड्डी के जोड़ खुल जायँ।'

(४) महायुद्ध से आदमी की नसल का पतन होता है। मज़बूत हृष्ट-पुष्ट आदमी भरी जवानी में छीन लिये जाते हैं। सन्तान पैदा करने के लिये घटिया दुर्बल आदमी रह जाते हैं।

हर लड़ाकू राष्ट्र उस आदमी की तरह होता है, जो अपना कीमती खून गंवाता रहता है। युद्ध के बाद जो पीढ़ी आती है, वह आम तौर पर औसत दर्जे से कम डील डौल वाली होती है। युद्ध से राष्ट्र की धीरे धीरे आत्महत्या होती है।

(५) महायुद्ध आज़ादी और लोकतंत्र का शत्रु है। उसके कारण हर राज्य में गैर-ज़िम्मेदार नौकरशाही और स्वेच्छाचारिता कायम होने की प्रवृत्ति होती है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी होता है कि सत्ता किसी एक खुदमुखतार आदमी या गुट्ट के हाथ में रहे। इस लिए समाचार-पत्रों पर 'सेंसर' (प्रतिबंध) लगा दिये जाते हैं। लोगों के भाषण और सभा सम्मेलनों में रुकावटें खड़ी कर दी जाती हैं। युद्ध के समय सरकार ही सब कुछ होती है; व्यक्ति का कोई स्थान नहीं रहता, और खासकर स्वतंत्र विचार वाले या बुद्धिमान आदमियों का तो उस में काम ही नहीं।

(६) महायुद्ध से स्त्रियों का दर्जा गिर जाता है। युद्ध में जिन बातों से सफलता मिलती है, वे पाशविकता और मर्दानगी हैं। पवित्रता, प्रेम, संयम, नम्रता, पर सेवा आदि शान्ति के समय चमकने वाले सौम्य गुणों से लड़ाकू राष्ट्रों में घृणा की जाती है। युद्धवाद का नायक आमतौर पर मद्य मांस और व्यभिचार का शौक़ीन अभिमानी योद्धा ही होता है। अगर वह जीतता है, तो उसके दुर्गणों की उपेक्षा की जाती है। औरतें युद्ध में भाग कम लेती हैं, इसलिए युद्ध-रत समाज में उनका दर्जा नीचा रहने वाला ही है।

(७) युद्ध से राज्य में आर्थिक विषमता बढ़ती है, जिससे अन्त में जाकर धनी और ज्यादह धनवान, और गरीब और ज्यादह गरीब हो जाते हैं। आम आदमियों की हालत

हर सूरत में खराब ही होती है। इंगलैन्ड ने अनेक युद्ध लड़े, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य कायम किया, लेकिन उसकी राजधानी लन्दन में महलों के साथ साथ गरीब लोगों के मैले कुचैले तग और तारीक घर मौजूद हैं। हर देश में युद्ध से अमीरी और गरीबी की चरम सीमाएँ पैदा होती हैं, जिसका नतीजा समाज में दुख और पतन होता है।

(८) महायुद्ध से सामाजिक और राजनैतिक सुधार का काम रुक जाता है। शस्त्रास्त्र आदि युद्ध-सामग्री के लिए और निरुपयोगी सैनिकों के लिए राष्ट्र की आमदनी का इतना ज्यादह हिस्सा खर्च होजाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग आदि के लिए बहुत कम रह पाता है। अनेक राज्यों को तो इतना क़र्ज़ा लेना पड़ता है कि बाद में बर्षों तक उसका भारी व्याज चुकाते रहना पड़ता है। आज कल के एक युद्ध-पोत के खर्चे से कितने स्कूल, अस्पताल अनाथालय, उद्योगशालाएँ, आदि बन सकते हैं! साम्राज्यों का व्यवहार एक ऐसे पागल का सा है जो आतिशबाज़ी में इतना खर्च कर डालता है कि पीछे उसके खाने पीने के लिए भी नहीं बचता। इस के अलावा युद्ध का एलान करने वाला साम्राज्य अपने श्रमजीवियों के आर्थिक या राजनैतिक सुधार का आन्दोलन एक तरफ उठा कर रख देता है। वह सब देशभक्तों से युद्ध में ध्यान लगाने का अनुरोध करता है।

युद्ध एक भयंकर पागलपन है, जो मानव सभ्यता पर बार बार प्रहार करता और उसकी प्रगति को रोकता है। इसका अन्त किया जाना ही चाहिए। आम लोगों में युद्ध के बारे में अनेक भ्रम फैले हुए हैं, उन्हें दूर करना ज़रूरी है। इसके लिए

आगे दी हुई बातों पर विचार करना उपयोगी होगा।*

कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध सदा होता रहा है, और होता रहेगा। कुछ दार्शनिक इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, उनके मत से युद्ध स्वाभाविक है, और मानव विकास के लिए अनिवार्य है। वास्तव में यह बात नहीं है। स्वयं युद्धवादी भी यह नहीं कहते कि सब युद्ध अनिवार्य हैं। इसके खिलाफ़, वे अधिक हथियारों का आग्रह इसी आधार पर करते हैं कि उनसे शान्ति रखने और युद्ध रोकने में सहायता मिलती है।

शरीर के साथ रोग अनिवार्य हैं। फिर भी हमने स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छे अच्छे उपायों द्वारा प्लेग, कोढ़ और हैजा जैसी बीमारियों की रोक थाम कर दी है। कभी कभी उपाय असफल रहते हैं, परन्तु इससे हम उन्हें छोड़ नहीं देते, बल्कि उनका और कड़ाई से उपयोग करते हैं। कभी कभी हमारे राष्ट्रीय विधान गृह-युद्ध को रोकने में असमर्थ रहते हैं, फिर भी हम विधान का उपयोग करते ही हैं। हमें युद्धों को अनिवार्य समझकर उन्हें रोकने के प्रयत्नों में कमी न करनी चाहिए।

कहा जाता है कि आदमी प्रकृति से ही झगड़ालू है, और उसकी प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। यह ठीक नहीं है। शिक्षा और संस्कारों से प्रकृति में भी धीरे धीरे सुधार अवश्य होता रहता है। नर-भक्षण, मनुष्य की कुर्बानी, दासता की प्रथा, बहुपत्नित्व, विधर्मियों को ज़िन्दा जलाना इसके उदाहरण हैं। आचरण के ये परिवर्तन आमतौर पर ऐसे विचारों के परिवर्तन से होते हैं, जैसे क्या काम करने योग्य हैं, कौन सा रुचिकर

*नार्मन एंजल की 'प्रिफेस टु पीस' नाम की अंगरेजी पुस्तक के आधार पर।

या अच्छा लगने वाला है, किसके अन्त में मनुष्य जाति का हित होगा।

पहले धार्मिक भेद भाव के कारण अनेक युद्ध होते थे, वे बहुत ही बुरे थे। यह अनिवार्य नहीं था कि वे धार्मिक युद्ध जारी रहें, क्योंकि वे बन्द हो गये। जिस तरह यह ज़रूरी नहीं कि धार्मिक आवेश से युद्ध हो, उसी तरह यह भी ज़रूरी नहीं कि राष्ट्रीय भावना युद्ध का कारण हो। इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड के निवासी किसी समय एक दूसरे से लड़ा करते थे, अब मिल कर शांति से रहते हैं। इस तरह फ्रांसीसी और अंगरेज़ केनेडा में, और अंगरेज़ और डच (हालैण्ड निवासी) दक्षिण अफ्रीका में मिलकर रहते हैं। यदि ये लोग अपनी अपनी जाति की भक्ति में रहते तो शान्ति असम्भव हो जाती। पर इन्हें समझ आ गई है, इसी तरह दूसरे लोगों को आ सकती है।

कितने ही आदमी यह समझते हैं कि युद्ध से कई तरह के लाभ होते हैं। कुछ का ख़याल है कि युद्ध से, राष्ट्र की बढ़ती हुई आबादी के लिए भोजन की कमी पूरी होती है। परन्तु अगर सारे संसार का इकट्ठा हिसाब लगाया जाय तो इतनी पैदावार होती है कि लोगों के खाने पहनने के सामान में कमी नहीं रहती। आजकल के औद्योगिक और वैज्ञानिक संसार की समस्या पैदावार की कमी नहीं है, बल्कि अत्यधिक पैदावार है, यानी बटवारे की कुव्यवस्था, मुद्रा-प्रणाली और विनिमय के साधनों का मेल बैठाने में कठिनाई आदि। अपने अधीन बड़े बड़े प्रदेश रखने वाले इंगलैन्ड जैसे राज्यों में भी ये समस्याएँ ऐसी ही जटिल हैं, जैसी स्वीडन, स्विटज़रलैण्ड और डेनमार्क जैसे छोटे छोटे प्रदेश रखने वाले राज्यों में। इससे ज़ाहिर है कि ये समस्याएँ युद्ध की विजय से हल नहीं होतीं, इनके वास्ते समझौते

और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की ज़रूरत है।

यह कहा जा सकता है कि आजकल मशीनों के द्वारा कारखानों में माल बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होता है, उसे बेचने के लिए युद्ध जरूरी है। परन्तु इसमें कुछ सचाई नहीं। कोई भी राष्ट्र विजयी होने पर अपनी विजय का उपयोग अधिक माल बेचने में किस तरह कर सकता है? सन १६१८ में इंगलैण्ड ने जर्मनी पर विजय प्राप्त की थी। किन्तु उससे अंगरेज़ कारखाने वालों की, अपना माल बेचने की, योग्यता बढ़ी नहीं; बल्कि और कम हो गयी। लड़ाई के बाद हर एक राष्ट्र की हालत पहले से खराब होती है। लाखों योग्य आदमियों के मरने या ज़ख्मी हो जाने से और बहुत सा धन खर्च हो चुकने के कारण उसे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का सामना करना पड़ता है। कितने ही पूँजीपति बरबाद हो जाते हैं, उनके पास वैसी सामग्री पैदा करने के साधन नहीं रहते, जिसकी युद्ध के बाद लोगों को ज़रूरत होती है। उनका कारोबार चौपट हो जाता है। ऐसी हालत में किसी भी राष्ट्र के पूँजीपति युद्ध का समर्थन करें तो कहना होगा कि उनमें जाने या अनजाने आत्महत्या का विचार काम कर रहा है। यह ठीक है कि युद्ध के समय सरकार लड़ाई का सामान बहुत खरीदती है, और जिन कारखानों में यह सामान तैयार होता है, उन्हें खूब आमदनी होती है; परन्तु इनकी बढ़ी हुई आमदनी का खासा हिस्सा सरकार टैक्स के रूप में ले लेती है, कुछ थोड़े से कारखाने वालों को ही विशेष नफा रहता है। इनेगिने लोगों के मालामाल हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि युद्ध पंजीपतियों के लिए लाभकारी होता है, या इससे उनका स्वार्थ सिद्ध होता है।

अगर किसी बड़े शहर में विकराल अग्निकांड हो जाय तो

कुछ पूँजीपतियों को उससे लाभ होगा; मकान बनाने का सामान तय्यार करने वाले सब उद्योग धंधों की धूम मच जायगी। इससे अग्निकांड को पंजीपतियों का हितसाधक नहीं कहा जा सकता, फिर दूसरे आदमियों की तो बात ही क्या!

शस्त्रास्त्रों के बारे में भी लोगों में बड़ी गलतफहमी या गैर-समझ फैली हुई है। कहा जाता है कि हथियारबन्द आदमी बलवान होता है। इस बात में क्या सार है? जब कोई गृहस्थ केवल अपने ही बल पर निर्भर रहता है, तो ज्योंही कोई उससे ज्यादह ज़ोर वाला हो जाता है, वह उसे पराजित कर देता है। अगर वह गृहस्थ (या राष्ट्र) किसी संगठित समाज का अंग होता है तो लुटेरे या आक्रमणकारी को केवल एक व्यक्ति की ही शक्ति का सामना नहीं करना पड़ता, बल्कि सारे समाज का सामना करना पड़ता है, और हर व्यक्ति अधिक सुरक्षित रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हमें इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए, और इसी सिद्धान्त का उपयोग करना चाहिए।

कुछ आदमी कहा करते हैं कि हथियार रक्षा के लिए होते हैं। परन्तु सब जानते हैं कि अब तक हथियारों ने यह उद्देश्य पूरा नहीं किया। उन्होंने उन लाखों आदमियों की, रक्षा नहीं की, जो युद्ध में मारे गये; न उन्हीं लाखों आदमियों की, जो युद्ध में जख्मी और अंगहीन हुए; न उस व्यापार और समृद्धि की ही रक्षा की, जो नष्ट हो गयी; न उस लोकतंत्र की रक्षा की, जिसके न होने से जगह जगह तानाशाहों (डिक्टेटरों) की महामारी फैली हुई है; न जनता की सैनिकवाद से ही रक्षा की, जो पिछले महायुद्ध की अपेक्षा अब अधिक निर्दयतापूर्ण है; और न राजनैतिक निर्भयता की ही रक्षा की, क्योंकि वह अब पहले से भी अधिक संकट में है।

क्या शान्ति के लिए हथियार ज़रूरी हैं ? यदि सब राष्ट्र शस्त्रों का परित्याग करदें तो युद्ध की समस्या ही हल हो जाय। सृष्टि के अब तक के इतिहास से यह स्पष्ट हो गया है कि शस्त्रास्त्रों के उपयोग से शान्ति कायम नहीं होती। अब शस्त्र-परित्याग के विषय में गम्भीरता से क्यों न सोचा जाय ? अगर हम सचमुच शान्ति चाहते हैं तो उसके लिए हम उचित कीमत देने से—शस्त्र-परित्याग से—क्यों इनकार करें।

महात्मा गांधी के ये शब्द (जो उन्होंने भारत के जंगी लाट की इस बात का विरोध करते हुए कहे थे कि 'भारतवर्ष फौजी मुल्क है') भली भांति विचार करने योग्य हैं—"पोलैण्ड की असंदिग्ध सैनिक वीरता, उससे बढ़ कर जर्मनी और रूस की सेनाओं के सामने क्या काम आयी ? अगर इन सम्मिलित शक्तियों की चुनौती का सामना, बदले की भावना बगैर, मृत्यु के मुख में जाने के निश्चय के साथ किया जाता तो क्या निशस्त्र पोलैण्ड की इससे बुरी हालत होती ? क्या आक्रमणकारी शक्तियाँ उस पोलैण्ड का, जो कि इसकी अपेक्षा निश्चय ही अधिक शूरवीर होता, इससे ज्यादह सर्वनाश करतीं ? बहुत सम्भव तो यह है कि निर्दोष व्यक्तियों की हत्या होते देख आक्रमणकारी शक्तियों की मूलभूत मानव भावना जाग उठती, और वे उनका कत्लेआम करने से रुक जातीं।"

अहिन्सा के विषय में विशेष विचार एक अलग अध्याय में किया जायगा।

तीसरा खंड

कहाँ पहुँचना है ?

बीसवाँ अध्याय

हमारा लक्ष्य

यह जहाज़ कौन से देश को जायगा ?
उसके सभी यात्री जानते हैं कि वह देश दूर बहुत दूर है ।
वह कौन से देश से यात्रा करके आ रहा है ?
वे केवल यही कह सकते हैं कि वह भी यहाँ से बहुत दूर है ।

—०—

नगर-राज्य और राष्ट्र-राज्य सब भावी विश्व-राज्य में बाक़ायदा घुल मिल जायँगे । मनुष्य जाति सदा ही पचास या अधिक राज्यों में बँटी नही रहेगी । वह संसार भर में एक राजनैतिक संगठन के रूप में संगठित होगी । हमारा उद्देश्य एक राज्य, एक झंडा, एक भाषा, एक नीति, एक आदर्श, एक प्रेम, और एक जीवन है । —*लाला हरदयाल*

आदमी बहुत समय से अपने विकास की यात्रा तय करता आ रहा है । पिछले पन्नों में हमने देखा कि कौन कौनसी मंजिलें तय हो चुकी हैं, और अब हम किस स्थान पर आ पहुँचे हैं । एक खास बात जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाता है, वह यह है कि हमारी यात्रा अभी बाकी है । यदि हम पीछे की ओर निगाह डालें तो मालूम होता है कि वह स्थान बहुत दूर रह गया

है, जहाँ से हम रवाना हुए थे, हम बहुत आगे बढ़ आये हैं, हमने बहुत तरक्की की है. और हम अपनी प्रगति पर गर्व कर सकते हैं। परन्तु यदि हम सामने देखें, और विचार करें कि हमें कहाँ पहुँचना है तो हमें मालूम होगा कि हम अभी अपने लक्ष्य स्थान से बहुत दूर हैं। जिस जगह हम अब आ पहुँचे हैं, यहाँ ठहरना असह्य है। हमें जल्दी से जल्दी आगे बढ़ना है। आगे बढ़े बिना हमें शान्ति नहीं मिल सकती। हमें आगे बढ़ना ही होगा—इसमें चाहे जितना कष्ट सहना पड़े और चाहे जो बाधाएँ सामने आवें।

हम यह भी नहीं भुला सकते कि हमारे रास्ते में एक नहीं, कई एक बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं। उन्हें दूर करने के लिए बड़े पुरुषार्थ और हिम्मत की ज़रूरत है। किन्तु जब हम यात्रा पर चल पड़े हैं, और हमने इतनी यात्रा तय कर ली है. तो अब कुछ विघ्नों के भय से हम अपनी बाकी यात्रा स्थगित नहीं कर सकते। हमने कमर कस ली है, और हम उस बाकी यात्रा को भी पूरा करके रहेंगे। साफ बात तो यह है कि यात्रा हमें पूरी करनी ही पड़ेगी, चाहे हम राज़ी से करें या नाराज़ी से। और, बेहतर यही है कि हम हँसी खुशी, प्रेम से और लगन से अपनी आगे की यात्रा तय करें।

अच्छा, हमें कहाँ पहुँचना है ? हमें किस तरह की सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक स्थिति हासिल करनी है ? जिस विश्व-राज्य की हम बात करते हैं, वह कैसा है ?

हमारी हालत उस आदमी की सी है जो किसी तीर्थ-स्थान की यात्रा के लिए चल रहा है। अभी तीर्थ-स्थान कुछ दूर है। रास्ते में कुछ ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं; कहीं-कहीं कोई पहाड़ी टीला भी है। इनकी आड़ होने के कारण तीर्थ-स्थान अच्छी तरह

नज़र नहीं आता। कभी-कभी तो सड़क का मोड़ आजाने से तीर्थ-स्थान का दिखायी देनेवाला हिस्सा पहले से भी कम रह जाता है। कहीं कहीं रास्ते में नदी नाले के कारण कुछ घूम कर जाना पड़ता है, अथवा कंकरीली जमीन या कांटे आदि आजाने की वजह से रास्ता चलना कठिन हो जाता है, चाल धीमी पड़ जाती है। परन्तु ऐसी बातों से श्रद्धालु यात्री निराश नहीं होता। उसने यात्रा शुरू कर दी है, वह तीर्थ तक पहुँच कर ही रहेगा।

मानव समाज भी अपनी इस महान यात्रा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा किये हुए है। उसे विश्व-राज्य में पहुँचना है। कभी कभी विश्व-राज्य कुछ ओझल हो जाता है; कभी कभी बहुत समय तक यात्रा करने के बाद मालूम होता है कि रास्ता बहुत कम तय हुआ है, हम विश्व-राज्य के कुछ भी नजदीक नहीं पहुँच पाये हैं; वह उतनी ही दूर मालूम होता है, जितनी दूर पहले था। यही नहीं, मालूम होता है कि वह और ज्यादह दूर हो गया है। पर इन बातों से घबराने की ज़रूरत नहीं। हमें चिन्ता या फ़िक्र करने का अवकाश ही न होना चाहिए। हमारा कर्तव्य तो आगे चलते रहना ही है। हम इस डर को भी मन में न लावें कि हम शायद अपने लक्ष्य स्थान तक न पहुँच पावें, बीच में ही हमारी शक्ति समाप्त हो जाय। यदि ऐसा ही हो तो भी कुछ फ़िक्र की बात नहीं। हमारे चलने से, हमारे पाँव पड़ने से यदि रास्ते की ऊँची नीची मिट्टी कुछ हमवार हो जाती है, काँटे और कंकर कुछ दब जाते हैं, रास्ता कुछ सुगम हो जाता है, हमारे पीछे आने वालों के लिए कुछ आसानी हो जाती है, तो यह कुछ कम बात नहीं है। अगर हमारे साहस या पुरुषार्थ को देखकर हमारे उत्तराधिकारियों के मन में साहस और पुरुषार्थ आजाय तो हम अपने परिश्रम को

सफल मानेंगे। यदि हमारा भौतिक शरीर रास्ते के गड्ढों और खाइयों को भरने में काम आ सके तो इससे अच्छी और क्या बात। बस! प्यारे साथियो? बढ़े चलो, रास्ते के कङ्करों, पत्थरों और कांटों को कुचलते हुए चले चलो। मित्रो! चले चलो।

विश्व-राज्य को अग्रदूतों की आवश्यकता है। एक अग्रदूत होने का सौभाग्य हम प्राप्त करें। चाहे हम इस समय किसी राष्ट्र-राज्य के ही रहने वाले हों, पर हमारे मन में भावना विश्व-राज्य की ही हो। जाति, राष्ट्र, देश, धर्म मजहब, सम्प्रदाय और वर्ग आदि का भेद भाव छोड़कर हम सब से प्रेम करें, सब का स्वागत करें, सब का भला चाहें, सब के साथ अच्छा व्यवहार करें; हम पूँजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की दूषित संस्थाओं का समर्थन न करें, इन से बचें। आजकल की पद्धति का समर्थन करने वाली व्यवस्थापक सभाओं, दलों, पार्टियों, अदालतों, सेनाओं और सम्प्रदायों में हम भाग न लें। जहाँ तक हमारा अपने आप से सम्बन्ध है, हम अपने को विश्व-राज्य का नागरिक समझें; सोते, जागते, चलते फिरते, खाते पीते, हम विश्व-राज्य का चिन्तन करें और उसके आगमन की प्रतीक्षा करें। प्रभात काल का सूर्य अभी क्षितिज से नीचे है, अभी हम उसका दर्शन नहीं कर सकते, परन्तु उषा उसकी सूचना दे रही है। हम उषा की आराधना करने वाले भी होंगे, तो हमारी संतान, या उस संतान की संतान, अवश्य सूर्य के दर्शन से कृतार्थ होगी—वह सूर्य जो इस अखंड और अविभाज्य विश्व-राज्य को अलोकित करेगा और समस्त मानव जाति को सुख शान्ति और समृद्धि प्रदान करेगा।

हमारे कुछ भाई अधीर होकर कह रहे हैं, "तुम जिस विश्व-राज्य की बात करते हो, वह कैसा है, उसका आकार

प्रकार किस तरह का होगा, उसके नियम कायदे कैसे होंगे, वहाँ की व्यवस्था, शासन पद्धति और न्याय प्रणाली किस ढङ्ग की होगी ?" इस तरह के सवालों का ठीक ठीक और ब्यौरेवार जवाब देना कठिन है। यह भी कह सकते हैं कि इसका अभी समय नहीं आया है। विश्व-राज्य हमसे कुछ फासले पर है, इसलिए हम उसका पूरा चित्र नहीं खैंच सकते।

हमरी हालत उन लोगों की सी है, जिन्होंने अब से कई सदियों पहले संसार का नक़्शा बनाया था, उन्होंने अपनी तरफ से मेहनत करने में कुछ कसर बाकी न रखी थी, तो भी उन बेचारों को संसार के अनेक भागों का पता न था। कई जगह जहाँ उन्होंने समुद्र समझा था, पीछे जमीन का होना मालूम हुआ। उन पुराने नक़्शों से यह तो पता चला कि अमुक देश हमारे देश से किस दिशा में है, उत्तर में है, या उत्तर-पूरबया उत्तर पच्छिम में। परन्तु वह निश्चित रूप से मालूम नहीं होता था कि वह देश कितने फासले पर है, या उसकी सीमाएँ या शक्ल कैसी है। वे नक़्शे बिल्कुल अधूरे थे! आजकल का पाठक उन्हें देखकर उनके बनाने वालों का मजाक उड़ायेगा। तो भी उन नक़्शों ने अपने ज़माने में बड़ा काम दिया! उन से लोगों को जब यह मालूम हुआ कि अमुक देश हमसे इस दिशा में है तो इस आधार पर कुछ खोज करने वालों ने यात्रा की और उस देश का पता लगाया, उसका फासला और उस की ठीक ठीक सीमा का हिसाब लगाया। इसके बाद जो नक़्शे बने, उनमें पहले से ज्यादह जानकारी दी गयी। इसी तरह पीछे आने वाले अपने पूर्वजों के बनाये हुए नक़्शों में सुधार करते रहे, और इसी का यह नतीजा है कि अब दुनिया भर का करीब करीब ठीक ठीक नक़्शा हमारे सामने है।

यही बात विश्व-राज्य के बारे में है। आज का लेखक कुछ मोटी मोटी बातों का ही अन्दाज़ कर सकता है। उससे ज़्यादह आशा न करो; जो कुछ वह कह सकता है, उसे कह लेने दो। उसकी बातों में सुधार संशोधन की बहुत ज़रूरत है, इसमें सन्देह ही क्या है। पर यह काम तो धीरे धीरे होता रहेगा, आगे आने वाले बुद्धिमान लेखक अपने ज्ञान और तजरुबे से नये और ब्यौरेवार ग्रन्थों की रचना करेंगे. और इस समय की कृतियों को शायद संग्रहालय या अजायब घर में रखने के योग्य भी न समझेंगे। जो हो, कुछ तो इसलिये कि हम विश्व-राज्य से दूर हैं, और कुछ इसलिये भी कि हमारी योग्यता बहुत कम है, हम विश्व-राज्य का ब्यौरेवार वर्णन नहीं कर सकते। हम उसकी कुछ मोटी मोटी बातों का, उसकी धुधंली सी रूप रेखा का ही विचार करेंगे। हमें ख़ास ज़ोर इसी बात पर देना है कि हम उसके लिये क्या कर सकते हैं, हमें क्या करना चाहिए, और मानव समाज के उस भावी संगठन के लिए हमें कैसा बनना चाहिए।

इक्कीसवाँ अध्याय

मानव जाति की एकता

यह पृथ्वी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ। —अथर्ववेद

जिस तरह कोई हवाई जहाज़ चलाने वाला ज़मीन से बहुत ऊंचा उठता है, और तमाम जमीन को एक निगाह में देख लेता है, उसी तरह हमें जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की रुकावटों और बन्धनों से

ऊपर घटना चाहिये और सब आदमियो, औरतों और बच्चों को प्रेम भरी निगाह से देखना चाहिए। कोई भी हमारे प्रेमी हृदय से बाहर न रहे। —*हरदयाल*

संसार में केवल एक ही जाति है, और वह है मानव जाति। —*रवीन्द्र*

मैं एक मनुष्य हूँ, और मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यों से मेरी सह-जातीयता है। कोई माता पिता के समान मुझसे स्नेह करता है। किसी को मैं भाई बहिन या मित्र मानता हूँ। कोई मेरे मोहल्ले, गांव, नगर या देश का होने के कारण मुझे प्यारा है। किसी को मैं निकट सम्बन्धी मानता हूँ, किसी को दूर का। किसी से मेरा घनिष्ठ संबंध है, और किसी से बहुत कम। मालूम होता है कि जीवन का कोई न कोई तार मुझ में और दूसरों में समान रूप से पिरोया हुआ है। यदि किसी दूसरे को कुछ कष्ट होता है तो थोड़ी बहुत चोट मेरे हृदय पर भी लगती है। जो जो बातें उसे अप्रिय लगती हैं, उनमें से अधिकांश को मैं अपने लिए भी अच्छा नहीं मानता। शेक्सपीयर का शाइलक हमारी भावना को अच्छी तरह प्रकट कर रहा है।

जब शाइलक को यहूदी और सूदखोर कह कर उससे घृणा दिखाई गयी तो वह कैसी भावपूर्ण बात कहता है—'मैं यहूदी हूँ! क्या यहूदी के आँखें नहीं होतीं? क्या यहूदी के हाथ, पैर, नाक, कान, अंग, आकार, प्रेम और वासनाएँ नहीं होतीं? जिस भोजन से ईसाई पलता है, उसी से यहूदी पलता है। जिन हथियारों से ईसाई को चोट लगती है, उनसे यहूदी को भी चोट लगती है। यहूदी को भी वे ही बीमारी लग सकती हैं, उसे उन्हीं चीजों से आराम मिलता है, उसे भी

सर्दी में ठंड लगती है, और गरमी की मौसम में गरमी मालूम होती है, ठीक उसी तरह जैसे किसी ईसाई को। अगर तुम सूई चुभोओ तो क्या हमारे शरीर से खून नहीं निकलता? यदि तुम गुदगुदी करो क्या हमें हंसी नहीं आती? अगर तुम हमें ज़हर दे दो तो क्या हम मरगे नहीं!'

जब किसी आदमी के मन में किसी दूसरी जाति या धर्म वाले को नुकसान पहुँचाने या तकलीफ देने का विचार आवे तो उसे शाइलक की ऊपर कही हुई बात याद कर लेनी चाहिए।

इस पृथ्वी पर सवा दो सौ करोड़ आदमियों का निवास है। जब मैं एक परम पिता परमात्मा को मानता हूँ और सब मनुष्यों को उसकी संतान कहता हूँ तो हर व्यक्ति, वह चाहे जहाँ रहने वाला, और चाहे जिस जाति या रंग का हो, मेरा भाई या बहिन है। इस नाते से मेरा उसके प्रति अवश्य कुछ न कुछ कर्तव्य है। यह भी सम्भव है कि ब्रह्मांड में हमारी पृथ्वी जैसी और भी अनेक पृथ्वियाँ हों, परन्तु उनके विषय में हमें कुछ मालूम नहीं है; इसलिए उनके सम्बन्ध में हम अपने कर्तव्य से भी बरी हैं।

'धरती माता' हमारी बोलचाल का शब्द है। हम धरती (पृथ्वी) को माता मानते हैं। हम उसे वन्दना करते हैं। उसने हमें जन्म दिया है, उसके दिये हुए पदार्थों से हमारा पालन-पोषण और रक्षण होता है। इस माता की गोद में हम खेले हैं, और इसके संरक्षण में रह कर हम अपनी जीवन-लीला पूरी करते हैं। हमारे मरने पर यही हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देती है। हम सब इस पृथ्वी माता की संतान हैं; बालक हो, या जवान या बूढ़ा, पुरुष हो या स्त्री, काला हो या गोरा, माता सब की माता ही है। उसकी सब सन्तान बराबर हैं।

वह सब की मातृभूमि है।

मानव जाति एक है। सब पुरुष और स्त्रियाँ वास्तव में एक ही जाति के हैं। सब एक ही ढंग से पैदा होते हैं। इस कसौटी पर एक देश के आदमी दूसरे देश के आदमियों से जुदा नहीं हैं। अमरीका में काले दासों के गोरे स्वामियों ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि हबशी लोग असल में मनुष्य जाति के नहीं हैं, उन्हें किसी दूसरी जाति का समझना चाहिए, और मनुष्यों से नीची श्रेणी का यानी उप-मानव कहना चाहिए। उनका यह दावा, जो उनके अहंकार और लोभ से पैदा हुआ था, ठहर न सका। शारीरिक गठन और जीवन-विज्ञान दोनों की दृष्टि से पांचों महाद्वीपों के सब पुरुषों और स्त्रियों में कोई फ़रक नहीं है। शरीर-शास्त्र के आधार पर मानव जाति की एकता से कोई इनकार नहीं कर सकता, किसी को इसमें सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं।

सब आदमी, यहाँ तक कि जंगलों, पहाड़ों, और बर्फ के मैदानों में रहने वाले भी, बोल सकते हैं। बोलना मनुष्य मात्र पर लगी हुई एक छाप है। सब आदमी और औरतें किसी न किसी तरह के औज़ारों को काम में लाती हैं। सब में थोड़ा बहुत सोचने का गुण है। सब कुदरती आफतों और रुकावटों से बच निकलने की ही कोशिश नहीं करते, बल्कि उन रुकावटों पर विजय पाने का भी प्रयत्न करते हैं।

चाहे जितना कम या चाहे जितना ज्यादह, सब आदमी गिन सकते हैं, विचार कर सकते हैं, अनुमान कर सकते हैं, नतीजा निकाल सकते हैं, और उद्देश्य-सिद्धि के लिए साधनों का उपयोग कर सकते हैं। सब किसी न किसी तरह के समूह में रहते हैं; सब अपने परिवार वालों से—माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री,

बच्चों से स्नेह करते हैं। सब आदमी और सब औरतें ब्रह्मांड के सम्बन्ध में कुछ न कुछ दार्शनिक विचार रखते हैं—यह कैसे पैदा हुआ, कौन इसका पैदा करने और रक्षा करने वाला है, इसका क्या उद्देश्य है। सब लोगों के जीवन में किसी न किसी तरह का क्रम पाया जाता है; वे सब, कुछ नियमों का पालन करते हैं; सब के कुछ रीति रिवाज, नेगचार, दस्तूर होते हैं। सब अपने समूह सम्बन्धी कुछ बातों की याद रखते हैं, भूतकाल का विचार करते हैं, और कुछ परम्पराओं को मान देते हैं। सब की दृष्टि भविष्य की ओर रहती है।* सब अपनी संतान के हित का विचार करते हैं, और उसके लिए जहाँ तक हो सकता है, इन्तज़ाम करते हैं।

मैं एक मनुष्य हूँ। और, मनुष्य में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा दो बातें अधिक विकसित रूप में होती हैं—(१) सोच विचार, बुद्धि, विवेक, या मस्तिष्क का कार्य, और (२) मिल जुलकर रहना, संगठित होना, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम, या हृदय का कार्य। ये बातें संसार के सभी आदमियों में पायी जाती हैं। मुझे गर्व करना चाहिए कि इन गुणों को रखने के कारण मैं मानव जाति का सदस्य हूँ। हर व्यक्ति को यह भली भाँति अनुभव करना चाहिए कि वह मानव जाति का सदस्य है। उसका एक अंग है। सब पृथ्वी माता की संतान हैं।

---

* कितने ही आदमी तो भावी सुख के लिए वर्तमान काल में अनेक कष्ट सहने को भी तत्पर रहते हैं। अनेक आदमी अपनी इस समय की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी करके भावी आवश्यकताओं के लिए द्रव्य संचय करते हैं। भारतवर्ष आदि देशों में अगले जन्म तक की चिन्ता की जाती है।

मानव जाति की एकता एक गहरी सचाई है। दुर्भाग्य से यह बात बाहरी निगाह से मान्य नहीं की जा सकती, कारण यह है कि मानव जाति में एकरूपता नहीं है, मनुष्यों में आन्तरिक एकता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ हैं। इन विभिन्नताओं ने मानव जाति की तात्विक एकता को छिपा रखा है। यहाँ तक कि इन्होंने एक दूसरे से घृणा और युद्ध को जन्म दे दिया है। हमें इन ऊपरी भेद-भावों से सतर्क रहना चाहिए; ऐसा न हो कि इनके कारण हम पृथ्वी भर के देशों के आदमियों, औरतों और बच्चों के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना को कम कर दें। भेद-भाव पैदा करने वाली बातों में दो मुख्य हैं:—(क) जाति, और वर्ण या रंग और (ख) भाषा और राष्ट्रीयता। इनके विषय में अन्यत्र विचार किया जा चुका है। इन भेदों का मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी के अनेक भाग एक दूसरे से बहुत दूर हैं। एक जगह के आदमी को दूसरी जगह के आदमी के पास जाने आने में बहुत समय लगता है—और बड़ी कठिनाई होती है। इसीलिए दूर दूर के आदमियों में मिलना-जुलना और विचार-विनिमय बहुत कम हो पाता है। इस तरह दूरी और समय की बाधाओं ने मानव जाति को अलग अलग या जुदा-जुदा मालूम होने वाले टुकड़ों में बाँट रखा है।

मनुष्य चिरकाल से समय और दूरी का बंधन हटाने की कोशिश कर रहा है। उन्नति करते करते अब नई नई वैज्ञानिक ईजादों और यंत्रों की सहायता से उसने इसमें बहुत कुछ कामयाबी हासिल कर ली है, और आगे के लिए उसका मार्ग और भी अधिक साफ हो गया है। पण्डित श्यामविहारी दुबे

लिखते हैं कि "टेलीविज़न (दूर के चित्रों को पर्दे पर दिखाने) के आविष्कार के बाद मनुष्य दूर से दूर और कम से कम समय में देखने, सुनने, सूंघने, छूने, बोलने, स्वाद लेने आदि के अनुभव करने की ओर है। और, यही बातें समाज की व्यवस्था को बदल देंगी। राजनैतिक स्थिति में भी अंतर हो जायगा। भविष्य के युग में मनुष्य एक यंत्र को अपने सामने रखकर संसार के दूसरे छोर ही नहीं वरन् दूर आकाश में ठहरे हुए ग्रहों के प्राणियों से सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। अपने शब्दों को दूर देश के व्यक्ति को सुना सकेगा, उसे स्वयं देख सकेगा, उसके स्वांस-प्रस्वांसों का अनुभव करेगा, उसके शरीर पर लगी हुई सुगन्ध का अनुभव करेगा, स्पर्श-अनुभव जैसे चुंबन और आलिङ्गन का भी अनुभव उतना ही सरल हो जायगा जितना प्रत्यक्ष बैठे हुए व्यक्ति के साथ होता है।"*

इन सब बातों का मनुष्य के जीवन पर जो प्रभाव पड़ेगा, उस से यहाँ प्रयोजन नहीं। हमारे विचार करने का मुख्य विषय यह है कि विश्व-राज्य के निर्माण में ये बातें कहाँ तक सहायक होंगी। बहुत बड़े राज्यों के निर्माण में एक बड़ी बाधा समय और दूरी की रही है, ज्यों ज्यों यह समस्या हल होती गई है, बड़े बड़े राज्यों के कार्य संचालन की असुविधाएँ घटती जाती हैं। इस समस्या को हल करने में विज्ञान ने अनेक रूपों में सहायता की। हम यहाँ केवल इस बात पर विचार करेंगे कि खास-कर हवाई जहाज इसमें कहां तक भाग लेने वाला है। इससे पाठक विचार कर सकेंगे कि विज्ञान के सब यंत्रों का असर मिलकर कितना ज्यादह होगा।

*अप्रकाशित 'त्रिकाल दर्शन' के, 'शुभचिन्तक' में उद्धृत अंश से।

अनुमान किया जाता है* कि अब से बीस तीस वर्ष बाद हवा से सफर करने की सुविधा उसी तरह सब लोगों को मिल जायगी, जिस तरह आज रेल और जहाज़ की सुविधा सब को मिली हुई है। हवाई जहाजों की मामूली चाल ४०० मील फी घंटा होगी, तब दुनिया का कोई कोना किसी के लिये २४ घंटे की यात्रा से ज्यादह का नहीं रह जायगा। आदमी दूरी और समय के बंधनों से आज़ाद हो जायगा। संसार उस समय सिमट कर बहुत छोटा हो जायगा। सदियों तक आदमी जमीन पर दौड़ते हुए घोड़े की चाल से, और पानी पर बादबानी किश्तियों की चाल से, यात्रा करता रहा है। इसके बाद रेलों, मोटर गाड़ियों, और भाप से चलने वाले जहाजों का युग आया, और, आदमी की चाल पहले से तिगुनी हो गयी। आदमी स्वभाव से ही दूरी को, यात्रा में लगने वाले समय से मापता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि आदमी के लिए नया संसार पहले की निस्बत एक तिहाई रह गया। आज कल हम ज़मीन पर ४० मील फी घंटा और समुद्र पर २० मील फी घंटा के हिसाब से दूरी की माप करने के आदी हो गये हैं, और संसार के सम्बन्ध में हमारी धारणा भी इसी माप पर बनी है।

हम कलकत्ते के सम्बन्ध में यह नहीं सोचते कि वह बम्बई से १,१०० मील दूर है, पर यह सोचते हैं कि बम्बई से ४० घंटे की यात्रा है। इसी तरह पूना के लिये हम यह नहीं सोचते कि वह ७५ मील दूर है, बल्कि यह सोचते हैं कि ३ घंटे का रास्ता है। पर जब हम कलकत्ते भी उतनी देर में पहुँचने लगेंगे जितनी

*श्री० जे. आर. डी. टाटा के बाम्बे रोटरी क्लब के, सन १६४३ के भाषण से।

देर में इस समय बम्बई से पूना पहुँचते है, जब हम काहिरा भी उतनी ही जल्दी पहुँचने लगेंगे जितनी जल्दी अहमदाबाद पहुँचते हैं, जब हमें न्युयार्क पहुँचने में भी उतना समय लगेगा जितना मद्रास जाने में लगता है, तब दूरी के लिहाज में कलकत्ता वहाँ आ जायगा; जहाँ आज पूना है, लन्दन दिल्ली की जगह पर आ जायगा, काहिरा अहमदाबाद के स्थान पर, और न्यूयार्क मद्रास के स्थान पर आ जायगा। इसके यही मानी निकलते हैं कि उस समय संसार आजकल की निस्बत १५ गुना छोटा हो जायगा।

इस तरह दुनिया के सिमट कर छोटी हो जाने से और जीवन के रहन सहन का मान बढ़ जाने से, मुझे आशा है, यात्रा करना भी बहुत बढ़ जायगा। इससे केवल तिजारत और उद्योग धन्धों की समृद्धि ही नहीं होगी, बल्कि संसार के लोगों को दूसरे देश देखने और वहाँ के निवासियों को समझाने-बुझाने का भी मौका मिलेगा। हम विदेशियों से इसीलिये घृणा करते हैं कि हमारी उनके बारे में जानकारी बहुत कम है, और इसके फल-स्वरूप यह धारणा बंध जाती है कि वे हम से अलग हैं। हवाई जहाजों के युग में जब हज़ारों मील की दूरी पर रहने वाले लोग एक-दूसरे से मिलने-जुलने लगेंगे तो अविश्वास और संघर्ष की भावना अपने आप हट जायगी। इसके साथ ही जीवनका दृष्टिकोण और रहन-सहन का भेद-भाव भी अपने आप मिटने लगेगा। राजनैतिक सीमाएँ टूटती हुई नज़र आएगी, पासपोर्ट और सिक्के की रोक लोगों को असह्य हो जायँगी और मन की गाँठें खुल जाने से अपने-आप धीरे धीरे एक मिली जुली विश्व-संस्कृति का विकास होगा। इसलिए हवाई जहाजों के युग का मुख्य नतीजा यह होगा कि संसार के लोग एक दूसरे के पड़ोसी

हो जायँगे, और मन वचन और काम से एक दूसरे के नजदीक आ जाँयगे।

यह ठीक है कि दूसरी चीजों की तरह हवाई जहाजों का दुरुपयोग हो सकता है, और इस समय युद्धों में हो ही रहा है। बात यह है कि इस समय विज्ञान साम्राज्यवाद का दास है, इसलिये संहार में सहायक हो रहा है। साम्राज्यवाद का अंत होने पर ऐसा न रहेगा। अब भी विज्ञान आदमी को अपने हज़ारों कोस की दूरी पर रहने वाले भाई से मिलाने में मददगार हो रहा है, काले पीले और गोरों को, यहूदी ईसाई, मुसलिम और पार्सी को एक दूसरे के साथ मिला रहा है। किन्तु इस समय यह मिलन कभी दो या अधिक वर्गों में दोनों के हित के के लिए होता है, और कभी बलवान द्वारा निबल के शोषण के लिए। निदान, विज्ञान का उपयोग मानवता या मानव प्रेम की वृद्धि के लिए भी हो सकता है, और होता है। ज़रूरत है कि आदमी विज्ञान से प्राप्त शक्ति को अपना संहार करने में न लगावें।

ज़ाहिर है कि दूरी की समस्या जितनी अधिक होती है, उतना ही संगठन छोटे छोटे दायरों में रहने वालों का अधिक होता है। ज्यों ज्यों मेल जोल या आने जाने के साधनों की वृद्धि होती है, दूर दूर के आदमियों का संगठन सुगम होता जाता है। पुराने ज़माने में मनुष्यों का संगठन छोटे छोटे समूहों में था, धीरे-धीरे दूर दूर के आदमियों का मिलना और आपसी सम्बन्ध बढ़ा। उसी के अनुकूल धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमों की रचना बड़े-बड़े समूहों के हित के लिए की जाने लगी। विज्ञान समय और दूरी के बन्धन को काट कर मनुष्य-जाति की एकता और विश्व-राज्य के निर्माण का रास्ता साफ करता जा रहा है।

बाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ की ज़रूरत

मनुष्य क्रमशः गृहस्थी की परिधि, समाज के घेरे, जाति के मंडल, राष्ट्र के व्यूह व साम्राज्य के महाव्यूह में आया। अब वहाँ से वह सार्व-भौमिक बनना चाहता है—हृदय की संकीर्णता त्याग वह विश्व नागरिक बनना या विश्वात्मा में लीन होना चाहता है। उपर्युक्त कुल सीढ़ियों को लाँघ कर इस उद्देश्य की सिद्धि करना मानव समाज का परम धर्म और कर्तव्य है। —अभ्युदय

मानव जाति के इतिहास में विश्व-राज्य की एक निश्चित, किन्तु कुछ बिखरी हुई सूचना है। पहले मनुष्यों की व्यक्तिगत सत्ता न थी; सब अधिकार बड़ों या बुजुर्गों का होता था—बड़ा कभी घर का बूढ़ा और कभी समाज, जाति या धर्म का नेता होता था। धीरे धीरे केवल बड़े बूढ़ों की हकूमत हट कर मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता भी मानी जाने लगी। उसका संगठन शुरू हुआ। मनुष्य की ज़रूरतों और उसकी अन्दर की प्रेरणाओं ने मिलकर व्यक्तियों का परिवार बनाया, परिवारों के वंश बनाये, वंशों से कबीले या कुल बने, कुलों का राष्ट्र बना, और राष्ट्रों का साम्राज्य या संघ-राज्य। साम्राज्यों का रूप अब बहुत हानिकर हो गया है। जनता अब संघ-राज्यों से बड़ी बड़ी आशाएँ कर रही हैं। पर क्या संसार में कई संघ-राज्यों का होना हितकर

होगा ? मनुष्य चिरकाल से संगठन करता आ रहा है। यह संगठन का काम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक सब संसार के आदमियों का एक संगठन इतना विशाल न हो जाय कि उसमें सारी मानव जाति समा जाय, कोई भी हिस्सा उससे बाहर न रहे।

जिन कारणों से व्यक्ति से परिवार और परिवार से धीरे धीरे वंश, कबीला, जाति. राष्ट्र और साम्राज्य बने, वे कारण अब भी मौजूद हैं। इसलिए यह नतीजा बिल्कुल तर्क संगत है कि साम्राज्य से आगे बढ़ना अनिवार्य है। मनुष्य ने अपने उत्थान में जो सीढ़ियाँ पार की हैं, उनमें दो परस्पर विरोधी कारणों का पता चलता है। मनुष्य में प्रेम की भावना है, और जब प्रेम का क्षेत्र सीमित रहता है, तो वह उस क्षेत्र के बाहर के लोगों से लड़ाई झगड़ा करता है। जब परिवार बना तो परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हुए। पुरुष स्त्री से, और स्त्री पुरुष से, और दोनों अपनी संतान से खूब प्यार करते हैं, यहाँ तक कि वे इसमें किसी दूसरे प्रतिद्वन्दी का होना सहन नहीं कर सकते। पुरुष और स्त्री की यह खुली चुनौती रहती है कि जितना प्यार हम एक दूसरे से और अपनी संतान से करते हैं, उससे ज्यादह कोई भी दूसरा नहीं कर सकता, परन्तु इनके प्रेम का क्षेत्र सीमित था, ये अपने परिवार से बाहर के व्यक्तियों से लड़े झगड़े। एक परिवार दूसरे परिवारों से लड़ा। जब इन परिवारों की एक जाति बनी तो परिवारों के आपसी युद्ध का अन्त हुआ। एक जाति के अन्तर्गत परिवारों ने आपस में प्रेम और सहयोग से रहना सीख लिया। परन्तु पुराने संस्कारों के कारण एक जाति दूसरी जाति से लड़ती रही। धीरे धीरे पास रहने

वाली, और एक दूसरे से लड़ने वाली जातियों ने देखा कि आपस में मेल किये बिना गुजर नहीं, इस पर वे आपस में दूध और चीनी की तरह ऐसी मिल गयीं कि देखने वाले के लिए वह मिश्रण या मिलावट न मालूम होकर एक ही चीज हो गयी। एक कौम या राष्ट्र के अन्दर जितने व्यक्ति, परिवार या जितनी जातियां होती हैं, वे सब अपनी अलहदगी को और पुराने झगड़ों को भुला देती हैं; और एक दूसरे की भलाई के लिए भारी कुर्बानी या त्याग करने लगती और तरह तरह की तकलीफें उठाने को तैयार रहती हैं। उनमें से एक का दुख सब का दुख होता है, और एक के सुख में सब सुखी होते हैं।

सामाजिक संगठन और आगे बढ़ता गया। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के सम्पर्क में आया; कुछ राष्ट्र यदि मित्रता या स्नेहवश आपस में मिले, तो अनेक बार एक राष्ट्र की स्वार्थपरता ने उसे दूर दूर तक नजर दौड़ाने और जिस प्रदेश पर उसका वश चले, उसे हथियाने को मजबूर किया। यह काम चुपचाप शान्ति के साथ नहीं हो गया। बुरे भले सभी तरीके काम में लाये गये। साम, दाम, दंड, भेद, किसी भी उपाय को उठा नहीं रखा गया। लड़ाई झगड़े हुए, खून खच्चर हुआ, महीनों या वर्षों ही नहीं, कहीं कहीं सदियों के हिन्सा-कांड के बाद राष्ट्रों ने अपना स्वार्थ सिद्ध कर पाया। राष्ट्रों ने जो साम्राज्य-निर्माण की तरफ कदम बढ़ाया, उसमें मानव प्रगति की पहली मंजिलों की तरह बल्कि उनसे भी बढ़ कर लड़ाई-झगड़ों की सीढ़ियाँ पार की गयी हैं। फिर भी इन सब लड़ाई झगड़ों में मनुष्य की उन्नति का तत्व छिपा रहा है।

समाज-संगठन में बढ़ते बढ़ते हम साम्राज्य तक आये। पर आज कल के साम्राज्य अपने अधीन देशों का शोषण करते हैं

और एक दूसरे से ईर्षा करते और लड़ते झगड़ते हैं। उनके आपसी महायुद्ध हमें चेतावनी दे रहे हैं कि इस समय की विश्व-व्यवस्था ठीक नहीं है। इसमें जड़ मूल से परिवर्तन होना चाहिए।

मनुष्य ने साम्राज्य के अलावा एक और भी प्रयोग किया—संघ-राज्य का। कई कई राज्यों का आत्मरक्षा के लिए या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए, मिल कर एक संघ-राज्य बना। संघ ने अपने अन्दर के निवासियों का हित साधन किया, पर इसमें भी वह वर्ण-भेद यानी काले गोरे के रोग से नहीं बच पाया। अपने क्षेत्र से बाहर के राज्यों से उसका व्यवहार साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह गैरियत या परायेपन का होता है। संघ-राज्य भी दूसरे देशों को अपने अधीन बनाये रखने और उनका शोषण करने का अभिलाषी होता है, जैसा कि हम अमरीका के संयुक्त राज्यों के विषय में पहले लिख चुके हैं।

निदान, साम्राज्य हों या संघ-राज्य हों, इन संगठनों ने संसार को ऐसे अलग अलग टुकड़ों में बांट रखा है, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से टकराते हैं। फिर, दुनिया का काफी हिस्सा ऐसा रहता है, जो उनके क्षेत्र से बाहर होता है। और, जब तक कोई भी हिस्सा ऐसा रहेगा, जिसे हम अपना न समझ कर पराया या गैर मानें, या जो अपने आपको अलग रखे, और दूसरों के सुख-दुख से बेपरवाह रहे, तब तक टिकाऊ शान्ति नहीं हो सकती, आगे पीछे युद्ध होना अनिवार्य रहेगा।

यह बात इतनी सीधी और साफ़ है कि इस पर जोर देने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। परन्तु कितने ही बड़े बड़े राजनीतिज्ञ भी संसार की नयी व्यवस्था या विश्व-शान्ति की योजनाएँ बनाते समय, इसे भूल जाते हैं।

सन् १९३९ में, वर्तमान (दूसरा) महायुद्ध शुरू होने से पहले लन्दन में 'फेडरल यूनियन' नामक की एक संस्था क़ायम की गयी। इस संस्था का उद्देश्य है संसार भर के प्रजातंत्र राज्यों का, संयुक्तराज्य अमरीका के ढंग पर, एक विश्व-संघ क़ायम करना। इस पर श्री० क्लेरेंस के० स्ट्रेट नाम के अंगरेज़ लेखक ने 'यूनियन नाऊ' नाम की पुस्तक लिखी है। लेखक ने कहा है कि इस तरह का विश्व-संघ कायम करने में कई रुकावटें हैं. जैसे (क) फासिस्ट सरकारें इसका विरोध करेंगी, और (ख) खास कर एशिया और अफ्रीका में ऐसे बहुत से राज्य हैं, जो अभी बहुत पिछड़े हुए हैं। परन्तु जब तक ये रुकावटें दूर न हों, हमें हाथ पर हाथ धरे न बैठे रहना चाहिए। पहले दुनिया के सब प्रजातंत्र राज्यों को विश्व-संघ में शामिल हो जाना चाहिए। बाद में दूसरे राज्य भी यदि वे प्रजातंत्र को अपनी शासन-प्रणाली का आधार मान लें तो शामिल हो सकेंगे। लेखक ने इस संघ में शामिल करने के लिए १५ राज्यों के नाम गिनाये हैं—(१) संयुक्तराज्य अमरीका, (२) ब्रिटेन, (३) फ्रांस,* (४) केनेडा, (५) नेदरलैण्ड,* (६) बेलजियम,* (७) आस्ट्रेलिया, (८) स्वीडन, (९) स्विटज़रलैण्ड, (१०) डेनमार्क,* (११) फ़िनलैण्ड, (१२) आयर्लैंड, (१३) नार्वे,* (१४) दक्षिण अफ्रीका का यूनियन, और (१५) न्यूज़ीलैण्ड।

इस संघ में इटली, जर्मनी और जापान जैसे फ़ासिष्ट राज्यों को जगह नहीं दी गयी। इसमें सोवियट प्रजातंत्र संघ की भी कोई जगह नहीं है, और एशिया को तो इस 'विश्व-संघ' की योजना से बिल्कुल ही बाहर रखने की कोशिश की गयी है।

---

*ये देश इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय जर्मनी के अधीन हैं

क्या एशिया के दो बड़े बड़े देश चीन और हिन्दुस्तान प्रजातंत्र-वादी नहीं हैं ? फिर उन्हें इस योग्य क्यों नहीं समझा गया ? न्यूज़ीलैण्ड जैसे छोटे से उपनिवेश को विश्व-संघ में जगह मिल सकती है, पर हिन्दुस्तान जिसमें ४० करोड़ की आबादी है और जिसकी सांस्कृतिक परम्परा का संसार ऋणी रहा है, उसे बिल्कुल अलग कर दिया गया है। यह उपेक्षा वास्तव में हास्यास्पद ही नहीं है, यह संसार को शान्ति—स्थायी शान्ति—के स्थान पर स्थायी महा संकट की ओर ले जाने वाली है।* संयुक्तराज्य अमरीका को और ब्रिटेन को इस सूची में मुख्य स्थान दिया गया है। किन्तु इन्हें असल में प्रजातंत्रवादी तभी कहा जा सकता है जब ये अपने अधीन देशों को आज़ाद कर दें, और साम्राज्यवाद का अन्त कर दें। अभी तो ये एशिया और अफ्रीका के बहुत से हिस्सों में, और जगह जगह अनेक टापुओं में, किसी न किसी रूप में अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। श्री० स्ट्रेट ने अपनी योजना में पिछड़े हुए देशों को 'विश्व-संघ' में शामिल होने के योग्य ही नहीं माना। ऐसे लेखकों की दृष्टि में 'विश्व' का अर्थ सम्पूर्ण विश्व न होकर बहुत दरजे तक 'गौरांग विश्व' ही होता है।

पर जैसा कि डाक्टर बेनी प्रसाद के, 'योगी' में प्रकाशित, एक लेख में कहा गया है. "जब तक एशिया, अफ्रीका और दुनिया के दूसरे हिस्सों में साम्राज्यवादी शोषण और विदेशी शासन कायम रहेंगे तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। तब तक बहुत ही सतर्कता और दूरन्देशी के साथ तैयार किया हुआ मसविदा भी अकाल कवलित हो जायगा। जब तक इन

* श्री० रामनारायण जी यादवेन्दु के एक लेख से।

भू-भागों पर शासन करने वाले लोग अपने शासितों को अपनी विलास-सामग्री जुटाने का साधन मात्र समझते रहेंगे, तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। किसी दूसरे देश की कमजोरी से लाभ उठाकर उसका शोषण करने और उसके बाशिन्दों को उच्च जीवन व्यतीत करने के योग्य न बनने देने से तो युद्ध की विभीषिका दिनोंदिन बढ़ती ही जायगी।"

हमें ध्यान रखना चाहिए कि जब बहुत से छोटे छोटे राज्य होते हैं तो बहुत सी छोटी छोटी लड़ाइयाँ होती हैं। जब बड़े बड़े राष्ट्र-राज्य, साम्राज्य या संघ-राज्य बन जाते हैं तो लड़ाइयाँ कम हो जाती हैं, पर उनका फैलाव और भयंकरता बढ़ जाती है। इतिहास से पता चलता है कि विविध राज्यों का एक दूसरे से लड़ने का मानो नियम ही है। 'राज्य' झगड़ालू रहा है; इस समय भी उसका स्वभाव लड़ने का है, भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। जब तक बहुत से राज्य हैं, तब तक उनमें युद्ध होंगे। जब तक एक से अधिक राज्य होंगे, चाहे वे दो ही क्यों न हों, युद्ध टल नहीं सकते। जब द्वैत भाव का अन्त हो जायगा, जब 'एकमेव द्वितीयो नास्ति' की स्थिति आ जायगी, तभी युद्धों और महायुद्धों का अन्त होगा। शान्ति चाहती है कि विश्व-बंधुत्व के आधार पर, विश्व में केवल एक राज्य का संगठन हो। संसार में विश्व-राज्य की स्थापना ज़रूरी है—संहार कार्य को बन्द करने के लिए और सभ्यता की रक्षा के लिए। पहले की बात छोड़ भी दें तो दूसरे महायुद्ध का अनुभव हमारे सामने है। संसार में जब तक बहुत से अलग अलग राष्ट्र, कुछ संघ-राज्य और कुछ साम्राज्य हैं, तब तक शान्ति नहीं रह सकती। यदि महायुद्ध के फल-स्वरूप एक दो साम्राज्यों का लोप भी हो जाय तो भी काम न चलेगा। जब तक एक से अधिक अलग अलग

राज्यों का अस्तित्व रहेगा, तब तक छोटे राज्यों की स्वाधीनता ख़तरे में रहेगी; बलवान मौका पाकर निर्बल को धर दबावेगा, याकुछ राज्य मिल कर, अपनी शक्ति बढ़ा कर दूसरों का रहना मुश्किल कर देंगे। इससे भली भांति सिद्ध होता है कि संसार भर के सब राज्यों का एक संघ-राज्य यानी विश्व-राज्य होने की अनिवार्य आवश्यकता है। पृथ्वी पर राजनैतिक संगठन केवल एक ही होना चाहिए। एक राज्य, एक झंडा, एक नीति, एक आदर्श, एक जीवन, यह हमारा लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की पूर्ति संधियों या समझौतों से होने वाली नहीं है। ज़रूरत है कि नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक सब दृष्टिकोणों से काम लिया जाय। नैतिक दृष्टि से आपको और मुझे—हर व्यक्ति को—युद्ध से वैसे ही बचना चाहिए, जैसे हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में चोरी या हत्या से बचते हैं। सामूहिक हत्या वैसे ही ग़लत है, जैसी व्यक्तिगत हत्या। सांस्कृतिक दृष्टि से, लोगों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो विश्व-इतिहास, विश्व-साहित्य और विश्व-भाषा के पढ़ने-पढ़ाने से उनमें विश्वबंधुत्व की भावना पैदा करे। राजनैतिक दृष्टि से विश्व-नागरिकता का प्रचार करके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद को मिटाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से पूंजीवाद की जगह लोक-तंत्रात्मक समाजवाद को दी जानी चाहिए। इन विषयों पर खुलासा विचार अगले अध्यायों में किया जायगा।

—o—

तेइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ के आधार

अब तक प्रायः राज्य का आधार शक्ति मानी गयी है। कुछ लोगों ने यह साफ साफ स्वीकार नहीं किया, तो कुछ ने यह खुल्लम-खुल्ला कहा है। शक्ति-सिद्धान्त के प्रचार का फल मानव जाति चिर काल से देखती और भोगती आ रही है। संसार हमेशा युद्धों में फंसा रहा है। हमें अब यह समझ लेना चाहिए कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ हिन्सा या बल-प्रयोग के कमजोर आधार पर कायम नहीं होगा, उसके आधार मजबूत, व्यापक और सब के भले के सिद्धान्त होंगे। ये सिद्धान्त तीन हैं—(१) स्वतन्त्रता या आज़ादी, (२) समानता या या बराबरी, और (३) विश्व-बन्धुत्व या भाईचारा।

१— स्वतंत्रता— सब नागरिकों को अपने विचार प्रकट करने, भाषण देने, सम्मेलन करने, बहस कहने, आज़ादी के साथ पुस्तक समाचारपत्र आदि छापने, आलोचना करने आदि की स्वतंत्रता होनी चाहिए। मनुष्य इस तरह पैदा नहीं होता कि उसकी ज़बान रस्सी से बंधी हो, या उसके हाथों में जंजीर पड़ी हो। अपनी इच्छानुसार सोचने बोलने और काम करने में स्वतंत्र न होना—यह मनुष्य से कुछ कम होना है, यह उन पशु पक्षियों से भी नीचे दरजे का होना है, जो अपनी मर्ज़ी के मुताबिक जिन्दगी गुजारते हैं। केवल स्वतंत्र पुरुष और स्त्री ही सीधे खड़े होकर चल सकते हैं, सच बोल सकते हैं, और मानवता की पूरी

ऊंचाई तक उठ सकते हैं। पूर्ण स्वतंत्रता ही वह भूमि है, जिसमें मनुष्य का व्यक्तित्व बढ़ता और विकसित होता है, और उसमें सौन्दर्य, ज्ञान, नेकी, आनन्द और प्रेम के उत्तमोत्तम फल लगते हैं। केवल स्वतंत्र आदमी ही यह कह सकता है "मैं सोचता हूँ, मैं महसूस करता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ; इसलिए मैं हूँ।" स्वतंत्रता ही मनुष्य को मशीन से ऊपर उठाती है। (यदि हम सुन सकें तो) विकास करने वाली हर आत्मा अपने जन्म के समय यह कहती है कि "मैं अधिकार पूर्वक स्वतंत्र हूँ, किसी को मुझे पराधीन करने का अधिकार नहीं है। मैं खुद अपना कानून हूँ, जब कानून नहीं था तब भी मैं रही हूँ। यदि दूसरे मेरी मदद करें तो अच्छी बात है, पर कोई मेरे आगे बढ़ने में, मेरी प्रगति में रुकावट न डाले।"

विश्व-राज्य मानव व्यक्तित्व की पवित्रता का आदर करेगा। किसी पर कोई बन्धन न लगाया जायगा, किसी का मुँह बन्द न किया जायगा; क्योंकि विश्व-राज्य में किसी के मौरूसी या रूढ़िगत स्वार्थ न होंगे, जिन्हें स्वतंत्र भाषण या लेखन से डर रहता है। स्वतंत्रता का सबसे बढ़कर विकास समानता की उस भूमि में होता है, जहाँ कोई धनहीन, धनवानों की थैलियों के बोझ से, कुचला नहीं जाता। पुरातनवाद या रूढ़िवाद को आलोचना का डर लगा रहता है। परन्तु विश्व-राज्य प्रगति या उन्नति को अपना मूल सिद्धान्त यानी बुनियादी असूल मानता है। वह यूनान, हिन्दुस्तान या चीन की सी ढली ढलाई रीति नहीं चाहेगा, उसे तो नये प्रयोगों और नयी संस्थाओं में आनन्द आयेगा। कोई दिन अपने स्वप्न बिना न होगा कोई महीना अपनी नवीनता बिना, और कोई वर्ष अपनी कल्पना के बिना न होगा।

प्रगति परिवर्तन पर निर्भर रहती है, तरक्की तबदीली पर। इसलिए सब नागरिकों को आलोचना और संशोधन की आज़ादी रहनी चाहिए। नया विचार पहले किसी एक व्यक्ति के मन में, या कुछ व्यक्तियों के मन में, पैदा होता है। बाद में वह समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है, जो उसका नामकरण और पालन पोषण करता है। यदि स्वतन्त्रता की कमी होगी तो नये विचार पैदा ही न होंगे; यदि उनका जन्म भी हुआ तो वे मृतावस्था में होंगे। नये विचारों का जन्म रोकना या उनका गला घोंटना मानवता के प्रति एक भयंकर अपराध है। अच्छे विचार की हत्या करना ऐसा ही है, जैसे अच्छे आदमी को मार डालना। नये विचारों की उत्पत्ति में कोई बाधा खड़ी नहीं की जानी चाहिए। उनकी तादाद बढ़ने से डरने की ज़रूरत नहीं, उनमें से जो गलत या अयोग्य होंगे, वे जीवन-संघर्ष में खुद ही समाप्त हो जाएँगे। जो योग्य होंगे, वे बच रहेंगे; राज्य उन्हें परिस्थिति के अनुकूल बना लेगा, और उनका विकास करेगा।

अब तक जनता पर कानूनों का कितना अधिक दबाव और बोझ रहा है! क़ानून और स्वतंत्रता एक दूसरे के ऐसे ही विरोधी हैं, जैसे दिन और रात। पिछले ज़माने में पोशाक, खेल-कूद, धर्म और भोजन तक के बारे में राजनियमों का बन्धन रहा है; इंगलैण्ड में तेरहवीं, चौदहवीं, और पंद्रहवीं सदी में पोशाक के बारे में पार्लिमेंट के कानून जारी थे। अब भी कितनी ही बातें ऐसी हैं जो एक देश में रिवाज मानी जाती हैं, और दूसरे में अपराध समझी जाती हैं। कितने ही राज्यों में वेश्या का पेशा कानून से बन्द और दंडनीय है, तो कुछ राज्य ऐसे भी हैं जहां इसकी खुली इजाज़त है। कुछ राज्यों में तमाखू पीना मना है,

तो दूसरे राज्यों में सरकार को तमाखू बेचने का एकाधिकार है। इंगलैण्ड में हजरत ईसा की निन्दा करना अपराध माना जाता है, पर रूस में ऐसा नहीं है। वहां मार्क्स या लेनिन को बुरा भला कहना निन्दनीय है। हिन्दुस्तान में नंगे साधु जलूस बना कर चल सकते हैं, अमरीका में ऐसा करना दंडनीय है। व्यावहारिक नियम यही मालूम होता है कि राष्ट्र उस बात या रिवाज को रोकते और उसके लिए दंड देते हैं, जो उस युग में व्यक्ति या समाज के लिए हानिकर समझा जाता है। लेकिन इसमें सिद्धान्त की कोई बात नहीं है। हर दल, सम्प्रदाय या धर्म अपनी रीति रस्मों या अपने व्यवहार को ही पवित्र और मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी समझता है। हर सत्ता दूसरों से अपनी बात मनवाने के लिए पुलिस, जेल और फांसी की मदद लेती हैं। स्वतंत्रता, कानून की इस तरह की, निर्दयता और सनक से घृणा करती है। पुरुष और स्त्री को पूरी तरह आज़ाद होना चाहिए। विश्व-राज्य में इसका यथेष्ट ख्याल रखा जायगा।

विश्व-राज्य में उचित शिक्षा और अच्छी संस्थाओं के प्रताप से सब नागरिक नेक और ज्ञानवान होंगे। वे स्वयं अपने स्वभाव से ही नेक काम करेंगे। उनके पालन पोषण और दिनचर्या में ही उन्हें इस बात की शिक्षा मिल जायगी कि वे मन, बचन और काम से सब का हित साधन करें, और यह समझें कि सब के हित में ही उनका हित है। उन्हें कानून की ज़रूरत न होगी; पूर्ण स्वतंत्रता के कारण ही वे समाज-विरोधी काम करने से बचे रहेंगे। डर से किया हुआ नेक काम, स्वतंत्रता पूर्वक किये हुए बुरे काम से भी, किसी अंश में बुरा है, क्योंकि स्वतंत्र मनुष्य किसी न किसी दिन नेक काम करना सीख लेगा, परन्तु गुलाम कभी नहीं सीख सकता। ज़बरदस्ती स्वतंत्रता को नष्ट कर देती

है, और जब स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है तो सत्कार्य या नेकी भी मर जाती है।

स्वतंत्रता की सीमाओं पर बहस करना बेकार है। लोगों को अच्छे स्कूल और अच्छी आर्थिक और राजनैतिक संस्थाएँ दीजिए, नागरिकों को योग्य बनाइए, सहकारिता कायम कीजिए, प्रतिद्वन्दिता और दमन को छोड़ दीजिए, तब अपरिमित स्वतंत्रता के व्यवहार से भी कुछ डर न होगा; वह हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। जिस दासता में आदमी इस समय अनेक कानूनों द्वारा बंधा हुआ और कुचला हुआ है, उससे मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है। अगर मैं दूसरों के दुख सुख को समझ सकूं, दूसरों के दुख को अपना दुख, और दूसरों के सुख को अपना सुख मान सकूं, अगर मेरे मन में उन कामों के ही करने की इच्छा हो जो मेरे भाई, बंधु, पड़ोसी या साथी मुझ से कराना चाहते हों तो मेरी स्वतंत्रता में कोई बाधक होना क्यों चाहेगा?

२—समानता—आजकल दुनिया में विषमता का भयङ्कर दौर दौरा है। रंग या जाति-भेद के बारे में पहले लिखा जा चुका है। खास बात यह है कि यूरोप की गोरी जातियों के आदमी रंगदार आदमियों से अपने आप को ऊँचा मानते हैं, और यूरोप में भी जर्मन अपने आप को सबसे ऊँचा समझते हैं। डाक्टर ले ने ३१ जनवरी १९४० के 'एंगरिफ' में लिखा था कि ऊँची जाति की निस्बत नीची जाति वालों को कम जगह, कम कपड़ा, कम भोजन और कम संस्कृति की जरूरत होती है; कोई जर्मन उन हालतों में गुज़र नहीं कर सकता, जिन में एक पोल या यहूदी कर सकता है। यह भावना आजकल की सभ्यता के लिए बड़ा कलंक है।

समानता छः तरह की होती है—शारीरिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक। इन छओं तरह की समानता के बिना विश्व-राज्य फले फूलेगा नहीं।

(क) शारीरिक समानता। हमारा आदर्श मानव जाति की ऐसी शारीरिक उन्नति करना है कि लोगों की शक्ति, तन्दुरुस्ती और सौंदर्य में लगभग समानता हो। अंधे, गूंगे, बहरे और अपाहज आम तौर पर अन्याय के शिकार बन जाते हैं। शारीरिक शक्ति में बहुत अधिक असमानता से गुंडों और कायरों का जन्म होता है। यदि थोड़े से ही नागरिक सुन्दर हों तो उनमें अहंकार और चंचलता आ जाती है, और बहुत बदसूरत आदमी जीवन भर अपने अन्दर हीनता का अनुभव करते रहते हैं। विश्व-राज्य के नागरिक कमज़ोर या बदसूरत नहीं होने चाहिएँ।

(ख) आर्थिक समानता। इस पर विचार धन के बँटवारे के सम्बन्ध में किया जायगा।

(ग) सांस्कृतिक समानता। शिक्षा की समानता को राज्य की बीमा-पालिसी कह सकते हैं। शिक्षा ही नागरिकों को राज्य के योग्य बनाती है। शिक्षा ही से एकता और सामञ्जस्य पैदा होते हैं। शिक्षा चरित्र का निर्माण करती है, और जीवन के आदर्शों को दिल में बैठा देती है। पानी और रोटी की तरह शिक्षा सब के लिए खुली होनी चाहिए। इस समय थोड़े से धनी परिवारों ने उच्च शिक्षा पर एकाधिकार जमा रखा है, जबकि लाखों निर्धन नागरिकों को थोड़ी बहुत जो भी शिक्षा मिल जाय, उसी से संतोष करना पड़ता है। समाज दो सांस्कृतिक श्रेणियों में बँटा हुआ है :—(१) कालिजों में शिक्षा पाये हुए थोड़े से भाग्यशाली पुरुष, स्त्रियाँ और (२) प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त या उससे भी वंचित असंख्य नागरिक। इस विषमता का

नतीजा यह है कि कुछ इने गिने लोग तो कई विषयों के 'डाक्टर' हो जाते हैं, और अधिकांश जनता के लिये 'काले अक्षर भैंस बराबर'। ऐसे दो वर्गों में उचित सामाजिक सम्बन्ध होना असम्भव है। शिक्षित आदमी साहित्य. संगीत कला आदि की चर्चा में लीन रहता है, वह इन विषयों के ज्ञान से हीन अपने असंख्य भाइयों को भर्तृहरि के शब्दों में 'बिना सींग और पूँछ के पशु' समझता है। समाज के ऐसे विद्वानों और मूढ़ पुरुषों में मेल कैसे हो सकता है! हमें सब नागरिकों के लिये एक लगभग समान कोटि की शिक्षा तय कर लेनी चाहिए। मौलिक खोज या अनुसंधान का काम खास लगन वाले विद्वान करें। समाज अलग अलग टुकड़ों में—शिक्षित और अशिक्षितों में—बँटा न रहना चाहिए। विश्व-राज्य में यह नहीं चल सकता।

एक और तरह की भी समानता ज़रूरी है। नागरिकों को ऐसा अभ्यास कराया जाना चाहिए कि सब लोग शारीरिक और मानसिक दोनों तरह के काम करें। इस समय समाज का एक बँटवारा दिमागी काम करने वालों और मजदूरों में हो रहा है। पढ़े लिखों में बहुत से ऐसे मिलेंगे, जिनसे अपने कपड़े धोते या अपने कमरे में झाड़ू लगाते नहीं बनता। जब उनका कोई मित्र या अतिथि आता है तो उन्हें यह कहने में संकोच नहीं होता, "क्या करें, आजकल हमारे यहाँ कोई 'आदमी' (नौकर) नहीं है. इसी से कपड़े मैले पड़े हैं, और कमरे में भी सफाई नहीं है।" इस कथन में उनकी यह भावना साफ़ है कि हम तो दिमागी काम करने वाले ठहरे, ज़रूरत होने पर भी हम यह नीचे दरजे का काम नहीं कर सकते, यह तो बेपढ़ों और छोटे लोगों के करने का है। मानव जाति का यह भेद भाव बहुत लज्जाजनक है। यदि हम अब तक दिमागी काम करने वाले रहे हैं तो

अब हमें कुछ हाथ के काम का अभ्यास करके इस भेदभाव को मिटाने में असली हिस्सा लेना चाहिए। टाल्स्टाय, म० गांधी और थोरो जैसों के जीवन इस बारे में काफी शिक्षाप्रद हैं। यदि हम श्रमजीवी हैं तो हमें अपना फुरसत का समय लिखना पढ़ना सीखने में लगाना चाहिए। हम यह न सोचें कि हमारी बहुत सी उम्र बीत गयी है, अब हम क्या सीख सकते हैं। मजबूत इरादे वालों के लिए आयु का विचार रुकावट नहीं डाल सकता। निदान, समाज का, ऊपर बतायी हुई दो श्रेणियों में बँटना बन्द होना चाहिए।

(घ) सब नागरिकों को बराबर मताधिकार होना चाहिए। विश्व-राज्य में शिक्षा का ठीक प्रचार होने, और धन के बँटवारे की असमानता न रहने से योग्य-अयोग्य का इस समय भेद भाव न रहेगा। साधारण कामों के लिए तो सभी योग्य होंगे। राज्य का ऊँचे से ऊँचा पद भी किसी श्रेणी विशेष की बपौती न रहेगा। सब के समान अधिकार और सब को समान सुविधाएँ होंगी।

(च) सामाजिक समानता। विश्व-राज्य में सब नागरिक होंगे—मालिक और गुलाम नहीं। स्पृश्यास्पृश्य का, सभ्य असभ्य का, या ऊंच नीच का भेद न होगा; काले गोरे का, एशियाई और यूरोपियन का, हिन्दू, ईसाई आदि का भेद न होगा। खाने पीने या विवाह सम्बन्ध करने में किसी पर कोई प्रतिबन्ध न होगा; आज दिन दो भले आदमी गहरे मित्र होते हुए भी, अलग अलग जातियों या रंगों के या धर्मों के होने के कारण, साथ बैठ कर खा पी नहीं सकते। अनेक बार युवक का ठीक अपनी पसन्द की युवती से, या युवती का अभीष्ट युवक से विवाह नहीं होने पाता; या तो रोमांचकारी आत्म-हत्या तक

नौबत आती है, और या वे जन्म भर दुखी रहते हैं। ऐसे सामाजिक विकार विश्व-राज्य में हरगिज़ नहीं रह सकते। विश्व-राज्य में सामाजिक समानता होगी। कोई छोटा बड़ा नहीं। सब समान साथी होंगे। उसमें लार्ड, नवाब, राजा, रायबहादुर, खां बहादुर अथवा वर्णमाला के अक्षरों के विविध जोड़ तोड़ की बनी हुई उपाधियाँ नहीं होंगी। ये उपाधियाँ समाज को टुकड़े टुकड़े करने वाली हैं—जैसे ऊँची उपाधि वाले, छोटी उपाधि वाले और बिना उपाधि के। उपाधियों का आविष्कार समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है। विश्व-राज्य में इसका अन्त होगा।

(छ) नैतिक समानता। नीति और सदाचार के बिना राज्य प्राणहीन है। विश्व-राज्य के नागरिकों में ये गुण पूरे-पूरे होने चाहिएँ। हर आदमी को निडर, निस्स्वार्थ, स्वावलम्बी निष्काम, विश्व-प्रेमी और परोपकारी होना चाहिए। नीति की कुछ मर्यादा सभी नागरिकों के लिए तय रहनी चाहिए; कुछ व्यक्ति उस मर्यादा से कुछ ऊँचे भले ही उठें, लेकिन इतनी विषमता न होनी चाहिए कि कुछ आदमी तो सन्त महात्मा हों, और दूसरे अत्याचारी, बदमाश या गुंडे। हम सब को लगभग समान धरातल पर चलना ठीक होगा, इसी दृष्टि से नागरिकों की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

३—विश्वबंधुत्व—विश्वबंधुत्व मानव प्रेम की वह भावना है, जिसके बिना आदमी में पूर्णता नहीं आती। विश्व-राज्य में हमें अपूर्ण या अधूरे आदमी नहीं चाहिए, उसके नागरिकों में विश्व-प्रेम होना ज़रूरी है। और, जैसा लाला हरदयाल ने लिखा है, प्रेम हमेशा अधिकार से अधिक देने की ही बात सोचता है। धन के बँटवारे में इसका नियम यह है कि हर आदमी अपनी

योग्यता के अनुसार काम करे और उसे उसकी ज़रूरत के अनुसार मिले। बच्चों का पालन पोषण अधिकारों से नहीं होता, प्रेम से होता है। बीमार आदमी धन पैदा नहीं करते और न्याय के कड़े नियम के अनुसार उनका अधिकार कुछ नहीं रहता, परन्तु प्रेम न्याय से अधिक शक्तिशाली है, और वह रोगियों को तन्दुरुस्त आदमियों से भी अधिक देता है।

प्रेम में आदमी अपने विषय में नहीं सोचता, सब के बारे में विचार करता है। वह अपनी इन्द्रियों के सुख की परवा नहीं करता, आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है। वह दूसरों के दुख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होता है। प्रेम बहुत बातें नहीं बनाता, चुपचाप सब कुछ देखता है, और झटपट अपना सेवा-कार्य कर डालता है। वह मुसकराता रहता है और उसकी बोली हमेशा नम्र होती है। उसमें अहंकार नहीं होता। वह घमंड नहीं करता। वह दूसरे की ज़रूरत को, उस दूसरे से भी पहले जान जाता है। वह इस बात का इन्तज़ार नहीं करता कि दूसरा आदमी कुछ मांगे, वह तो पहले से ही खुद सहायता करने के लिए दौड़ पड़ता है। वह किसी के दोषों का फैसला करने नहीं बैठता, वह तो हर अपराध को क्षमा कर देता है। वह अभिमान नहींकरता, और न देनदारों को क़र्ज़े की याद दिलाता है। वह देता है और भूल जाता है; फिर और देता हे और फिर भूल जाता है। वह अपने काम का समान पारिश्रमिक लेता है; पर उसे सब में बाँट देता है। प्रेम 'मेरे-तेरे' की बात नहीं करता, 'हमारे' की बात करता है। वह किसी पर दोषारोपण नहीं करता। सेवा के लिए उसे कभी समय की कमी नहीं होती, वह कभी भी बहुत व्यस्त या थका हुआ नहीं होता।

वह दूसरों के गुणों को बहुत जल्दी ध्यान में ले आता है, पर उनके दोष मालूम करने में मंदगति से काम लेता है। दूसरों की तारीफ़ में उसे आनन्द आता है, वह किसी पर इलज़ाम लगाने का इच्छुक नहीं होता। वह दूसरों की कही हुई अच्छी बातों को दोहराता है, पर बुरी बातों को सुनी-अनसुनी कर देता है। वह सब को प्रसन्न करता है, और अपनी तरफ़ खेंचता है। वह सबको यह अनुभव कराता है कि पुरुष स्त्रियाँ अनेक नहीं हैं, बल्कि सब एक हैं—वह 'एक' रहेगा, जबकि 'अनेक' बदल जायँगे या चले जायँगे। वह एक मानवता है, विश्व-राज्य या विश्व-संघ है, जिसमें सब रहेंगे, और चलें फिरेंगे। प्रेम धन्य है! आज दिन वह सब को सुख शान्ति देने वाला है, कल वह विश्व-संघ की आधार शिला होगा, जिसके नागरिकों के जीवन का मूल मंत्र यह होगा कि 'हर आदमी सब के लिए, और सब हरेक के लिए।'

—०—

चौबीसवाँ अध्याय

विश्व-संघ की संस्कृति

अगर तुमने हवाई महल बनाये हैं, तो इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नहीं होगा। महल तो हवा ही में बनाये जाने चाहिएँ; बस, अब उनके नीचे नींव रख दो। —*थोरो*

विश्व-राज्य के बारे में हमारा आदर्श बहुत कुछ जनता की संस्कृति—शिक्षा, साहित्य, कला, मनोरंजन, रहन सहन आदि —पर निर्भर है। इस अध्याय में इन्हीं बातों पर विचार करना है। इनमें पहला विषय शिक्षा है।

शिक्षा — इस बात को सब मानते हैं कि समस्त नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे उनकी नैसर्गिक शक्तियों और उनकी अभिरुचियों के स्वतंत्र विकास में सहायता मिले, और वे अपनी इच्छानुसार अपने लिए काम धंधे का चुनाव करके अपना निर्वाह और कर्तव्य-पालन अच्छी तरह कर सकें; इसमें उन्हें किसी तरह की रुकावट न हो। विश्व-राज्य में इसका पूरा पूरा ध्यान रखा जाना ज़रूरी है। 'शिक्षा' में हम घर की और बाहर की (स्कूलों आदि में मिलने वाली) दोनों तरह की शिक्षा को शामिल करते हैं। इस समय हालत यह है कि घरों के अन्दर माता पिता आदि बच्चों को बहुत सी गैर ज़रूरी और दिमाग पर व्यर्थ बोझ डालने वाली बातें बतलाते हैं, वे उन्हें धर्म सम्प्रदाय, वंश और जाति बिरादरी सम्बन्धी अधिक से अधिक जानकारी कराने की कोशिश करते हैं; पर वे उन्हें वह बात नहीं बतलाते जो सबसे ज्यादह महत्व की है—यह कि हर मनुष्य, मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यों से सम्बन्ध रखता है; सब मनुष्य आपस में भाई भाई हैं; राष्ट्र-भेद, सम्प्रदाय-भेद सब बनावटी हैं; हर आदमी को दूसरों से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना चाहिए। माता पिता का काम है कि बालकों को विश्वबंधुत्व की यह बुनियादी तालीम दें।

इस शिक्षा के काम को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी शिक्षा-संस्थाओं पर है। आजकल जहाँ तहाँ कुछ बड़ी बड़ी संस्थाएँ क़ायम हैं, पर अधिकांश संसार अज्ञान-अंधकार में डूबा है। बहुत से देशों में ज्यादहतर जनता मामूली लिखने पढ़ने से भी वंचित है। भारतवर्ष में नब्बे फीसदी आदमी अनपढ़ हैं, इसका अर्थ यह है कि अकेले इसी देश में तीस करोड़ से ऊपर पुरुष स्त्री अनपढ़ हैं। फिर, शिक्षा के तरीके की बात लीजिए। हर

राज्य शिक्षा-विशारदों और बड़े बड़े विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा की नयी नयी योजनाएँ और नये नये पाठ्यक्रम बनवाता है। भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के अलावा कई तरह के विज्ञानों की शिक्षा दी जाती है। परन्तु नागरिकता, विश्व-नागरिकता अर्थात् मनुष्य मात्र के प्रति कर्तव्य-पालन की शिक्षा का सब जगह अभाव है। नागरिकता के नाम पर जो शिक्षा दी जाती है वह भी राष्ट्र-नागरिकता की भावना का ही पोषण करने वाली होती है, जिससे बालकों को दूसरे राष्ट्रों के बालकों से प्रतिद्वन्दिता और प्रतियोगिता अनुभव करने की उत्तेजना मिलती है। हम अपने स्कूलों और कालिजों से यह पाठ पढ़कर निकलते हैं कि जीवन एक संघर्ष है, दूसरों को धक्का देकर, उन्हें गिरा कर हमें अपना रास्ता बनाना है। संसार में दूसरे सब राष्ट्रों से हमें टक्कर लेने के लिए तैयार रहना चाहिए, इसीलिये हमें अपने राज्य या राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी जरूरी है। यह शिक्षा हमें एक सीमा के अन्दर राजभक्त या राष्ट्र-भक्त बनाती है, इसकी जड़ स्वार्थपरता है। यह हमें मानवता-प्रेमी नहीं बनने देती। यही कारण है कि हमारे बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ और विद्वान भी जाति, सम्प्रदाय या राष्ट्र की तङ्ग भावनाओं से ऊपर नहीं उठ पाते; हम विश्व-नागरिक नहीं बन पाते। विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बनने के लिए यह जरूरी है कि हमें स्कूलों और कालिजों में विश्वबंधुत्व की शिक्षा दी जाय। ऐसी शिक्षा एक पीढ़ी के अन्दर मानव जाति का कायाकल्प कर देगी।

याद रहे, जो नियम और नीति विश्व-राज्य कायम करेंगी और उसे बनाये रखेंगी, वे सार्वभौम, वैज्ञानिक और आशा-वादी होंगी। विश्व-राज्य अपने बालकों को साम्प्रदायिकता

की, या निराशावाद की, शिक्षा न देगा। वह अन्धविशास, अकर्मण्यता, पराजयवाद या संसार-त्याग से समझौता न करेगा। वह नागरिकों को वैज्ञानिक पद्धति से अच्छी से अच्छी शिक्षा देगा; और फिर उन्हें विचार करने और काम करने के लिए पूरी आज़ादी देगा। उचित शिक्षा पाये हुए नागरिक अपने अपने कर्तव्य का पालन करने में लगे रहेंगे और सब अंधविश्वासों से बचे रहकर विश्व-राज्य की उच्च नागरिकता का सुन्दर परिचय देंगे।

भाषा और साहित्य - शिक्षा के साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा का माध्यम वही भाषा होनी चाहिए जो नागरिकों की मातृभाषा हो; हाँ, मातृभाषा का अर्थ व्यापक दृष्टिकोण से लिया जाना चाहिए। बहुत छोटे छोटे जन-समूहों की बोलियों और उपभाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाना चाहिए। शिक्षा के काम में हमारी निगाह भावी निर्माण की ओर हो, और ऊँचे साहित्य वाली खास खास भाषाओं को ही प्रोत्साहन दिया जाय। इस विषय पर पहले लिखा जा चुका है।

अब दूसरे देशों से हमारा सम्बन्ध तेज़ी के साथ बढ़ता जा रहा है। हमें चाहिए कि दूसरे देशों की भाषाएँ सीखें, और उनका अपने यहाँ अधिक से अधिक प्रचार करें। भाषा सीखने में यात्रा से बहुत मदद मिलती है। किसी जगह चले जाने पर हम वहाँ की भाषा बहुत जल्दी और बिना जोर लगाये सीख लेते है। बालकों को नयी भाषा और भी आसानी से आजाती है। यह बात आगे की मिसाल से स्पष्ट होजायगी। यह समाचार १७ मार्च १९४४ के 'भारत' से लिया गया है; इस तरह यह इसी महायुद्ध के समय की बात है, जब कि इंगलैन्ड में बहुत से राष्ट्रों की सरकारें और वहाँ के आदमी जमा हैं।

"लन्दन के एक शिशु-पालन गृह में १४ अलग अलग राष्ट्रों के बालक आनन्द से समय बिता रहे हैं। पढ़ने और खेल-कूद के अलावा वे सहज ही दूसरे देशों की भाषाएँ और रीति-रिवाज सीख रहे हैं। एक पाँच वर्ष के डच बालक ने अपनी भाषा के अलावा फ्राँसीसी, अंगरेज़ी. और नारवेजियन भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। एक छः वर्ष की पोलिश बालिका पोलिश और जर्मन तो पहले ही बोलती थी, अब उसने अंगरेज़ी और फ्रांसीसी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

"दूसरे देशों की अपेक्षा अंगरेज़ बालक विदेशी भाषा देर में सीखते हैं, किन्तु उनमें से भी बहुत से अपने माता पिता से कोई बात दूसरी भाषा में करके उन्हें आश्चर्य में डाल देते हैं। एक बार एक छः वर्ष के बालक की मा ने अपनी कुछ फ्रांसीसी सखियों को जल-पान के लिए बुलाया। बालक ने विशुद्ध फ्रेंच भाषा में बात करके सब को आश्चर्य में डाल दिया—विशेष कर अपनी माता को जो ६ वर्ष तक स्कूल में फ्रेंच पढ़ चुकने के बाद भी टूटी फूटी फ्रेंच ही बोल सकती थी।

एक अंगरेज़ माता ने अपनी यह परेशानी बतायी है कि उस के जुड़वा बच्चे जब उससे या अपने पिता से कोई बात छिपाना चाहते हैं तो फ्रेंच भाषा में बातें करने लगते हैं।"

इस से ज़ाहिर है कि एक साथ कई भाषाएँ सीखने का सवाल ऐसा विकट नहीं है, जैसा आम तौर से समझा जाता है। दूसरी भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान तो खासकर बचपन में सहज ही हो सकता है।

विश्व-राज्य में यह तो मान ही लिया जाता है कि संसार धीरे धीरे छोटा होता जारहा है। जिस तरह इस समय हमें राष्ट्र

का काम चलाने के लिए और राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार करने के लिए एक एक राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत होती है, उसी तरह विश्व-राज्य का आधार एक विश्व-भाषा होगी। अब तक राष्ट्र-भाषाओं ने पुरुषों और स्त्रियों के मन और आत्मा को एक संकुचित क्षेत्र में बन्द कर रखा है; विश्व-भाषा का प्रचार होने पर, उस एक भाषा के सीख लेने से, एक देश के नागरिक दूसरे किसी भी देश के नागरिकों से मित्र और साथी के समान बात-चीत और व्यवहार कर सकेंगे। जब तक विश्व-सभाओं में भाग लेने वाले नेताओं और कार्यकर्ताओं में समान भाषा का व्यवहार न होगा तब तक वास्तविक भाईचारा और राजनैतिक एकता की भावना न हो सकेगी।

कौन सी भाषा विश्व-भाषा हो, इस पर बहस करने की ज़रूरत नहीं है। संसार की भाषाओं में जो भाषा अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय के लिए सुविधा की हो, जिसे सब देशों के आदमी आसानी से बोल सकें, जिसके उच्चारण में ज़बान को बहुत कष्ट न उठाना पड़े, जिसे आसानी से सीखा जा सके, उसी से काम चलाया जायगा। खास बात यह है कि हम विश्व-भाषा की बात को अव्यावहारिक या अमल में न आसकने वाली न समझें। यदि यूरोप भर का अन्तर्राष्ट्रीय काम फ्रांसीसी भाषा में हो सकता है, यदि अंगरेजी समझने वाले थोड़े बहुत आदमी संसार के सभी देशों में मिल सकते हैं, और यदि हम चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों के लिए एक राष्ट्र-भाषा की बात को न केवल मान ही रहे हैं, बल्कि बहुत कुछ पूरी होते हुए भी देख रहे हैं तो मानव जाति के लिए यह आशा करना बहुत ज्यादह नहीं है कि सवा दो सौ करोड़ आदमियों के वास्ते कोई एक विश्व-भाषा हो सकती है। जिस तरह राष्ट्र-भाषा के साथ दूसरी

प्रान्तीय भाषाएँ भली भांति बनी रह सकती हैं, और फलती-फूलती रह सकती है, उसी तरह एक विश्व-भाषा के होने से अलग अलग देशों की अपनी अपनी भाषाओं को कोई डर नहीं है।

अंगरेजी भाषा के इतने ज्यादह प्रचार का एक कारण यह भी है कि यह उन राज्यों की भाषा है जिन्हें संसार में राजनैतिक और आर्थिक प्रभुता हासिल है। उसकी तुलना में हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा का, एक पराधीन और पिछड़े हुए देश की भाषा होते हुए भी इतना प्रचार हो जाना वास्तव में बड़ी बात है। यह भाषा केवल हिन्दू और मुसलमानों के भावों के जाहिर करने का ही साधन नहीं है, इसमें बौद्ध, पारसी, सिक्ख, ईसाई और यहूदी भी अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं को जाहिर कर सकते हैं। यह सच है कि अभी इस जबान में सायन्स और उद्योग धंधों जैसे विषयों के साहित्य की कमी है। लेकिन हिन्दुस्तान के आजाद हो जाने पर बीस पच्चीस वर्ष में ही यह कमी अच्छी तरह पूरी हो सकती है।

विश्व-भाषा के साथ विश्व-साहित्य पर भी विचार करने की जरूरत है। विश्व-सहित्य वही है, जो विश्व भर में शान्ति कायम करने और उसे बनाये रखने में मदद दे; जिससे राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच सहयोग बढ़े; जिसके पढ़ने और विचारने से विश्वबंधुत्व की भावना का विकास हो; आदमी जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद और राष्ट्र-भेद जैसे भेदों को भूल जायँ; आज कल के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए सब कमर कस लें, और हिन्सा और कूटनीति से सब परहेज करने लगें। ऐसा साहित्य हर राज्य में होना चाहिए और एक राज्य से दूसरे राज्य में बे रोक टोक आता जाता रहना चाहिए। अभी तो शक्ति

और साधनों की लोभी कौमें ऐसे साहित्य को ही प्रोत्साहन देती हैं, जिससे युद्धवादी मनोवृत्तियों को खुलकर खेलने का मौका मिले, और पढ़ने वाले यह समझें कि दूसरे राज्य हमारे शत्रु हैं, उनसे लड़े बिना हमारी गुजर नहीं; हमें उनको लड़ाई में हराने की ज्यादह से ज्यादह तैयारी करनी चाहिए, महायुद्ध से ही हमारे दुखों का अन्त होगा। इस तरह का सब साहित्य निन्दा और घृणा के योग्य है। इसे बन्द करके सब देशों की भलाई करने वाले साहित्य की रचना और उसका प्रचार बढ़ाया जाना चाहिए। मौजूदा हालत में हम ज्यादहतर अपने ही देश, जाति या धर्म के लेखकों की कृतियों से परिचित हैं, इससे हमारी जानकारी बहुत परिमित रहती है। दुर्भाग्य से हममें से बहुतों ने ज्ञान को भी अलग अलग हिस्सों में बाँट कर बीच बीच में दीवारें खड़ी कर दी हैं। सच यह है कि महापुरुष या महान लेखक किसी देश या जाति के नहीं होते। उनका संदेश संसार भर के लिए होता है। गीता का ज्ञान-भंडार केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं है। बाइबल के उपदेश, उसमें 'पहाड़ी पर की शिक्षा' केवल ईसाइयों के लिए ही नहीं है। कुरान और त्रिपिटक से सब आदमी बहुमूल्य शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

म० गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, टाल्स्टाय, राधाकृष्णन, इमर्सन, रसकिन, शेक्सपीयर, कालीदास, शेखसादी, कबीर, मौलाना रूम, गुरुनानक, गोर्की, रोमाँरोलाँ, एच० जी० वेल्स, नार्मन एंजल, बर्नार्ड शा, लुई फिशर, श्रीमति पर्लबक, जैसे लेखक सभी देशों के विचारशील पाठकों के दिल पर असर करते हैं। जब हमें उनकी रचनाएँ पढ़ने को मिलती हैं तो हम यह भूल जाते हैं कि वे किसी और देश या जाति के हैं, और हम किसी दूसरे के। सभी

देशों के साहित्य में कुछ-न-कुछ सामग्री ऐसी मौजूद है, जो सार्वभौम उपयोगिता की, सारे संसार के भले की, कही जा सकती है। इस सब सामग्री का सब मुख्य मुख्य भाषाओं में सुन्दर संकलन किया जाना चाहिए। इस तरह विश्व-साहित्य दिन दिन बढ़ता रहना चाहिए, जिसके पढ़ने और मनन करने से पाठकों को व्यापक दृष्टि से सोचने विचारने की आदत हो. और विश्व-नागरिक बनने में मदद मिले।

विश्व इतिहास — शिक्षा के अलग अलग विषयों में इतिहास की बात ख़ास तौर से विचार करने की है। आज कल एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र की तरफ जो मनोमालिन्य पाया जाता है, उसकी एक बड़ी वजह इतिहास लिखने और पढ़ाने की दूषित पद्धति है।* हम संसार के अलग अलग हिस्सों या कौमों का इतिहास इस तरह पढ़ते हैं कि उससे हमें मानव एकता का बोध नहीं होता। हमारे मन पर यह बात जम जाती है कि हमारा ही देश, हमारी जाति या हमारा धर्म सब से अच्छा है. दूसरे देश, जाति और धर्म घटिया हैं। हम अहंकारी बन जाते हैं, और दूसरों से घृणा करने लग जाते हैं; यही बात आगे जा कर हमें दूसरे राष्ट्रों का विरोधी बनाती है। बालकों के मन पर जमे हुए संस्कार जल्दी नहीं हटते। और, जब उनको यही शिक्षा मिली है कि अपने देश की सेवा करो, अपने राष्ट्र की उन्नति

* किसी देश की अलग अलग जातियों या सम्प्रदायों में जो झगड़े होते हैं, उनका भी मूल कारण आम तौर पर यही होता है। ख़ास कर हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादियों और उनके समर्थकों ने इतिहास को ऐसा रूप दिया है कि उससे हिन्दू मुसलमानों में एक दूसरे के प्रति द्वेष-भाव बढ़ता है।

करो चाहे दूसरों की कितनी ही हानि हो, तो वे दूसरे देश वालों के प्रति सहानुभूति और सद्भावना कैसे रख सकते हैं ! 'राष्ट्रीय' इतिहास मानव समाज को सामूहिक रूप से नहीं देखता, वह उसका अलग अलग ऐसे टुकड़ों के रूप में विचार करता है, जिनका एक दूसरे से मेल मिलाप न हो सके। इससे राष्ट्रों में एक दूसरे से कलह और संघर्ष बढ़ता है। जरूरत है कि इतिहास में राष्ट्रों, सम्प्रदायों या वर्गों की भेद भावना पर जोर न दिया जाय, और इनके आपसी आदान प्रदान और इनकी एकता की ओर अधिक ध्यान दिलाया जाय। वास्तव में इतिहास प्राणि-शास्त्र पर आश्रित मानवता का इतिहास होना चाहिए। ऐसा 'विश्व-इतिहास' ही मानव समाज का कल्याण करने वाला होगा।

एच० जी० वेल्ज ने ठीक कहा है—"यूनानी इतिहास, रोमन इतिहास, यहूदी इतिहास, ईसाइयत का इतिहास, अंगरेजी इतिहास, फ्रेंच इतिहास, मध्ययुगीन इतिहास, जर्मन इतिहास, हमारे द्वीप की कहानी, हमारे साम्राज्य की नवलकथा—और इसी तरह और भी न जाने कितने अलग अलग इतिहासों का संसार में अस्तित्व है—इन सब का अन्त कर देना चाहिए। इसकी जगह **मनुष्य के इतिहास** को हमें मानव प्राणिशास्त्र के पहलू से सिखाना चाहिए। हमें संसार के दूर दूर के कोनों में फैले हुए छोटे छोटे उपमानव के पारिवारिक समूहों से, जो एक दूसरे से अनभिज्ञ थे, शुरू करना चाहिए। भाषा, भाव प्रकाशन, रेखांकन के विकास को खोजना चाहिए। हम देखते हैं कि किस तरह विचारों के आदान प्रदान ने, और एक दूसरे को समझने की शक्ति ने इन छोटे समूहों को बड़े समूहों का रूप दे दिया। प्राणी-शास्त्र की दृष्टि के हम खानाबदोशी, गुफाएँ, आश्रय-स्थल, आदि काल के निवास-स्थान और औजारों के आविष्कार—इन

सब की शिक्षा देते हैं, पर एक बार भी हम अपनी मानव जाति की बात नहीं कहते। लेन देन का इतिहास, विचार विनिमय का इतिहास, औजारों के आविष्कार का इतिहास और इस सब के साथ मानव मनोवृत्ति के फैलाव का विवेक पूर्ण अध्ययन बहुत आसान है, और किसी भी प्राचीन इतिहास से अधिक सत्य है। यह अध्ययन स्वास्थ्य और जीवन देने वाला भोजन है, परन्तु जाति, और राष्ट्र की कहानी विष से सना त्याज्य आहार है।"

जिस तरह संकीर्ण राष्ट्रीय इतिहास से राष्ट्रवाद की मनोवृत्ति पैदा होती है, उसी तरह विश्व-इतिहास के पढ़ने पढ़ाने से अन्तर्राष्ट्रीय भावना का निर्माण होगा। जैसे विश्व-नागरिकों को हमें शिक्षा देनी है, उनके मानसिक भोजन के लिए विश्व-सभ्यता का इतिहास जरूरी है। विश्व-इतिहास सब जातियों और राष्ट्रों में एकता की भावना पैदा करेगा। जिन महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने हमें सभ्यता की बहुमूल्य विरासत दी है, उनकी याद और जयन्तियों से बालकों और बड़ों में विश्वबंधुत्व की भावना जागेगी।

राष्ट्र-राज्य अपने अपने लुटेरे और अत्याचारी विजेताओं या राष्ट्र-निर्माताओं के कारनामों की याद मनाते हैं, परन्तु विश्व-राज्य के नायक और नायिका सब देशों के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, कलाकार, संत महात्मा और महापुरुष होंगे। वह राम और कृष्ण, मोहम्मद और ईसा, कबीर वाशिंगटन, लिंकन, गौतमबुद्ध, अशोक और अकबर, गांधी, लेनिन, कार्लमार्क्स और अनेक दूसरे महापुरुषों के जन्म-दिन मनायेगा; वह उन उत्सवों को मनायेगा जो मानव समाज की उन्नति के सूचक हैं, और इसी दृष्टि से नये नये उत्सवों की योजना करेगा। जगह जगह के अलग अलग उत्सवों में भी यही विचार-धारा काम करेगी, आज

कल के कितने ही उत्सव तब मनाने जाने योग्य न रहेंगे, और कितने ही उत्सवों का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जायगा।

यात्रा—शिक्षा का एक आवश्यक अंग यात्रा या सफ़र है। यात्रा से मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ता है, वह दूसरों के सम्पर्क में आता है, उनको समझने की कोशिश करता है, उसका विचार-क्षेत्र बढ़ता है, और उसकी सामाजिक भावना का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। बहुत पुराने ज़माने से आदमी यात्रा के साधनों में तरक्की करता रहा है। पहले वह पैदल ही चलता था। फिर उसने जानवरों की पीठ पर चढ़कर यात्रा करनी शुरू की; फिर गाड़ी, रथ, इक्का, बग्गी बनायी; साइकिल के रूप में उसने ऐसी सवारी ईजाद की, जिसमें जानवर की ज़रूरत नहीं होती, और थोड़ी मेहनत से यात्रा हो जाती है। भाप, बिजली, पेट्रोल आदि का उपयोग मालूम हो जाने पर मोटर, रेल और जहाज चलने लगे। अब हवाई जहाजों का युग आ रहा है।

हवाई जहाजों की बनावट में सुधार हो जाने, और छोटे छोटे हवाई जहाज तैयार होने पर उनका दाम घट जायगा और इनका प्रचार बढ़ जायगा। हाल में एक नये ढङ्ग का हवाई जहाज बना है, यह एक घूमने वाले पंख के सहारे ऊपर चढ़ सकता है और नीचे उतर सकता है। इसके लिये हवाई अड्डे की जरूरत नहीं है। यह आशा की जाती है कि धीरे धीरे इसमें इतना सुधार हो जायगा कि यह जमीन पर भी चल सकेगा और हवा में भी उड़ सकेगा। इस तरह हवाई जहाज से यात्रा बहुत ही आसान हो जायगी।

इस समय संकीर्ण राष्ट्रवाद ने यात्रा के शिक्षा सम्बन्धी महत्व को दबा रखा है। आदमी दूर दूर की यात्रा करके भी व्यापक दृष्टिकोण वाला नहीं बन सकता। उसका दिल और

दिमाग़ बहुत कुछ घर में बैठे हुए व्यक्ति की तरह होता है। ऐसे तङ्ग ख्याल राष्ट्रवादियों को नज़र में रखकर ही शेखसादी ने कहा है—"ईसा मसीह का गधा मक्के की भी यात्रा कर आवे तो लौटने पर वह गधा ही रहता है।" किन्तु जब हम विश्व-भाषा बोल सकते होंगे, विश्व-इतिहास और विश्व-साहित्य में हमारी रुचि होगी, तो विश्व-यात्रा में हमें कुछ और ही आनन्द आयेगा। सब विषयों पर हम विशाल दृष्टि से विचार करेंगे, हम में विश्वबंधुत्व की भावना बढ़ेगी, और हम विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बन सकेंगे।

विश्व-समाज—अब हम तनिक इस बात पर भी विचार करें कि विश्व-राज्य में जनता का सामाजिक जीवन कैसा होगा। मानव संगठन में एक अंश तक सामाजिक समरसता, एकसी रुचि होना आवश्यक है। यह ज़रूरी नहीं कि भोजन वस्त्र या मनोरंजन की चीजें पूरी तरह एक सी हों, फिर भी रीति रस्म या आचार व्यवहार की बहुत ज्यादह भिन्नता मित्रता में बाधक होती हैं। विश्व-पार्लिमेंट के सदस्यों को गोष्टी या मित्र-मंडली की तरह जीवन व्यतीत करने की आदत होनी चाहिए। आजकल दूर दूर के रहने वालों के आपसी सम्बन्ध बढ़ते जा रहे हैं। इसका नतीजा यह है कि हमारी भाषा, हमारे साहित्य, हमारे रहन सहन, खान पान, आचार व्यवहार, अर्थ-नीति, शासननीति सभी बातों पर दूसरे देशों का प्रभाव पड़ता है। आज दिन एक देश का नागरिक दूसरे देश के नागरिक से पहले की निस्बत कहीं ज्यादह निकट है।

यह ठीक है कि कुछ स्थानों में आने जाने के साधनों की ठीक ठीक उन्नति न होने और आमदरफ्त कम होने से लोगों का जीवन एक दूसरे से बहुत भिन्न है; वे न एक दूसरे की भाषा

समझ सकते हैं, और न पोशाक आदि में ही एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु हम भेद भावों की ओर से अपनी नजर हटा कर एकता की खोज करें तो उसकी मिसालों की भी कमी न रहेगी। जैसे, कितने ही भारतवासी अंगरेज़ी भाषा बोलते हैं, अंगरेज़ी साहित्य पढ़ते हैं, अंगरेज़ी खेल खेलते हैं, अंगरेज़ी पोशाक पहनते हैं, अंगरेज़ी ढंग का खाना खाते हैं, और अंगरेज़ी ढंग के मकानों में रहते हैं। यह कुछ अंश में अस्वाभाविक है। इसका कारण यह भी है कि भारतवर्ष में अंगरेज़ों का राज्य है, और कुछ लोग सब जगह शासकों का अनुकरण करने वाले हुआ करते हैं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि अंगरेज़ी राज्य न रहने पर भी अंगरेज़ी जीवन का प्रभाव यहाँ से पूरी तरह लोप नहीं हो जायगा, बल्कि जिस तरह की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं, उन्हें देखते हुए यही अन्दाज होता है कि भविष्य में अंगरेज़ों से, और इसी तरह दूसरे यूरोप अमरीका वालों से हमारी भिन्नता कम होती जायगी। बात यह है कि जब हिन्दुस्तान आज़ाद होगा तो दूसरे देश यहां की बातों पर भी ज्यादह निस्पक्ष होकर विचार कर सकेंगे, उनकी ज्यादह कद्र करेंगे, और उन्हें अपनाने में इस तरह संकोच न करेंगे, जैसा कि अब भारत की पराधीनता की हालत में करते हैं। यही बात दूसरे देशों के बारे में कही जा सकती है।

आज कल संसार के कई देशों के लोगों की अच्छी बातों का ठीक ठीक आदर और अनुकरण नहीं किया जा रहा है, क्योंकि वे पराधीन हैं, और शासक देशों में मिथ्याभिमान भरा हुआ है। यह अवस्था बहुत समय तक रहने वाली नहीं है, सब देशों को स्वतंत्र होना है। जब सब देश स्वाधीन हो जायँगे, तो हम अवश्य ही एक दूसरे के ज्यादह नज़दीक होंगे। हमारे

आपसी सम्बन्ध बढ़ेंगे और वे तरह तरह के होंगे।

कुछ अंश में तो हमारे आपसी सम्बन्ध इस समय भी बढ़ते जा रहे हैं। लेकिन विश्व-राज्य के ख़्याल से इस दिशा में काफ़ी प्रगति नहीं हो रही है। हम साधारण नागरिकों की हालत पर विचार करें तो अभी बहुत कमी है। यूरोप और एशिया के, या अमरीका और अफ्रीक़ा के, गोरे और काले आदमियों में से जन साधारण की एक गोष्टी बनाना बहुत कठिन है। हिन्दुओं की छुआछूत, अधिकांश एशिया की स्त्रियों की एकान्तता और परदा, और यूरोप वालों की मद्य मांस की ज़रूरत से ज्यादह रुचि सामाजिक समरसता में कम या ज्यादह बाधाएँ हैं। इन्हें धीरे धीरे दूर करने या कम करने की कोशिश होनी चाहिए। पोशाक की एकता का लक्ष्य रखने की ज़रूरत नहीं है, और कुछ परिवर्तन खुद ही हो रहा है। विश्व-राज्य सब आदमियों पर एक ही ढंग का पहनावा नहीं लादेगा, विभिन्नता में भी सौन्दर्य है।

मनोरंजन की बात यह है कि कुछ खेल—फुटबाल, क्रिकेट, शतरंज और ताश जैसे—व्यापक हो गये हैं। इनके अन्तर्राष्ट्रीय टूरनामेंट या दंगल होते हैं। संगीत पद्धति में अभी बहुत भेद है। यूरोप वालों को पूरब का संगीत कम पसन्द आता है, और पूर्वी देशों के आदमी पच्छिम के संगीत की सराहना नहीं करते। संगीत शिक्षा की भी व्यापक पद्धति या पद्धतियों का प्रचार होना चाहिए, जिससे विश्व-नागरिक सब देशों के अच्छे संगीत का आनन्द ले सकें। ऐसी बातों से सामाजिक एकता बढ़ेगी, और इसी तरह विश्व-संघ की बुनियादें मज़बूत होंगी।

पच्चीसवाँ अध्याय

विश्व-धर्म

नया धर्म दुनिया के सब महात्माओं का धर्म होगा। उसमें सदाचार और बलिदान को पहला स्थान दिया जायगा। वह सब देशों के प्रेमियों और वीरों की पूजा सिखाएगा। —*अज्ञात*

'साम्प्रदायिकता' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है कि अधिकाँश प्रचलित धर्मों ने परस्पर विरोधी सम्प्रदायों का रूप धारण कर रखा है। ये धर्म एक दूसरे के प्रति उग्र हो गये हैं। विश्व-राज्य में यह बात नहीं चल सकती कि उसके नागरिक आपस में घृणा का व्यवहार करें, और एक दूसरे को मलेच्छ, नास्तिक, काफिर आदि कहें। उस राज्य में तो मानव एकता का आदर्श होगा।

मौजूदा हालत को सुधारने के लिए दो तरह के उपाय काम में लाए गए हैं और लाए जा रहे हैं—(१) सब धर्मों का अन्त कर देना, लोगों के दिल से धर्म सम्बन्धी भावना को ही मिटा देना। और (२) सब धर्मों का समन्वय करना, उनके समान गुणों और बुनियादी असूलों की ओर लोगों का ध्यान दिलाना, इन बुनियादी असूलों को मुख्य और ऊपरी कर्मकाँड को गौण मानना; इस तरह धार्मिक मतभेदों को दूर करना और विविध धर्मों के मानने वालों में केवल सहिष्णुता ही नहीं, समभाव बढ़ाना।

क्या धर्म का अन्त किया जा सकता है? प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर भगवान दास जी ने लिखा है कि यह ऐसा ही है, जैसा रोग का इलाज करने के लिए शरीर को ही खत्म कर देना। जब तक मनुष्य को कष्ट और मृत्यु का सामना करना है और और वह आगे पीछे दोनों ओर देखाता है, तब तक मानव हृदय और मस्तिष्क को उस धैर्य और सान्त्वना की आवश्यकता रहेगी, जो केवल धर्म ही दे सकता है। यदि बुद्धिमान लोग आम लोगों को सच्चा और वैज्ञानिक धर्म न देंगे तो वे नासमझ और स्वार्थी पंडे पुरोहितों के हाथों में रूढ़ियों और अन्धविश्वासों मे ही फँसे रहेंगे। धर्म की आवश्यकता से रहित केवल वे ही हो सकते हैं, जो सोच विचार नहीं कर सकते। उन महात्माओं को भी किसी अलग धर्म की चाह नहीं रहती, जिन्होंने गहरा चिन्तन किया है, और अपनी असीम आत्मा में ही जीवन के रहस्य का पता लगा लिया है। उन्हें धर्म का तत्व मिल चुका है। मानव विकास की आजकल की अवस्था में ऐसे पहुँचे हुए लोग कम हैं; ज्यादहतर जन समुदाय को धर्म के किसी बाहरी रूप की भी अवश्यकता रहती है। यही कारण है कि संसार मे धर्म जीवित है। वह एक रूप में मिटता है, तो दूसरे रूप मे उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। रूस के प्रयोग की ओर ही देखें वहाँ क्या हुआ? जहाँ तक समाचार मिले हैं, अधिकारियों ने देश भर से धर्म को हटा देने की कोशिश की थी, पर अन्त में जनता का प्रबल विरोध देखकर उन्हे उस मामले को छोड़ देना पड़ा। जो हो, रूस में लोगों का अपना धर्म है, गिरजे भी हैं और मसजिदें भी। केवल कहीं कहीं हजरत ईसा और मरियम की जगह लेनिन और स्टेलिन आराध्य देव हैं।

इसलिए धर्मों का अन्त करने की बात छोड़ कर हम धर्म-

समन्वय की ओर ध्यान दें। इस उद्देश्य को सामने रख कर समय समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा, सम्मेलन आदि हुए हैं। सन् १८७५ में न्ययार्क (अमरीका) में थियोसीफिकल सोसायटी कायम हुई। उसके तीन उद्देश्य थे—(क) जाति, सम्प्रदाय, रंग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबंधुत्व के भाव को फैलाना, (२) धर्मों, दर्शनों और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना, और मनुष्य की छिपी हुई शक्तियों का पता लगाना। थियोसोफिकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय इस समय अडयार (मद्रास) में है, और पचास से ऊपर देशों में सोसाइटी की शाखाएँ हैं।

सन् १८९३ से अब तक कई देशों के खास खास नगरों में विविध धर्मों की पार्लियामैंटें हो चुकी हैं। सब से पहली पार्लिमैंट उस वर्ष शिकागो (अमरीका) में हुई थी। सन् १९३३ से सब धर्मों का एक विश्व-संघ ('वर्ड फेलोशिप आफ फेथ्स') शिकागो में काम करने लगा है। इसमें सब धर्मों, जातियों, और देशों के आदमियों ने हिस्सा लिया। इस संघ का उद्देश्य युद्ध, अन्याय, द्वेष, बेकारी, संकीर्ण राष्ट्रीयता और अज्ञान आदि आधुनिक समस्याओं का आध्यात्मिक हल खोज निकालना है। भारतवर्ष में खासकर हिन्दू और मुसलमानों के मेल को लक्ष्य में रख कर कई एकता-सम्मेलन हुए हैं। गुरुकुल जैसी कुछ संस्थाएँ अपने सालाना जलसों में सर्व-धर्म-सम्मेलन करती हैं, जिनमें विविध धर्मों के प्रतिनिधि अपने अपने धर्म के सम्बन्ध के निबन्ध पढ़ते हैं, या व्याख्यान देते हैं।

धर्म-समन्वय की दृष्टि से समय समय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं, जिनमें डाक्टर भगवानदास की 'दि असेन्श्यल यूनिटी आफ आल रिलीजन्स' और स्वामी कृष्णानन्द

जी की 'ह्यूमेनिज्म' या 'दि ह्यूमन रिलीजन' खास हैं।

धार्मिक मत भेदों को दूर करने के लिए समय समय पर अनेक प्रयत्न किये गये हैं, इन सब उपायों से लाभ हुआ है, पर इनमें से किसी को भी पूरी सफलता नहीं मिली। हर धर्म के अनुयायी अपने धर्म को ही सब से बढ़ कर, सब से सच्चा या सबसे अधिक विकसित और हितकर मानते हैं। यहाँ तक कि जो कोई उसमें कुछ खास सुधार चाहता है, या दूसरे धर्मों से उसकी तुलना करता है, वह धर्म-द्रोही या नास्तिक बताया जाता है। सुधारकों या मेल मिलाप करने वालों का मार्ग कहीं भी सरल नहीं है। यह स्वाभाविक ही है कि कट्टर, अज्ञानी और अन्धभक्त लोग इस तरह के काम में रुकावट हों। परन्तु विश्व-हित के चाहने वाले और विश्व-राज्य के अभिलाषी सुधारकों में इतना धीरज होना चाहिए कि वे ऐसी बाधाओं से विचलित न हों; बल्कि उन्हें अपनी सेवा के बहुमूल्य पुरस्कार के रूप में स्वीकार करें। तभी हम संकीर्ण 'धर्मगत' सीमाओं को लाँघ सकेंगे, सच्चा धर्म-भाव पैदाकर सकेंगे, और विश्वबंधुत्व के आदर्श को चरितार्थ कर सकेंगे।

विश्व-धर्म कैसा होगा? पहले हम यह देखें कि धर्म किसे कहते हैं। जैसा कि पंडित सुन्दरलाल जी ने कहा है * धर्म, मजहब, पन्थ, मार्ग, 'रिलीजन', आदि सबका करीब करीब एक ही अर्थ है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसके माने धारण करना या संभालना है। जिस चीज से दुनिया संभली

---

* इस अध्याय की कई बातें पंडित सुन्दरलाल जी के उस भाषण से ली गयी हैं, जो उन्होंने १ जून १६४१ को बारसी (शोलापुर) में सर्व धर्म सम्मेलन के सभापति के नाते दिया था।

रहे उसी का नाम धर्म है। मजहब, पन्थ, मार्ग तीनों के माने रास्ता है। इस दुनिया में आदमी को जिस रास्ते पर चलना चाहिए, जो उसकी भलाई और तरक्की का रास्ता है, उसी का नाम मज़हब है। 'रिलीजन' जिस धातु से बना है, उसके माने 'बांधना' है, जो चीजें मनुष्य जाति को बांधे रखती है, उन्हें टुकड़े टुकड़े होने से बचाती हैं, वह उसका रिलीजन है। हिन्दू शास्त्र बतलाते हैं कि धर्म वह है जिससे मनुष्य का इस जीवन में और इसके बाद दोनों जगह कल्याण हो।* धर्म के अन्दर अनेक गुणों का समावेश माना जाता है। अलग अलग आचार्यों ने इन्हें अपने अपने ढंग से बताया है। इस सब गुणों का आपस में सम्बन्ध है, और किसी किसी का दूसरे में समावेश भी भी हो सकता है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण ये हैं—धीरज, क्षमा, संयम, चोरी न करना, (मन और शरीर की) सफाई, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य, और क्रोध न करना।* संक्षेप में मनुस्मृति में अहिन्सा (दूसरों को शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना), सत्य, चोरी न करना, सफाई और इन्द्रियों को वश में रखना इन को चारों वर्णों का सामाजिक धर्म बताया गया है।† मनु का यह भी कहना है कि 'आचारः परमो धर्मः' यानी सबसे ऊंचा धर्म मनुष्य का सद्व्यवहार (नेकी) है।

* यतोऽभ्युदय निश्रयस्सिद्धि स धर्म।

† धृति, क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम् ॥—मनु० ६।९२
अहिन्सा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मचातुवर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥—मनु० १०।६३

दूसरे धर्मों में भी इसी तरह की बातें कही गयी हैं। अगर हम ऋगवेद, जेन्द अवस्ता, त्रिपिटक, इंजील, जैन सूत्र, और कुरान को बराबर बराबर रख कर ध्यान से पढ़ें तो हमें सब धर्म-ग्रन्थों में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देगी। ऋग्वेद के वाक्य के वाक्य और ऋचाएँ ज्यों की त्यों जेन्द अवस्ता में पाई जाती हैं। केवल यही नहीं; वेद, स्मृति, अवस्ता, बौद्ध और जैन ग्रन्थ, इंजील के नये और पुराने अहदनामे और कुरान इन सब में न केवल भाव और विचार ही बल्कि वाक्य के वाक्य इस तरह मिलते चले जाते हैं कि साफ मालूम होने लगता है कि या तो इन सब धर्म-ग्रन्थों ने एक दूसरे से लिया है और या कम से कम इन सब का एक ही सोता या सरचश्मा है।

मनु के धर्म के दस लक्षणों और हज़ारों मील दूर के हज़रत मूसा की मशहूर दस आज्ञाओं में गहरी समानता है। मनु ने दस के पाँच करके उन्हें मनुष्य मात्र का सामाजिक धर्म बताया है। बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए दस 'शीलों' की आज्ञा दी है। पातंजलि ने अपने योग सूत्रों में इन्हीं में से पांच को 'यम' और पांच को 'नियम' बना दिया है। बुद्ध ने जिन पांच 'नेक कामों' पर ज़ोर दिया है, वे ये हैं—(१) किसी के प्राण न लेना, (२) झूठी बात न कहना, (३) धोखे या ज़बरदस्ती से किसी की चीज़ न लेना, (४) शराब वगैरह कोई चीज़ इस्तेमाल न करना, और (५) व्यभिचार न करना।

जैन सूत्रों में लिखा है—हिन्सा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुनिया के किसी माल को अपना बनाकर बैठ जाना—इन पांच पापों से बचना, यही सच्चा व्रत है।

ठीक यही चीज़ें इसी तरह महात्मा ज़रथुस्त के उपदेशों, हज़रत ईसा के उपदेशों, और कुरान मजीद में मिलती हैं। देखने

की बात यह है कि पहली तीन चीजें—किसी की जान न लेना, झूठ न बोलना, और चोरी न करना—इन सब में इसी तरह सब से शुरू में और इसी तरतीब में मिलती हैं।

संसार के बड़े बड़े धर्मों में हिन्दू धर्म सब से पुराना और इसलाम सब से हाल का है। भारतवर्ष में इन्हीं दोनों धर्मों के मानने वालों की तादाद ज्यादह है। इन सब से नये और सब से पुराने धर्मों में विलक्षण समानता है। कुरान का 'ला इलाह इल्लल्लाह' उपनिषद् का 'एकमेवाद्वितीयम' दोनों एक दूसरे का लफ़्ज़ी तरजुमा हैं। 'अनलहक़' का ठीक वही अर्थ है जो 'अहंब्रह्मास्मि' का है। गीता में कहा गया है—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

अर्थात ईश्वर सब के दिल में रहता है। इसी तरह इसलाम कहता है—

'कलबुल इन्सान वैतुर्रहमान'

अर्थात् आदमी का दिल रहमान के रहने की जगह है। कुरान में ईश्वर के नामों में सब से ज्यादह 'इलाह' या 'अल्लाह' नाम आया है। ऋग्वेद में ईश्वर के अनेक नामों में से एक नाम 'इला' भी है। यह शब्द 'इल' धातु से बना है, जिस का अर्थ स्तुति या उपासना करना है।

इस तरह की सैकड़ों मिसालें विविध धर्म-ग्रन्थों से दी जा सकती हैं। ख्वास कर गीता और कुरान इन दोनों को आमने सामने रखकर पढ़ने वालों को क़दम क़दम पर इस तरह की सैकड़ों समानताएँ दिखायी देंगी। जरूरत केवल पढ़ने वाले में प्रेम और निष्पक्षता की है। वास्तव में दुनिया के ये सब धर्म-ग्रन्थ एक ही आवाज़ की गूंज हैं, और सब एक ही सोते से निकले हैं।

निस्सन्देह इन सब धर्मों में फ़रक़ भी है, लेकिन फ़रक़ मूल सिद्धाँतों या सदाचार के असूलों में नहीं है। फ़रक़ है पूजा के तरीकों, रूढ़ियों और रस्म रिवाजों में। और. ये सब बातें गौण हैं। जो आदमी अज्ञान वश इन ऊपरी गौण बातों को ही मुख्य मान लेते हैं, और इनके पालने को अधिक महत्व देते हैं, वे धर्म को झगड़े की चीज़ बना देते हैं। फ़रक इसलिये है कि वे बातें अलग-अलग देशों और अलग-अलग ज़मानों में शुरू हुईं। विचारशील आदमी को चाहिए कि इस रहस्य को अच्छी तरह समझ ले। सब धर्मों के महापुरुषों ने रूढ़ियों के गौण होने पर, और विश्वास, हृदय की शुद्धता, प्रेम, सच्चाई, ईमानदारी और परसेवा के मुख्य होने पर ज़ोर दिया है। गीता में कहा गया है—

'जो जिस विधि विधान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, उसे ईश्वर उसी रास्ते से मिलता है अलग अलग रास्तों से चलकर भी सब लोग एक ही ईश्वर तक पहुँचते हैं।*

गीता ने साफ़ साफ़ कह दिया है कि ईश्वर के दर्शन वही कर सकता है, जिसने अपने आप को जीत लिया है. जो अपने और पराये के भेद भाव से ऊपर उठ गया है, जो (चिकीर्षु लोक संग्रहम) सब का भला चाहता है, (सर्व भूत हित रत:) सब की भलाई के कामों में लगा रहता है, और (आत्मवत् सर्व भूतेषु) सब को अपने समान समझता है। दूसरे धर्म-ग्रन्थों में भी इसी तरह की बातें कही गयी हैं।

---

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं ।
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

इन में किसी खास जाति या रंग के आदमियों के लिये ही शिक्षा नहीं है, बल्कि सब के हित की बातों का समावेश है। निस्सन्देह सार्वभौम धर्म का आधार ऐसे ही नियम हो सकते हैं। इनमें किसी भी विचारशील आदमी को आपत्ति नहीं हो सकती।

जिस विश्व-धर्म का हम विचार कर रहे हैं, उसमें ऐसे ही व्यापक, सब के मानने योग्य, और सब के लिए हितकर सिद्धान्तों का समावेश होगा। वह हमें हर महापुरुष का आदर करना सिखाएगा; राम और कृष्ण को मानने वाला, और मोहम्मद और ईसा के गुण गाने वाला, बुद्ध और ज़रथुस्त्र को नहीं भुलावेगा। विश्व-धर्म का मूल मंत्र मानवता की सेवा होगी। मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान, और वह ईसाई—इन भेदभाव सूचक वाक्यों का तब अन्त हो जायगा। सब के लिए एक संज्ञा होगी—'मैं इनसान हूँ' और 'मेरा धर्म इनसानियत है।' ईश्वर है या नहीं, और है तो क्या और कैसा; उसकी तरफ से विशेष दूत, अवतार, पैगम्बर आदि आते हैं या नहीं, वह कौन कौन से तीर्थों में या मंदिर, मसजिद या गिरजा में रहता है— इन प्रश्नों पर वादविवाद करना अनावश्यक होगा। इस तरह के विश्वासों और विचारों में सब को पूरी आज़ादी होगी। विश्व-राज्य के नागरिक की हैसियत में, इन बातों के कारण कोई फ़रक नहीं पड़ेगा। विश्व-राज्य केवल यह चाहेगा कि हर आदमी नैतिक गुण सम्पन्न हो, ईमानदार और सच्चा हो, वह समस्त मानव जगत के साथ प्रेम करे, और सब की सेवा और सहायता करता रहे।

क्या विश्व-राज्य में मंदिर आदि होंगे? यह बात व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहेगी। बहुत से लोगों के लिए उनका मन

ही मंदिर का काम दे देगा, उन्हें अलग किसी मंदिर की ज़रूरत न होगी। कुछ लोग ऐसे होने सम्भव हैं, जो अपने निजी या या सामूहिक उपयोग के लिए किसी पूजालय की ज़रूरत अनुभव करें। इस विचार से जहाँ तहाँ पूजालय बन सकेंगे. परन्तु कोई पूजालय किसी भी देश में हो, उसका स्वरूप और उद्देश्य आज कल की तरह भेद भाव पैदा करने वाला न होकर प्रेम बढ़ाने वाला होगा। वह किसी सम्प्रदाय विशेष का न होकर मनुष्य मात्र का होगा. और मनुष्य मात्र के लिए होगा। वह विश्व-मंदिर का नमूना होगा। हम पहले कह चुके हैं कि विश्व-राज्य के नागरिक इतने उदार और विचारवान होंगे कि उनमें यह बात नहीं पायी जायगी कि कोई आदमी किसी ख़ास महापुरुष, देवता या अवतार का तो भक्त हो, और दूसरे का निन्दक। वे इतने ज्ञानवान होंगे कि उन्हें यह बहस करने की ज़रूरत न रहेगी कि उस मन्दिर पर शिखर हो या गुम्बद, उसकी शकल मसजिद की तरह हो, या गिरजा से मिलती हुई। ऐसी तुच्छ बातों को कौन सोचने बैठेगा!

विश्व-मंदिर में हर जाति और देश के महात्माओं, लोकसेवकों और सन्तों की सुन्दर यादगारें होंगी, जिन्होंने मनुष्य-जाति की ख़ास सेवा की है और उसके लिए त्याग और कष्ट सहन किया है, ऐसे मंदिर में जाने पर आदमी के हृदय में ऊँची भावनाएँ जागेंगी. और विश्व-नागरिकता के अधिक से अधिक गुणों के विकास में मदद मिलेगी। वहाँ धर्म-ग्रन्थों के रूप में सब महानुभावों के जीवन-चरित्र और उनकी बड़ी बड़ी रचनाएँ रहेंगी। विश्वबंधुत्व के ऊँचे धरातल से लिखी हुई अन्य सुकृतियों का भी वहाँ संग्रह रहेगा। ऐसे साहित्य को अवलोकन करने से कौन धन्य न होगा!

ऐसे विश्व-मंदिरों के निर्माण के लिए लोकमत तैयार करना हमारा अभी हाल का कर्तव्य है। इस दिशा में कुछ काम हम अब भी कर सकते हैं। हमारा हर मंदिर, मसजिद या गिरजा सब धर्म वालों के लिए समान रूप से खुला हो। उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म वाले आजादी के साथ जा सकें; वहाँ पूर्वी पच्छमी, काले गोरे, एशियाई, यूरोपियन और अमरीकन आदि का कोई भेदभाव न हो। ऐसा होने पर ही कोई मंदिर वास्तव में परमात्मा का मंदिर कहा जा सकता है।

धर्म कहता है कि मनुष्य ईश्वर (ब्रह्म) का अंश है और मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मत्व को प्राप्त करना है। हमारे लिए यह विशाल संसार ईश्वर का ही रूप है, जिसमें अनेक जातियों, अनेक धर्मों और अनेक रंगों के लोग रहते हैं। जब तक हम उन सब को अपनाने यानी अपना समझने में समर्थ नहीं होते, जब तक हम किसी भी वर्ग या समूह के लोगों को पराया या ग़ैर मानते हैं, तब तक हम ब्रह्म को प्राप्त करने की ओर नहीं जा सकते। परमात्मा का व्यक्त रूप मानव जाति है, धर्मात्मा बनने का सच्चा मार्ग मानव जाति से प्रेम करना, सब के साथ सहानुभूति रखना, भेद-भाव का विचार मन से दूर करके सबका भला चाहना, और सब की सेवा के लिए तत्पर रहना है।

निस्सन्देह ईश्वर के निकट पहुँचने और उसकी सच्ची भक्ति करने का तरीका यही है कि हम आदमियों की सेवा सहायता करें, भूखे नंगों को खाना कपड़ा दें, और रोगियों की सेवा सुश्रुषा करें। आगे की पंक्तियाँ* कितनी शिक्षा देने वाली हैं मोहम्मद

*'विश्ववाणी' जून १९४१

साहब ने एक बार कहा—मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—'ऐ मनुष्य के बेटे ! मैं बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया।' मनुष्य कहेगा—'ऐ मेरे रब्बा ! मैं तुझे देखने कैसे आसकता था। तू तो सारी दुनिया का मालिक है।' अल्लाह जवाब देगा—'क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरा अमुक बन्दा बीमार था ? और तू उसे देखने नहीं गया। क्या तुझे मालूम नहीं था कि यदि तू उसे देखने जाता तो निस्सन्देह मुझे उसके पास पाता ?'

पूर्ण भक्ति भाव से तन्मय होकर सेवा करनेवाले महान पुरुषों और स्त्रियों से समय समय पर संसार को बहुत लाभ पहुँचा है। एक ताज़ा मिसाल मिस मेरी रीड की है। ये एक अमरीकन महिला थीं। इन्होंने सन् १८६१ ई० में चंडग (अलमोरा) के कुष्ठाश्रम यानी कोढ़ियों के अस्पताल का काम संभाला। एक दो नहीं, दस, बीस नहीं, पूरे बावन वर्ष इन्होंने कोढ़ियों की सेवा की। सैकड़ों स्त्री पुरुषों को इन्होंने आशा और सुख प्रदान किया। ८ अप्रैल १९४३ को ८८ वर्ष की उम्र में इनका देहावसान हुआ। इन्होंने अपनी दोनों मातृभूमियों (अमरीका और भारतवर्ष) की शोभा बढ़ायी। जुदा जुदा देशों के बीच में जो खाई बनी हुई हैं, उन पर पुल बाँधने के लिए हर देश के निवासियों में मिस मेरी रीड की भावना भरी होनी चाहिए।

विश्व-राज्य चाहता है कि ऐसे महान पुरुष और स्त्रियाँ अधिकाधिक तादाद में हों, जो दूसरों की सेवा सच्चे प्रेम और निस्स्वार्थ भाव से करें—सेवा करने में वे अपने दिलों को देश, जाति, रंग या सम्प्रदाय की दीवारों के अन्दर बन्द न रखें; मानव जाति और विश्व भर को समान दृष्टि से देखें। यही सच्चा धर्म है, और, यही विश्व-धर्म है।

प्राचीन काल में इस धर्म का पालन करना इतना आसान न

था। यद्यपि हर धर्म ने विश्वबन्धुत्व, मनुष्य मात्र के भ्रातृभाव, वसुधैवकुटुम्बकम् आदि का आदर्श हमारे सामने रखा और इस भावना का प्रचार किया, और इससे उसके अनुयाइयों में उदारता भी आयी, पर उस समय आने जाने के साधनों की कमी थी, लोगों का जीवन छोटे छोटे समूहों में बँटा था, एक आदमी अपने गाँव या नगर-राज्य से बाहर के आदमियों से वास्ता न रखता था, और अगर यह मालूम भी हो जाता कि उन्हें हमारी सहायता की जरूरत है तो भी काफ़ी साधन न होने के कारण सहायता देना कठिन था। अब विज्ञान ने दूर दूर के आदमियों को एक दूसरे के नज़दीक कर दिया है, अमरीका वाले अगर चाहें तो चीन, भारत या अफ्रीका आदि के आदमियों की खूब सेवा कर सकते हैं। इसी तरह भारतवासी विश्व-शांति और भाईचारे का संदेश देश देश में पहुँचा सकते हैं। विज्ञान ने धर्म-प्रचार की बाधाओं को दूर करके विश्व-धर्म का मार्ग और अधिक प्रशस्त कर दिया है। यह ज़रूरी है कि आदमी विज्ञान का दुरुपयोग न करे। विज्ञान की सहायता से अब मनुष्य ज़्यादह आसानी से विश्व-धर्म का अनुयायी हो सकता है।

छबीसवाँ अध्याय

विश्व-अर्थनीति

आदमी अपनी हालत और ज़रूरतों के अनुसार अपनी रीति नीति आदि में परिवर्तन या संशोधन किया करता है। हमें देखना है कि जबकि हमारी बदलती हुई परिस्थिति हमें विश्व-संघ बनाने को मजबूर रही है तो आर्थिक क्षेत्र में हमारी नीति क्या

होगी, या क्या होनी चाहिए।

यदि कुल, मानव जनता की दृष्टि से विचार करें तो संसार में भोजन वस्त्र और दूसरी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए सामान की कोई कमी नहीं है। इस समय पृथ्वी की कुल आबादी सवा दो सौ करोड़ है, और खाने पीने आदि का सामान इनसे दुगने आदमियों के निर्वाह लिए काफी है। यदि वैज्ञानिक साधनों का ठीक उपयोग किया जाय, और पूँजीवादी अपने और नफे के लिए। और साम्राज्यवादी अपने युद्धों में। बहुत सी सामग्री नष्ट न करें तो पृथ्वी की पैदावार इस समय की आबादी के आदमियों के लिए खूब काफी हो सकती है। यही बात जगह की है। आस्ट्रेलिया का फैलाव तीस लाख वर्ग मील है —हिन्दुस्तान से बहुत अधिक; और. वहाँ की आबादी सत्तर लाख से भी कम। इस पर भी आस्ट्रेलिया वाले बाहर वालों को अपने यहाँ नहीं रहने देते। फिर संसार में बहुत से आदमियों को जगह की कमी हो तो क्या आश्चर्य! जब हर राज्य केवल अपने ही भले और ऐश्वर्य की बात सोचे, और बलवान अपनी ज़रूरतों से अधिक जगह और सामग्री पर अधिकार जमाये तो सब का निर्वाह कैसे हो!

एक मिसाल लीजिए। एक घर में दस आदमी हैं, यदि सब मिल कर रहें तो सब के लिए काफी से ज्यादह जगह है, भोजन वस्त्र आदि सामान की भी कोई कमी नहीं। खूब आराम से सब का निर्वाह हो सकता है। परन्तु जब हर एक आदमी अपने निजी सुख और सुविधा की सोचता है, भोजन अलग बनाना चाहता है, और उसके लिए रसोई-घर भी अलग रखता है, नहाने धोने के लिए अलग कमरा रखता है, और उसमें अलग पानी का नल लेता है, तो ऐसी बातों से

कितनी असुविधा होगी, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। घर जायदाद आदि का बँटवारा होने पर गृहस्थों की हालत की कितनी खराब हो जाती है, यह समय-समय पर अनुभव होता रहता है।

यही बात राज्य की है। नगर-राज्यों से तरक्की करके हम राष्ट्र-राज्यों पर आये। पर हमारी पुरानी संकीर्णता ने हमारा पिंड न छोड़ा। विज्ञान ने उन्नति की, मनुष्य के मस्तिष्क के विकास का परिचय मिला। परन्तु मनुष्य का हृदय उसके साथ न बढ़ा, वह प्रगति में पीछे रह गया। इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है, हर आर्थिक क्षेत्र में कुव्यवस्था है, मानव जाति भयंकर कष्ट उठा रही है। इसका अन्त करना आवश्यक है।

अर्थनीति के मुख्य भेद ये हैं—(१) उपभोग या खपत, (२) उत्पत्ति या पैदावार, (३) विनिमय, व्यापार और मुद्रा,(४) वितरण या बँटवारा। पहले खपत के सम्बन्ध में विचार करें।

खपत—आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश अर्थशास्त्री पैदावार पर तो खूब विस्तार से लिखते हैं, पर खपत की चर्चा बहुत कम करते हैं—यद्यपि खपत और पैदावार में, कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्य तरह तरह के पदार्थों का उपभोग करना चाहते हैं, इसीलिए उन्हें पैदा किया जाता है। जिन चीजों का आदमी इस्तेमाल नहीं करते, उन्हें पैदा भी नहीं किया जाता। इससे खपत का महत्व साफ़ ज़ाहिर है। परन्तु जब कि चीज़ों को पैदा करने के उपाय सोचने के लिए बहुत मेहनत की जाती है, खपत के उद्देश्य और विधि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अध्ययन किये बिना ही लोग अपने को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझ लेते हैं। अनेक

आदमी थोड़ी देर के स्वाद के लिए खट्टी, मीठी, चटपटी, मसालेदार चीजें खाते हैं, चटकीले, भड़कीले वस्त्र पहिनते हैं जो उनकी तन्दरुस्ती के लिए हानिकर होते हैं। कितने ही युवक या विद्यार्थी अपनी दूसरी ज़रूरतों को पूरा करने में कंजूसी करते हुए भी सिनेमा, नाटक आदि में पैसा लुटाते रहते हैं; बहुत से मजदूर अपना और अपने परिवार का पेट काट कर मादक वस्तुओं के उपभोग में, अपनी गाढ़ी कमाई का खासा भाग नष्ट कर डालते हैं। स्त्रियाँ मेले तमाशों में जाकर चटक-मटक की निकम्मी चीजें खरीद लाती हैं, फिर चाहे गृहस्थी की दूसरी ज़रूरतें पूरी हों या न हों, या उनके लिये ऋण लेना पड़े। इससे हमारी खपत सम्बन्धी अविवेकता स्पष्ट है।

आजकल आदमी खपत का उद्देश्य विषय-सुख और विलासिता मानते हैं। विषय-सुख का मतलब यह है कि इस समय सुख मिल जाय, चाहे पीछे उससे कष्ट ही क्यों न हो। इसके लिए गरीब लोग अपने खाने पीने में तंगी करके फैशन और शौकीनी में फंस जाते हैं। आज कल जनता में प्रायः यह विचार-धारा फैली हुई है कि नित्य नयी आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए। यही कारण है कि अनेक मादक और दूसरे अनावश्यक और अनुपयोगी पदार्थों की माँग बढ़ती जाती है—शराब, तमाखू, चाय, कहवा, अफीम, पान, तरह-तरह के मसालों आदि का संसार भर में बहुत अधिक इस्तेमाल किया जाता है। कितनी भूमि, कितना श्रम, कितनी पूँजी इनकी पैदावार में लगती है! इसका नतीजा होता है, जनता के स्वास्थ्य, शक्ति, और आयु का ह्रास। अगर आदमियों का रहन सहन सादा हो, उनकी ज़रूरतें कम हों तो वे उस हानि से सहज ही बच सकते हैं, जो विषय-सुख के लिए उठानी पड़ती है।

जब विषय-सुख के कारण आदमी ऐसी चीज़ को पसन्द करता है, जो बहुत कीमती हो तो उस उपभोग को विलासिता कहते हैं। ऐसा उपभोग धनवान लोग करते हैं। कीमत अधिक होने से साधारण वस्तु भी विलासिता की वस्तु बन जाती है। भारतवर्ष में आम को साधारण फल माना जाता है, लेकिन जब इंगलैण्ड के आदमी उसे अपने यहाँ मंगाते हैं तो उसकी कीमत बहुत बढ़ जाती है। धनवान लोगों को कीमत की क्या परवाह! वे ऐसे पदार्थों के उपभोग में ही अपनी शान समझते हैं, जो दूर देशों से आते हों, जो बेमौसमी हों, जो मंहगी होने के कारण आम लोगों को सुलभ न हों। इंगलैण्ड अमरीका आदि की तो बात ही क्या, भारतवर्ष में कितने ही खाने पीने तक के पदार्थ दूर देशों से डिब्बों में वैज्ञानिक प्रद्धति से रखे हुए आते हैं। यहाँ विवाह शादी आदि अनेक दावतों में चालीस चालीस तरह के पदार्थ देखे गये हैं। पहनावे का भी विषय कम चिन्तनीय नहीं। एक एक साड़ी या सूट कई कई सौ रुपये तक के होते हैं। शौकीन धनी लोगों के साज शृङ्गार का क्या ठिकाना! उनका अधिकतर समय है ही किस बात के लिए! बहुत सी जगह लोगों के भोजन और कपड़े के लिए बेशुमार प्राणियों की हर रोज हत्या की जाती है, और कितने ही आदमी केवल इस काम में लगे रहते हैं कि वे अपने यहाँ के या दूर दूर के थोड़े से विलासिता-प्रेमियों की जीभ के स्वाद या उनकी सजधज के लिए पशु पक्षियों को मारते रहें।

हमें खास विचार यह रखना चाहिए कि चीज़ों के इस्तेमाल से हमें अधिक से अधिक टिकाऊ सुख, संतोष और तृप्ति मिले। इस लिए हमें विषय-सुख और विलासिता के पीछे न पड़ना चाहिए। दिखावे, शौकीनी या फैशन की चीज़ों का इस्तेमाल

छोड़ दिया जाय, और ऐसी चीज़ों का इस्तेमाल भी जहाँ तक हो कम किया जाय, जिनसे हमारी कार्य-कुशलता तो कम बढ़ती है और खर्च बहुत अधिक होता है, जैसे मामूली मज़दूर के लिये साइकल। कुछ चीज़ों का इस्तेमाल अनावश्यक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से किया जाता है, जैसे विवाह-शादी और जन्म-मरण सम्बन्धी बहुत सा खर्च। इसे जहाँ तक हो घटाने की कोशिश करनी चाहिये। मादक पदार्थों का सेवन आदमी देखा देखी करने लगते हैं; फिर उनकी आदत पड़ जाती है। हर देश में सरकरी और ग़ैर सरकारी प्रयत्न ऐसा होता रहना चाहिए कि नागरिकों की आदतें बचपन से ही अच्छी पड़ें, और इन बातों में धन नष्ट न हो।

सारांश यह कि आर्थिक आवश्यकताओं पर रोक थाम रहनी चाहिए। जीवन-रक्षा और निपुणतादायक पदार्थों का उपयोग काफी किया जाना चाहिए, बनावटी चीज़ों का इस्तेमाल कम करना चाहिए। हम दूसरों के हित की अवहेलना न करें, समाज में सब को सुखी बनाते हुये हम सुखी रहें।

उत्पत्ति या पैदावार—ऊपर बताया जा चुका है कि बहुतसे आदमियों के रहन-सहन में दिखावा, कृत्रिमता या शौक़ीनी अधिक होती है। उन्होंने अपनी ज़रूरतें बहुत बढ़ा रखी हैं। इसलिये राष्ट्रों कीबहुत सी ताकत ऐसी चीज़ें पैदा करने में लगती हैं, जो ज़रूरी या उपयोगी नहीं होतीं। आदमियों के जीवन में समय और सादगी हो तो यह ताक़त बचाई जा सकती है, और इससे दूसरे हितकर या फ़ायदे के काम किये जा सकते हैं।

ख़ासकर इस समय विविध राष्ट्रों के आपस में मुकाबले या

प्रतियोगिता के कारण पैदावार के काम में बड़ी बाधा पड़ रही है। कितने ही देश ऐसी ऐसी चीज़ें बनाने की फ़िक्र में रहते हैं, जिनके लिए उनके पास कुदरती साधन या सुविधाएँ नहीं होतीं। मिसाल के तौर पर इंगलैण्ड और जापान कपड़े का धन्धा चलाते हैं, हालाँकि उनकी हद में या उनके नज़दीक के किसी देश में भी रूई पैदा नहीं होती; स्काटलैण्ड जूट की बोरियाँ बनाता है, और वह जूट बंगाल (भारतवर्ष) जैसे दूर के देश से मंगाता है। आज दिन संसार की इस अर्थ-व्यवस्था में कोई ठीक क्रम या योजना नहीं है। हर राष्ट्र को गरम देशों से कच्चा माल झपट लेना है, और अपनी पूँजी लगाने के लिये नये नये बाज़ार या मंडियाँ ढूढ़नी हैं, और इसलिए उसे उपनिवेश और अधीन राज्य प्राप्त करने हैं। कभी कभी कुछ चीज़ों की ज़रूरतसे ज्यादह पेदावार हो जाती है, और मूल्य गिर जाता है। कभी आदमियों को चीज़ों की कमी और मंहगायी का कष्ट उठाना पड़ता है। पैदा-वार केवल नफे के लिये की जाती है। अगर किसी चीज़ के पैदा करने में नफा नहीं रहता तो उसे बनाया ही नहीं जाता, चाहे वह कितनी ही ज़रूरी क्यों न हो। अक्सर दूर दूर के धनी लोगों के लिए विलासिता का सामान तैयार किया जाता है, जबकि देश के ग़रीब आदमी ऐसी चीज़ों के लिये भी विलखते रहते हैं, जो जिन्दगी क़ायम रखने के लिए ज़रूरी हैं। उत्पत्ति के लिए आवश्यक होने पर भी पूँजी हमेशा अपने स्थान पर नहीं ठहरती; जब उसे दूर देशों से नफे की गन्ध आती है, वह वहाँ की सस्ती और असङ्गठित मजदूरी से लाभ उठाने के लिए उड़ जाती है।

मौजूदा हालत में कई कोठियाँ या कम्पनियाँ एक ही चीज़ तैयार करती हैं। इसका नतीजा होता है—प्रतियोगिता या-

मुक़ाबला, सामान की बरबादी; ऊपरी खर्च का बढ़ना, कभी रोज़गार की भरमार और कभी रोजगार की इतनी कमी कि बेकारी फैल जाय; बेईमानी का व्यवहार, भूठ, विज्ञापनबाज़ी, मिलावट, आर्थिक संघर्ष और संकट, मुकदमेबाज़ी, धोखेबाज़ी, निराशा और आत्महत्या। पूँजीपति अपने नफ़े के वास्ते कोकेन और अफीम पैदा करते हैं जिनसे लोगों का स्वास्थ्य नष्ट होता है; वे युद्ध का सामान बड़े पैमाने पर तैयार करने में संकोच नहीं करते, जिससे राष्ट्रों के जन धन का नाश होता है।

इन सब बातों का अन्त होना चाहिए। हमें केवल उन्हीं चीज़ों की उत्पत्ति करनी चाहिए जो समाज के लिए हितकर हों; हमें अपना हित सारे समाज के हित से अलग न समझना चाहिए। यही नहीं; ज़रूरत है कि अधिकाधिक आदमी अपने निजी स्वार्थ को छोड़ कर अपनी मेहनत, पूँजी या भूमि का लाभ मानव समाज को पहुँचावें; वे ऐसी चीज़ें बनायें, और ऐसे आविष्कार या अनुसंधान करें जिनसे चाहे उन्हें कुछ आमदनी न हो पर समाज की मौजूदा ज़रूरतें पूरी हों। अनेक देशों में थोड़े से साधु-संत, महात्मा, लेखक, शिक्षक, चिकित्सक आदि अपना जीवन मानव समाज के अर्पण करते रहते हैं; अच्छा हो, हम अपने सब साधन विश्व-राज्य को सौंप दें, और विश्व-राज्य के निरीक्षण और नियंत्रण में समस्त मानव समाज की ज़रूरतों को नज़र में रख कर माल पैदा किया जाय; संसार भर के खेतों, बग़ीचों, खानों, जंगलों, और कारख़ानों आदि का प्रबन्ध व्यापक दृष्टि से हो, जिस से सभी नागरिकों को भोजन वस्त्रादि मिले, जिसके लिए आज दिन करोड़ों आदमी चिन्तित रहते हैं, और जिसे कितने ही पर्याप्त मात्रा में नहीं पासकते।

उत्पादन में सहकारिता के सिद्धान्त का ज़्यादह से ज़्यादह

उपयोग किया जाय। बिजली आदि की शक्ति खूब बड़े परिमाण में पैदा करके उसे जगह जगह पहुँचाया जाय। ऐसा होने पर बड़े बड़े कारखाने कायम करने की ख़ास ज़रूरत न रहेगी; मज़दूरों के तंग, गंदे अस्वास्थ्यकर स्थानों में रहने, धन के बँटवारे की विषमता, नगरों की संख्या और उनकी आबादी बढ़ने आदि की समस्याएँ पैदा न होंगी, छोटे छोटे घरेलू उद्योग धंधों के बढ़ने और फैलने के लिए मैदान बढ़ेगा, और दुनिया के सब आदमी स्वतंत्रता पूर्वक अपना काम करते रहेंगे।

विनिमय और व्यापार—यहाँ तक हमने चीज़ों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। जो माल पैदा किया जाय, उसे लोगों को उचित मूल्य में और शुद्ध रूप में देना, जिससे उन्हें किसी तरह का धोखा या हानि न हो, और उनकी आवश्यकताओं की अच्छी तरह पूर्ति हो, कुछ कम महत्व का काम नहीं है। यह एक बड़ा सेवा-कार्य है। पर आज-कल की अवस्था में व्यक्तियों के समान राष्ट्र भी इस दिशा में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। वे अपने अपने स्वार्थ-साधन में लगे रहते हैं। व्यापार के नाम पर धोखाधड़ी और लूट-खसोट होती रहती है। माल बेचने वाले आदमी दूसरे लोगों को तरह तरह से धोखा देते हैं, उसी तरह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की आँखों में धूल झोंकने में कुछ बुराई नहीं समझते। हर राष्ट्र चटकीला भड़कीला, कम टिकाऊ, माल तैयार करके दूसरे देशों का धन अपहरण करना चाहता है। वह दूसरे देश वालों को शौक़ीन, नशेबाज़ और लड़ाकू बनाने में ही अपना लाभ समझता है, क्योंकि इस तरह वह उनके हाथ अपनी विलास-सामग्री, मादक पदार्थ और शस्त्रास्त्र बेच सकता है।

इस समय राष्ट्रों को दूसरों के हिताहित से कुछ प्रयोजन नहीं।

हर राष्ट्र अपने पड़ोसी का कुछ विचार किये बिना ही अपने आपको धनवान बनाने की कोशिश करता है। यदि वह दूसरों के बारे में कुछ सोचता है, तो उन्हें गरीब बनाने, और उन्हें चूसने की ही बात सोचता है। हर राष्ट्र औद्योगिक और उन्नत विदेशों से आने वाले माल पर टैक्स बैठाता है, जिससे उसकी 'विदेशी' बनी वस्तुओं को संरक्षण मिले; इस तरह वह व्यापार के स्वतंत्र क्रम में बाधा डालता है। हर राष्ट्र अधिक से अधिक माल दूसरे देशों के हाथ बेचता है, और दूसरों का कम से कम खरीदता है। कोई यह नहीं सोचता कि यदि सभी माल बेचने वाले हों, तो खरीदेगा कौन! बेचने और खरीदने का संग-साथ है, परन्तु इन राष्ट्रों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। ये अपनी माल बेचना चाहते हैं, दूसरे का खरीदना नहीं चाहते। यह स्वार्थपूर्ण नीति साम्राज्यवाद की सगी बहिन है, जिसका नतीजा यह है कि युद्ध, महायुद्ध और विश्व-युद्ध होकर रहते हैं। इस विषय में पहले भी लिखा जा चुका है।

विनिमय और व्यापार के सिलसिले में मुद्रा या सिक्कों के बारे में भी कुछ विचार होना जरूरी है। जब कि राज्य छोटे-छोटे हों, और हर राज्य का अपना अलग सिक्का हो तो व्यवहार में कितनी कठिनाई होती है, यह सब जानते हैं। एक यात्री ज्यों ही अपने राज्य की सीमा पार करके दूसरे राज्य में दाखिल होता है, उसे अपने सिक्कों का विनिमय दूसरे राज्य के सिक्कों में कराना होता है; तब ही वह वहाँ जरूरी चीजें खरीद सकता है। इस राज्य से आगे बढ़ने पर फिर उसके सामने सिक्के की समस्या खड़ी होती है। ऐसे राज्यों के व्यापारियों और सरकारों को भी निरंतर मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परन्तु यदि इन सब राज्यों का एक संघ बन

जाय या सब राज्य एक बड़े राज्य के अंग बन जायँ तो यह कठिनाई हट जाती है। भारतीय पाठक अपने देश की मिसाल से इस विषय को भली भांति समझ सकते हैं। यहाँ कुछ देशी राज्य अपना अलग सिक्का रखते हैं, फिर भी सब अपने यहाँ अंगरेजी रुपये को वही स्थान देते हैं, जो उसका ब्रिटिश भारत में है। इस से देश भर के सब आदमियों को अपने लेन-देन या क्रय-विक्रय का सुविधा रहती है फिर, आजकल कागजी मुद्रा का चलन बढ़ जाने से रुपये आदि का उपयोग बहुत ही कम रह गया है। अधिकांश काम नोटों से जाता है। हाँ, जब हिन्दुस्तान को किसी दूसरे देश का रुपया देना लेना होता है तो यह काम सोने के पौंडों से किया जाता है, जो प्रामाणिक स्टेंडर्ड सिक्का होने के कारण दूसरे देशों के सिक्कों से बदला जा सकता हैं।

एक राज्य चाहे जितना बड़ा हो, उसमें मुद्रा की विभिन्नता से होने वाली कठिनाइयाँ नहीं रहतीं। कुछ राज्यों के आपसी समझौते से भी समस्या हल हो जाती है। पाठक नीचे लिखा समाचार पढ़ें, यह जनवरी १९४४ में प्रकाशित हुआ था; इसका शीर्षक था, 'अमरीका में छपे हुए नोट' —

"आर० एल० स्टिफेन्स लिखते हैं कि यह बात अब प्रकट की गई है कि संयुक्तराज्य अमरीका में बहुत से स्वतंत्रता, 'फोर फ्रीड़म नोटस' छापे गए हैं। चार स्वतंत्रताओं—भाषण-धार्मिक स्वतंत्रता, अभाव से स्वतंत्रता और भय से स्वतंत्रता—के प्रतीक ये नोट विभिन्न देशों में भेजे जाने के लिए अमरीका में जमा है। जिस देश में इस्तेमाल के लिए ये नोट भेजे जायंगे उन पर उस देश का नाम अंकित रहेगा। एक ही तरह का नोट विभिन्न देशों में इस्तेमाल होगा। यह फ़रक होगा कि किसी पर

लिखा रहेगा—'फ्रान्स में जारी किया गया', और किसी पर रहेगा—'नारवे में जारी किया गया' इत्यादि। नोटों पर लिखा रहेगा—'एलाइड मिलिटरी करेन्सी' जिसका अर्थ हुआ मित्र राष्ट्रों के सैनिक नोट। चारों तरह की स्वतंत्रताओं का नामोल्लेख पुश्त के चार कोनों पर किया रहेगा। ये नोट खास कर सेना के लिए होंगे।"

इससे पाठकों को विश्व-मुद्रा के सम्बन्ध में अनुमान करने में बहुत कल्पना शक्ति लगानी नहीं पड़ेगी। ये नोट अमरीका में छपे हैं, भावी नोट विश्व-राज्य की राजधानी में छपेंगे, जिसके सम्बन्ध में हमने अपना विचार दूसरी जगह प्रकट किया है। इन नोटों का नक्शा उस समय के कलाकार तय करेंगे। फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक ही तरह के नोट संसार भर में चलेंगे। उन में यह फ़रक तो होगा कि जिस जिस देश में वे काम आवेंगे, उस उस का नाम उन पर अंकित रहेगा, पर उस समय के देश (विश्व-राज्य के प्रान्त) बड़े बड़े होंगे। इन नोटों पर चार स्वतंत्रताओं की बात छपी है, किन्तु आजकल की व्यवस्था के अनुसार इन शब्दों का अर्थ सब देशों की जनताओं के लिए बराबर नहीं है, यह स्वतंत्रताएँ केवल गोरे रंग वालों के लिए, या प्रबल राष्ट्रों या उनके साथियों के लिए हैं, दूसरे राष्ट्र इनसे वंचित हैं। भावी नोटों के समय यह हालत न रहेगी। सम्भव है उनमें एक तरफ बीच में एक शब्द 'मानवता' अंकित रहे, और दूसरी ओर चार कोनों पर लोकतंत्र, आज़ादी, बराबरी और बंधुत्व छपा रहे, जो विश्व-राज्य के चार आदर्शों के प्रतीक हों। इन नोटों पर जो 'मित्र-राष्ट्रों के सैनिक नोट' छपा है. वह उस समय अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि वे नोट संसार भर के सब देशों के निवासियों के लिए होंगे, और वे सभी आपस में मित्र होंगे, शत्रु या अमित्र कोई होगा ही नहीं।

फिर, जनता अहिन्सा का व्यवहार करने वाली होगी, और उसे सैनिकों की ज़रूरत न रहेगी। इसलिए वे नोट इन नोटों की भांति खासकर सेना को देने के लिए न होकर सारी जनता के व्यवहार के लिए होंगे।

बँटवारा—बँटवारे का मतलब धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों में उनकी आमदनी या प्रतिफल बाँटना है। इस समय भूमि वाले को लगान, मेहनत करने वाले को वेतन या मज़दूरी, पूँजी वाले को सूद, और व्यवस्था करने वाले को मुनाफ़ा मिलता है। आजकल की अवस्था में भूमि, पूँजी और व्यवस्था तीनों का अधिकारी एक वर्ग है, और दूसरे वर्ग के पास केवल अपनी मेहनत रहती है। भूमि और पूँजी पर कुछ लोगों का व्यक्तिगत अधिकार होने से धन के बँटवारे में बड़ा अनर्थ हो रहा है। ज़मींदार, तालुकेदार, पूँजीपतियों और कारख़ाने वालों के अनुचित कारनामे और अन्याय जग-ज़ाहिर हैं। बड़े बड़े धर्मात्मा बनने, दान पुण्य करने और हरिकीर्तन कराने वाले साहूकारों के यहाँ जगह जगह चरबी के घी का व्यापार होते पाया गया है। उन्हें कसाईखाने और वेश्यालय चलाने में भी कोई संकोच नहीं होता। वे गरीब विधवाओं, बेकारों और मज़दूरों से गंदे और तङ्ग मकानों का भी किराया ख़ूब कसकर वसूल करते है। वे अपने ख़राब जहाजों को इसलिए चलता कर देते हैं कि उन्हें बीमे की भारी भारी रक़में मिल जायँ, बेचारे नाविकों की जान भले ही जाय।* वे लगान या कर्ज़े की क़िस्त न चुका सकने वाले

*ऐसी भी घटनाएँ सुनने में आयी हैं कि पुरुष ने अपनी स्त्री का एक भारी रक़म का बीमा करा दिया, और पीछे कुछ रहस्यपूर्ण उपायों से उसे मरवा दिया, जिससे बीमे की रक़म अनायास ही मिल जाय।

गरीब किसानों की फ़सल और पशु तक नीलाम करवा डालते हैं। वे हज़ारों और लाखों मज़दूरों को सता सता कर उनसे इतना अधिक काम लेते हैं कि वे बेचारे जल्दी ही अपनी जान से हाथ धो डालते हैं। वे अपनी सरकारों को राष्ट्रीय युद्ध के समय रुपया भी, सूद की निर्धारित दर पर, उधार देते हैं, जब कि उनके कितने ही देश-बन्धु अपनी जान होम देते हैं। वे दूसरे देशों को खुले आम या लुक छिप कर हथियार और दूसरी युद्ध-सामग्री बेचते हैं, चाहे वे यह भी ज्ञान लें कि शस्त्रास्त्र ख़रीदने वाला देश निकट भविष्य में उनके ही राष्ट्र से युद्ध छेड़ने वाला है।

इस तरह का पूँजीवाद मानव जाति की बहुत सी योग्यता और प्रतिभा का अपहरण करता और सभ्यता की प्रगति को रोकता है। आज कल साहित्य, विज्ञान या कला आदि की उच्च शिक्षा पाने के लिए रुपया ज़रूरी है, योग्यता या बुद्धि नहीं। पैसे वाले परिवारों के बालक कूढ़मगज होते हुए भी दूर दूर के विश्व-विद्यालयों में पहुँचते हैं, और निर्धनों के हज़ारों होनहार लड़के ऐसे अवसरों से वंचित रहते हैं। प्रकृति देवी अच्छे अच्छे मस्तिष्क बहुत काफ़ी तादाद में पैदा करती है, पर पूँजीवाद उनमें से बहुत कम का उपयोग होने देता है। इस तरह यह पद्धति आध्यात्मिक और मानसिक हत्या की दोषी है।

पूँजीवाद समाज की आर्थिक ज़रूरतों को पूरा नहीं कर सकता। इसका फल व्यापक बेकारी होती है। संयुक्तराज्य अमरीका नया महाद्वीप है; वहाँ भूमि और मेहनत दोनों सुलभ हैं। यह आशा की जा सकती है कि वहाँ लोगों को रोटी

कपड़े की कमी न होगी। परन्तु पूँजीवाद ने प्रकृति के इस भंडार को भी बेकारों और भूखों की वस्ती बना डाला है। वहाँ की बेकारों की तादाद डेढ़ पौने दो करोड़ तक पहुँच जाती है। ❀

लाखों नागरिक इतनी दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते हैं कि उनकी मामूली ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, या उन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उन्हें राज्य की ओर से कायम किये हुए दरिद्रालयों ('पूअर-हाउस') या समाज के दान धर्म आदि का आसरा तकना पड़ता है। इस तरह दूसरों को चूसने वाली श्रेणी के आदमी मज़दूरों और किसानों की मेहनत पर फलते फूलते रहते हैं; उनमें से कुछ की आमदनी तो अपने श्रमजीवी भाइयों से हज़ारों गुनी होती है। पाठक किसी भी देश में मिल-मालिकों और मज़दूरों की आमदनी की तुलना करके देख सकते हैं।

इस विषमता और शोषण का नतीजा यह होता है कि जब कि मुट्ठी भर आदमी विलासिता और ऐयाशी का जीवन बसर करते हैं, अधिकांश जनता घोर दरिद्रता और गंदगी में दिन काटती है। श्रमजीवियों के परिवार, उनकी स्त्री बच्चे कैसे तंग और अंधेरे मकानों में गुज़र करते हैं, सर्दी से बचने के लिए उनके पास कितना कम सामान होता है, उनका भोजन कितना अशुद्ध, मिलावटदार, और घटिया होता है, और इन बातों के फल स्वरूप उन्हें किस तरह एक के बाद दूसरे भयंकर

❀ यह बात उस देश की है, जो स्वाधीन है, फिर भारतवर्ष जैसे पराधीन देशों में इस तरह के पूंजीवाद से कितनी हानि हो सकती है, यह आसानी से समझ में आ सकता है।

रोगों का शिकार होना पड़ता है, यह यहाँ विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं। उनकी हालत किस्से कहानियों की कल्पना से भी अधिक आश्चर्यजनक है।

आजकल की आर्थिक व्यवस्था ने व्यक्तियों के ही भ्रातृभाव और समता को नष्ट नहीं कर रखा है, राज्यों में भी विषमता का भयंकर प्रचार कर रखा है। कुछ राष्ट्रों का बड़े बड़े उपनिवेशों और अधीन देशों पर अधिकार है। वे उनके धन से बहुत अधिक धनवान हो गये हैं। कुछ राष्ट्र अपनी प्राकृतिक सुविधाओं के कारण भी सम्पत्तिवान होते हैं। इसके विपरीत, दूसरे देश अपनी भौगोलिक प्रतिकूलता से, या दूसरे राष्ट्रों से चूसे जाने के कारण बहुत अधिक निर्धन हैं। संसार धनी और निर्धन देशों में बँटा हुआ है। एक देश में हर आदमी की औसत सालाना आमदनी ६००) रु० या इससे अधिक है, और दूसरे देश में सिर्फ चालीस रुपये। यह कैसी घातक विषमता है!

धन के बँटवारे के सही सिद्धान्त समानता और बंधुत्व है। समानता का अर्थ यांत्रिक या कृत्रिम समानता नहीं है, जैसे सब की बराबर आमदनी हो। सामाजिक समानता का अर्थ यह है कि सब को अपना व्यक्तित्व अपने उच्च आदर्श के अनुसार विकसित करने का, और जैसा सुखमय और पूर्ण जीवन व्यतीत करने के वे योग्य हों वैसा जीवन बिताने का, समान अवसर मिले। परिवार में इस नियम का पालन होता है; हर बालक, बालिका को उसकी आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र और शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है। इसी तरह हर व्यक्ति को राज्य से अपने विकास के लिए सब जरूरी चीजें और मदद मिलनी चाहिए।

पिछले वर्षों की आर्थिक स्थिति ने सब देशों में आजकल की

पूँजीवादी पद्धति की व्यर्थता और बेहूदगी अच्छी तरह साबित कर दी है। ब्राजील से कहवा और अंगरेजी बन्दरगाहों से संतरे और मछलियाँ नष्ट करने का समाचार आता है। संसार में करोड़ों लोगों को भर पेट भोजन न मिलते हुए भी अरीका में गेहूँ की फसल घटाने की कोशिश की जा चुकी है। क्यों? इसलिए कि भाव चढ़ जाय। यह क़ीमत, मजदूरी, और मुनाफे के दाव पेंच हमें कहीं का न छोड़ेंगे। इस आर्थिक विषमता को दूर करना ही होगा।

वर्तमान पूँजीवाद का अन्त कैसे हो? पहले बताया जा चुका है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था का खास दोष यह है कि इसमें पैदावार केन्द्रित हो जाती है; पैदावार के साधनों के स्वामी राष्ट्र के कुछ इने गिने व्यक्ति होते हैं। ऐसी आर्थिक व्यवस्था का अन्त करने के दो ही उपाय हैं—(१) छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों को बढ़ाया और फैलाया जाय (२) उत्पादन का काम व्यक्तियों द्वारा न होकर राज्य का स्वामित्व हो। कुछ सज्जन इनमें से पहले उपाय को महत्व देते हैं, कुछ दूसरे को। इस विषय पर बहस करने का यहाँ स्थान नहीं है। दोनों विचार-धाराओं का समन्वय हो सकता है, और गृहोद्योगवाद और समाजवाद दोनों का ठीक ठीक उपयोग करके आजकल के पूँजीवाद को समाप्त किया जा सकता है। विश्व-अर्थनीति के लिए यह करना बहुत जरूरी है।

—०—

सत्ताइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ का शासन

"स्वराज्य उसको कहते हैं जिसमें बहुत मनुष्यों की सम्मति से राष्ट्र का पा न किया जाता है और जिसका राज्य-शासन उदार और व्यापक वृत्ति से चलाया जाता है। इस स्वराज्य-शासन के लिए विशाल दृष्टि वाले, सब के साथ मित्रवत् व्यवहार करने वाले और दिव्य ज्ञान से युक्त ये तीन प्रकार के लोग ही योग्य हैं।" —ऋगवेद ५।६६।६

सब से अच्छा राज्य वह है, जिसमें कम से कम शासन हो।

पाठकों को इस अध्याय के पढ़ने में जल्दी न करना चाहिए। इसके लिए उन्हें अपनी मनोभूमि तैयार करनी चाहिए। जिन्हों ने पिछले अध्यायों को ध्यान से पढ़ा है, वे सहज ही उन बातों को समझ लेंगे, जिन पर हमें यहाँ विचार करना है। विश्व-राज्य या विश्व-संघ की बातें सोचने के लिए हमें अपने वर्तमान धरातल से ऊंचा उठना चाहिए, और, विश्व-राज्य के योग्य बनने की कल्पना करनी चाहिए। अपने नगर या प्रान्त की तो बात ही क्या, हम किसी भी राज्य या राष्ट्र के नागरिकों को पराया या गैर न समझें। हम सब के हितों और उचित स्वार्थों का पूरी तरह ध्यान रखें। इसका यह मतलब नहीं कि हमारा अपने पास वालों के प्रति कुछ कर्तव्य न रहे। मतलब केवल यह है कि हमारा स्थानीय प्रेम (अपने परिवार, जाति, नगर या राज्य का प्रेम) विश्व-प्रेम में बाधक न हो।

विश्व-राज्य की सरकार—विश्व-राज्य की सरकार कैसी

होगी, यानी उसके मंत्रिमंडल के सदस्य, और सभापति (विश्व-पति) कैसी काबलियत वाले होंगे, इस पर विचार करने के लिए यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि विश्व-राज्य को कैसे काम करने हैं। आज कल शासन का मतलब दमन, हिन्सा और कूटनीति है, भावी विश्व-राज्य में उसका मतलब सेवा, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम होगा। विश्व-राज्य अपने नागरिकों की शिक्षा और सुधार की तरफ सब से ज्यादह ध्यान देगा। उसका उद्देश्य यही नहीं होगा कि नागरिक ज़िन्दा रहे, बल्कि यह होगा कि वे सुख और शान्ति से रहें। वे ऐसा जीवन व्यतीत करें. जो मनुष्यों के योग्य हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्वाभाविक है कि राज्य के मंत्री और प्रमुख अधिकारी उच्च कोटि के त्यागी और परोपकारी हों, और सब कर्मचारी विवेकी. गम्भीर और वैज्ञानिक। विश्व-राज्य में सब से अधिक योग्यता उस मनुष्य में मानी जायगी, जिसमें यथेष्ट ज्ञान के अलावा सेवा और प्रेम की भावना भरपूर हो। ऐसे लोग नागरिकों के उत्तम और पूर्ण जीवन व्यतीत करने में हर तरह सहायक होंगे।

विश्व-राज्य का शासन लोकतंत्र तो होगा ही, जिसका अर्थ है, जनता का शासन, जनता द्वारा और जनता के लिए। लोकतंत्र से जनता को तरह तरह के नागरिक गुणों का अभ्यास होता है। जानकारी, आज़ादी, आत्म सम्मान, सहिष्णुता. लोकसेवा की भावना, और राजनैतिक निर्णय की शिक्षा के लिए लोकतंत्र सब से अच्छा विद्यालय है। इससे लोगों की बुद्धि का विकास होता है, और उन्हें जनपद या पंचायती राज्य के लिए त्याग करने की शिक्षा मिलती है। अच्छे शासन की सब से अच्छी कसौटी धन जन की वृद्धि नहीं है, बल्कि लोगों में चरित्र और व्यक्तित्व है। सब से अच्छा शासन वह है जिससे

पुरुष और स्त्रियाँ सब से अच्छी बनती हैं। इस नैतिक कसौटी से लोकतंत्र सब तरह की शासन-पद्धतियों में सब से अच्छा ठहरता है।

लोकतंत्र में शासन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। चुनाव के तरीके में इस समय कई दोष हैं, इसलिए लोकतंत्र का असली मतलब पूरा नहीं हो रहा है। इन दोषों के मुख्य कारण ये हैं—(१) धन का गलत बँटवारा; यानी कुछ लोगों का बहुत अधिक धनी होना, और चुनाव में या कानून बनाने में गरीब लोगों का मत खरीद सकना। (२) शिक्षा की कमी, खासकर नागरिकता के भावों की कमी, जिससे बहुत से आदमी अपना फर्ज और जिम्मेवारी नहीं समझते। (३) नैतिक भावों की कमी; लोगों में स्वार्थत्याग और लोक-सेवा की भावना काफी प्रबल न होना; विश्व-बंधुत्व की भावना का विशाल मानव जाति की भलाई के लिए अपने गांव, शहर या राष्ट्र के स्वार्थ की परवाह न करने की तैयारी कम होना। इन बातों पर पहले विचार किया जा चुका है। विश्व-संघ में इस तरह के दोष उसी तरह हट जायँगे; जैसे सूरज के उदय होने पर अँधेरा मिट जाता है।

विश्व-राज्य के हिस्से— विश्व-राज्य में शासन की दृष्टि से हर देश को एक प्रान्त मान लिया जायगा। हिन्दुस्तान, चीन, जापान, इंगलैण्ड, जर्मनी, रूस सब विश्व-राज्य के एक एक प्रान्त होंगे। शुरू में, कोई प्रान्त बहुत बड़ा होगा, और कोई बहुत छोटा। कुछ समय बाद प्रान्तों का नया निर्माण होगा। तब उनका आधार राष्ट्रीयता न होगी, बल्कि आर्थिक या राजनैतिक सुविधा होगी। इस समय के, आपस में लड़ने वाले, कई कई राष्ट्र उस समय आपस में मिल कर विश्व-राज्य का एक एक प्रान्त

बनावेंगे। उस समय बहुत छोटे छोटे राष्ट्रों का प्रान्तों के रूप में भी अलग अस्तित्व नहीं रह सकेगा, छोटे छोटे टापुओं की तो बात ही क्या। प्रान्तों का नाम और संगठन सुविधा के अनुसार बदल दिया जायगा। हर नागरिक अहंकार भाव छोड़ कर इस विषय पर उदार और व्यापक दृष्टि से विचार करे।

शासन और व्यवस्था—विश्व-संघ का हर प्रान्त खासकर प्रान्तों प्रान्तों के बीच के सब मामलों में संघ के अधीन होगा। मुख्य सत्ता ('सावरेनटी') संघ की ही होगी। अपने भीतरी शासन में हर प्रान्त स्वाधीन या खुदमुखत्यार होगा। उसे अपने सब नागरिकों में मानवता और विश्वबंधुता का प्रचार करना होगा, और दूसरे प्रान्तों से सहयोग का भाव रखना होगा। हर प्रान्त का शासन वहाँ के सब बालिग पुरुष स्त्रियों के वोट (मत) से चुने हुए प्रतिनिधियों की व्यवस्थापक सभा के फैसले के अनुसार होगा, और यही प्रान्तीय सभा अपने योग्य त्यागशील सेवा-भावी प्रतिनिधि चुन कर संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के लिए भेजेगी। जिस तरह अब बम्बई, मदरास जैसे प्रान्तों के प्रतिनिधि भारतवर्ष की केन्द्रीय यानी सेन्ट्रल व्यवस्थापक सभा में लिये जाते हैं, वैसे ही तब भारतवर्ष के प्रतिनिधि विश्व-संघ के केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में लिये जायँगे। इस केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में इस समय के प्रान्तों को प्रधानता न दी जायगी। यह नहीं होगा कि पांच करोड़ की आबादी वाले इंगलैण्ड का भी एक प्रतिनिधि हो और चालीस करोड़ वाले हिन्दुस्तान या पैंतालीस करोड़ वाले चीन का भी एक ही प्रतिनिधि हो; बल्कि संसार भर में हर एक करोड़ आबादी की तरफ से बराबर की तादाद में प्रतिनिधि रहेंगे। कम आबादी वाले हिस्सों को इस तरह मिला दिया

जायगा कि पास पास के हिस्सों के समूह का कम से कम एक प्रतिनिधि लिया जा सके।

प्रतिनिधियों और अधिकारियों की योग्यता—विश्व-संघ में कोई भी प्रतिनिधि या अधिकारी अनुदार राष्ट्रीय भावों वाला न होगा। सब मानव जाति के सामूहिक हित का ध्यान रखना अपना कर्तव्य समझेंगे। हर प्रतिनिधि के लिए सब से बड़ी योग्यता उसकी विश्वबंधुत्व की भावना होगी; वह यह अनुभव करे कि मैं मनुष्य हूँ और विश्व-नागरिक हूँ, न कि यह सोचता रहे कि मैं अंगरेज़ हूँ, मैं जर्मन हूँ; मैं गोरा हूँ, मैं भूरा हूँ। सारे विश्व के नागरिकों को अपने परिवार के लोगों की तरह प्रेम करने वाला, और उनमें भेद भाव न रखने वाला, उदार महामना आदमी ही विश्व-राज्य का शासन-भार संभालने योग्य हो सकता है। ज़रूरत पड़ने पर उसे अपने देश या जाति वालों के खिलाफ़ फ़ैसला देने या काम करने में कोई संकोच या हिचकिचाहट न होनी चाहिए। वह मानवता के बीच में खड़ी हुई बनावटी दीवारों—रंग, सम्प्रदाय आदि—की परवाह करने वाला न हो। वह सब से समान सहानुभूति रखने वाला, निस्पक्ष और सत्य-प्रेमी हो।

न्याय-कार्य—विश्व-राज्य का हर प्रान्त अपने आन्तरिक शासन में स्वाधीन होगा। पर कुछ बातें ऐसी होंगी, जो सब प्रान्तों को माननी होंगी। सब का मूल मंत्र सहयोग और प्रेम होगा। न्याय या अदालत का काम बहुत सरल होगा। मुकदमेबाज़ी का प्रायः अभाव रहेगा; कारण इनकी बुनियाद जायदाद या रुपया पैसा है। सम्पत्ति सामूहिक हो जाने पर, और उदार शिक्षा की व्यवस्था होने पर, बहुत

सा झगड़ा बखेड़ा खुद बखुद शान्त हो जायगा। कोई वसीअत करने वाला और वसीअत का धन पाने वाला, चोर, डाकू, लुटेरा, पूँजीपति, कंगाल, हत्यारा, क़र्ज़ लेने वाला और क़र्ज़ देने वाला, या ग़बन करने वाला, न होगा। इसलिए जेलखाना, वकील, कैद, फांसी, जज और पुलिस की भी ज़रूरत न होगी।

आजकल तरीक़ा यह है कि जिस आदमी के बारे में अपराध करने की आशंका होती है, उसे पुलिस द्वारा गिरफ्तार कराया जाता है, और अदालत में पेश किया जाता है। जिस किसी को अपराधी द्वारा हानि पहुँचती है, वह उसे दंड दिलाने की व्यवस्था करता है। इस में बदला लेने की भावना होती है। अपराधी को अपराध करने की प्रेरणा किन कारणों से हुई, उन कारणों को किस तरह दूर किया जा सकता है, और अपराधी का सुधार करने के लिए किन किन उपायों को काम में लाना चाहिए, इन बातों की तरफ़ ध्यान नहीं दिया जाता। इसलिए एक बार दंड पाया हुआ आदमी बार बार अपराध करता और दंड पाता हुआ पाया जाता है। श्याम ने मनोहर का खून किया तो श्याम को फाँसी की सज़ा मिलकर उस का खून समाज की न्याय-व्यवस्था द्वारा किया जाता है। एक की जगह दो की हत्या हो जाती है। लाभ किसी को नहीं होता। अपराध-रोग के रोगी की हत्या से अपराध-रोग का निवारण नहीं हो सकता। जब तक रोग के कीड़े मौजूद रहेंगे, रोग बना रहेगा और मौका पाकर बढ़ता जायगा। इसलिए ज़रूरत है कि रोग का इलाज किया जाय। विश्व-संघ में इस ओर काफी ध्यान दिया जायगा। हमें अपराध-रोग को नष्ट करना है, ऐसा होने पर दंड या सज़ा खुद ही उठ जायगी। दंड देने की हालत

में उसे देने वाले और पाने वाले दोनों का ही पतन होता है। दोनों में पाशविकता या हैवानियत बढ़ती है। निर्दयता का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता। जेल, कालापानी और फांसी ने जनता का सुधार न करके भारी हानि ही पहुँचाई और पहुँचा रहे हैं।*

सेना और पुलिस—राज्य के साथ सेना और पुलिस का सम्बन्ध अटूट माना जाता है। राज्य जितना बड़ा होता है, उतनी ही अधिक सेना की जरूरत होती है। राज्य में नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की कमी कर के भी सेना की जरूरत पूरी करने की ओर ध्यान दिया जाता है। आजकल का पाठक राज्य सम्बन्धी किसी योजना को ठीक नहीं समझता, जब तक उस में सेना की पूरी पूरी व्यवस्था न हो। पर यह कहाँ तक ठीक है ?

आज कल सेना की जरूरत इसलिए होती है कि या तो हमें दूसरे राष्ट्र के हमले का डर होता है, जिसे हमारे देश के धन दौलत का लोभ हो, अथवा, हम खुद लोभवश किसी दूसरे देश पर हमला कर के उसे अपने अधीन करने की फ़िक्र में होते हैं। विश्व-संघ कायम हो जाने पर, जब उस के विविध भागों में आर्थिक विषमता न होगी, लोभ या हिन्सा की भावना न होगी और सब एक ही राज्य के अंग होंगे तो कौन हमला करेगा, और किस पर हमला होगा ? द्वैत भाव या गैरियत का भाव न होगा, इसलिए मारने वाली सेना न होगी, फिर मुकाबला करने वाली सेना की भी क्या जरूरत रहेगी ?

---

* इस विषय पर विस्तार पूर्वक श्री० केलाजी की 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है।

विश्व-राज्य हिन्सा द्वारा या हिन्सा के आधार पर क़ायम न होगा। प्रकृति ने मनुष्य को काम करने योग्य हाथ पाँव दिये हैं. लेकिन पैने नख, पंजे आदि नहीं दिये। इससे प्रकृति का मनुष्य को आदेश है कि काम करो, लड़ो नहीं; एक दूसरे को जख्मी न करो, किसी की हत्या मत करो। हिन्सा हमेशा न्याय और समानता की दुशमन रही है। जब सब आदमी मेहनत करें और धन पैदा करें तो कुछ लोगों को मेहनत से अलग रख कर उन्हें घातक या हिंसक हथियार क्यों दिये जायँ! यह हथियारबन्द श्रेणी अन्त में सारे समाज को सताती और उसका शोषण करती है, चाहे उसकी स्थापना किसी भी गरज़ से क्यों न हुई हो। आजकल की सी पुलिस और सेना कभी उपयोगी संस्थाएँ नहीं हो सकतीं। यदि सब आदमी और औरतें ईमानदारी से काम करें और शान्ति से रहें, तो चोरी या ठगी करने वाला ही कोई न होगा. जिससे रक्षा करने के लिये पुलिस ज़रूरी समझी जाती है। जब पुलिस होती है तो उसकी धाँधली और ज्यादती से लोगों की रक्षा करने के लिये हमें उसका नियंत्रण करने वाली संस्थाएँ चाहिएँ, और फिर उन नियन्त्रक संस्थाओं का नियंत्रण करने वाली संस्था चाहिए. इस तरह कहीं अन्त ही होने में नहीं आता।

वर्तमान समय में पुलिस की ज़रूरत ज्यादहतर धनी लोगों की सम्पत्ति की रक्षा के लिए होती है, क्योंकि गरीब ईमानदार आदमियों के पास ऐसा कुछ नहीं होता जिसे चोर चुराना चाहे। यदि सम्पत्ति और श्रम का ठीक ठीक बँटवारा हो जाय तो चोरों का अस्तित्व मिट जायगा। कोई बच्चा चोर पैदा नहीं होता। चोर और गठकतरे पूँजीवाद से पैदा होते हैं। सोना और चाँदी, जवाहरात और नकदी, हीरे और मोती चोर और डाकुओं का साहस बढ़ाते हैं। इसलिए व्यक्तिगत या निजी

मिलकीयत के हट जाने से, और ठीक ठीक नैतिक शिक्षा से, यानी हर आदमी के अपनी जायदाद को सब के लिए खर्च करने से, चोर डाकू न रहेंगे, तब पुलिस की भी जरूरत न होगी।

नागरिकता— अब हम विश्व-राज्य या विश्व-संघ की नागरिकता के बारे में विचार करें। आदमी के तरह तरह के समूह होते हैं। वंश और नाते रिश्ते के आधार पर कुटुम्ब, कबीला, जाति आदि बनती हैं। इस तरह के समूहों से मनुष्य का सम्बन्ध अपने जन्म से होता है। दूसरे समूह आदमी अपनी इच्छा या जरूरत के अनुसार बना लेता है। इन समूहों के अनेक भेद हैं—धार्मिक या साम्प्रदायिक, व्यवसायिक या औद्योगिक, साहित्यिक, प्रादेशिक इत्यादि। इन तरह तरह के समूहों में एकता या सामञ्जस्य कायम करने वाला मुख्य सूत्र है, नागरिकता। नागरिकता की भावना का क्षेत्र दिन दिन बढ़ रहा है, लेकिन अभी तक उसका पूरा पूरा विकास नहीं हुआ है। पहले कहा जा चुका है कि पुराने जमाने में राज्य आम तौर पर छोटे छोटे होते थे। कुछ तो एक एक नगर तक ही परिमित थे। इसलिए उनकी नागरिकता का क्षेत्र बहुत सीमित था। फिर इन नगर-राज्यों में भी आम तौर पर स्त्रियों को नागरिक नहीं माना जाता था। इसके अलावा उस समय अनेक दास होते थे, जिन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था। कालान्तर में यह बात नहीं रही, इससे नागरिकता का क्षेत्र बढ़ने लगा।

धीरे धीरे राज्यों का विस्तार बढ़ा; न केवल प्रधान नगर के नजदीक के गाँव ही, बल्कि आस पास के दूसरे नगर भी एक ही राज्य के महत्वपूर्ण हिस्से बनने लगे। राज्य के क्षेत्र के बढ़ने का नतीजा नागरिकता का फैलाव था ही। आज कल एक

एक राज्य का क्षेत्रफल लाखों वर्गमील, और आबादी करोड़ों है। इसलिए नागरिकता का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है।

कुछ राज्यों ने बढ़कर साम्राज्य का रूप धारण कर लिया है। इससे नागरिकता का क्षेत्र कुछ और बढ़ा है; परन्तु मानव जाति के दुर्भाग्य से, उस अनुपात में नहीं, जिसमें साम्राज्य का आकार-प्रकार बढ़ा है; क्योंकि साम्राज्य के केवल थोड़े से ही हिस्से स्वाधीन होते हैं कितने ही हिस्से अर्द्ध-स्वधीन और पराधीन होते हैं। स्वाधीन हिस्से के निवासियों को जो अधिकार साम्राज्य में रहते हैं, वे दूसरे हिस्सों के निवासियों को नहीं होते। सम्राज्य की नागरिकता का अर्थ लोगों के लिए उनके अपने देश की स्वाधीनता या पराधीनता के अनुसार होता है, जैसे ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता का जो अर्थ केनेडा या आस्ट्रेलिया के नागरिकों के लिए है, वह भारतवासियों के लिए नहीं। परन्तु कल्पना करो कि हर साम्राज्य के सभी हिस्सों को बराबर की स्वाधीनता प्राप्त हो तो भी असली उद्देश्य सिद्ध न होगा। क्योंकि एक साम्राज्य का नागरिक दूसरे साम्राज्य के नागरिक को पराया, ग़ैर या शत्रु समझता है। उन्हें दुखी देखकर खुश होता है; यहाँ तक कि उन्हें नुकसान पहुँचाने में अपना गौरव या बड़प्पन मानता है। इसलिये साम्राज्य की नागरिकता का आदर्श भी मानव जाति के लिये अभिशाप है।

हमने एक नगर की नागरिकता संकीर्ण समझी, हम आगे बढ़े, राज्य और साम्राज्य की नागरिकता का भी अनुभव करके देख लिया। अब इससे आगे बढने की जरूरत है। समय की पुकार है कि हर आदमी, चाहे वह किसी भी देश का हो, संसार भर का नागरिक माना जाय। वह कहीं जाय, कहीं रहे, उसके उचित अधिकारों की सब जगह रक्षा हो। नागरिकों में गोरे

काले का, यूरोपियन या एशियाई का, कोई भेद भाव न हो। नागरिकता राज्य की नहीं, साम्राज्य की भी नहीं, विश्व की होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को मानने का आशय यह है कि हमें नीचे लिखी बातें मंजूर हैं—संसार के सब मनुष्य भाई भाई हैं; रंग जाति, धर्म, या देश आदि का भेद भाव ग़लत या बेजा है। ऊँच नीच या स्पृश्यास्पृश्य की कल्पना निंदनीय है। किसी भी व्यक्ति, संस्था, समूह या देश को किसी भी वहाने अपने अधीन करना घोर अपराध है। परस्पर प्रेम, समानता और सहयोग हमारे जीवन के मूल मंत्र हैं। ऐसे भावों से युक्त नागरिकता निस्सन्देह विश्व का कल्याण करने वाली होगी।

अधिकार और कर्तव्य—नागरिकता में अधिकारों और कर्तव्य दोनों का समावेश होता है। आज कल के राज्यों में नागरिक अपने लिए ज्यादह से ज्यादह अधिकार हासिल करने की फ़िक्र में रहते हैं, फल स्वरूप तरह तरह के आन्दोलन होते रहते हैं। कर्तव्यों की बात प्रायः गौण रहती है, यहाँ तक कि भावी विश्व-व्यवस्था की योजना बनाने वालों के सामने भी मुख्य विषय यही होता है कि भविष्य में लोगों के अधिकार क्या होंगे। मिसाल के तौर पर सन् १६४० में इंगलैण्ड के मशहूर विद्वान एच० जी० वेल्ज ने 'लोगों के अधिकारों' के बारे में कुछ विचारपूर्ण लेख प्रकाशित कराये थे। उन्हों ने कहा था कि इन अधिकारों को संसार भर के सब राज्यों में कानून का रूप मिल जावे तो विश्व-व्यवस्था बहुत सुन्दर होजायगी। हर आदमी को अपनी शारीरिक, आर्थिक और मानसिक उन्नति के लिए काफ़ी साधन मिलेंगे, और वह सुख और शान्ति से जीवन बिता सकेगा। वह सब काम करने के लिए स्वतंत्र होगा, राज्य उसकी स्वतंत्रता में किसी तरह की बाधा न

डालेगा। श्री० वेल्ज़ ने, बहुत से और महानुभावों से, इन अधिकारों के बारे में, राय मांगी थी। उन्हें जो जवाब मिले, उनमें से महात्मा गांधी के उत्तर की ओर हम पाठकों का ध्यान ख़ास तौर से दिलाना चाहते हैं। वह उत्तर विश्व-संघ की भावना के अनुकूल है। महात्मा जी ने लिखा था—

"आपका तार मिला। आपके पांचों लेख मैंने ध्यान से पढ़े हैं। मैं समझता हूँ कि आप बिलकुल ग़लत रास्ते पर हैं। मुझे विश्वास है कि मैं मनुष्यों के अधिकारों का. आपसे अच्छा नक्शा बना सकता हूँ। लेकिन वह किस काम का? उसका संरक्षक कौन बनेगा? यदि आपका उद्देश्य प्रचार या लोकशिक्षण है, तो आपने उलटे सिरे से काम शुरू किया है। मैं सच्चा रास्ता बताता हूँ। आप मनुष्य के कर्तव्यों का एक नक्शा बनाइये और मैं निश्चय के साथ कहता हूँ कि अधिकार तो अपने आप उसी तरह प्राप्त हो जायेंगे, जिस तरह सर्दी के बाद बसंत आता है। यह मेरा अनुभव-सिद्ध अभिप्राय है। एक युवक की हैसियत से मैंने अपने अधिकार जमाने की कोशिश की, पर तुरन्त ही मैंने पाया कि अधिकार जैसी कोई चीज़ मेरे पास नहीं। मुझे खुद अपनी पत्नी तक पर कुछ अधिकार हासिल नहीं, इसलिए मैंने अपनी पत्नी, बच्चों, मित्रों साथियों और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य खोजना और उसे पूरा करना शुरू किया। फलस्वरूप आज देखता हूँ कि मेरे हक़ इतने विशाल हैं कि संसार में शायद ही किसी आदमी के हों। यदि यह मेरा बहुत बड़ा दावा है तो मैं कहूँगा कि मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता, जिसके अधिकार मेरे अधिकारों से बढ़चढ़ कर हों।"

वास्तव में विश्व-राज्य का काम तभी ठीक तरह चलेगा, जब लोगों में कर्तव्य पालन की भावना भरपूर होगी। इस समय न

सर्वसाधारण को, ख़ासकर अन्याय के सन्मुख, अपने ठीक ठीक 'कर्तव्य' की शिक्षा दी जाती है, और न जिन व्यक्तियों या समूहों को आर्थिक या राजनैतिक सत्ता प्राप्त है, वे अपने असली कर्तव्य पालन की ओर ध्यान देते हैं। नतीजा आपसी कलह और कुव्यवस्था होने वाला ही ठहरा। इसका उपाय यही है कि शुरू से ही लोगों में कर्तव्य-पालन की भावना पैदा की जाय। घर में और बाहर बालकों की शिक्षा का यह आवश्यक अंग हो। इस विषय में विशेष पहले लिखा जा चुका है। जब हम अपने जीवन में संसार भर के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करने का कार्यक्रम रखेंगे तब विश्व-राज्य के शासन में वे कठिनाइयाँ या उलझनें आने का प्रसंग ही न रहेगा, जिनका आजकल सब तरह के राज्यों को सामना करना पड़ रहा है। विश्व-राज्य एक महान परिवार होगा, जिसके सदस्य एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहयोग का भाव रखेंगे। सुसंस्कृत परिवार में हर व्यक्ति दूसरे की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। विश्व-राज्य रूपी परिवार में भी ऐसा ही होना चाहिए।

विश्व-राजधानी—राज्य होगा तो उसकी राजधानी भी चाहिए। पर विश्व-राज्य की राजधानी आजकल की राजधानियों से उसी तरह अलग ढंग की होगी, जैसे विश्व-राज्य आजकल के राष्ट्र-राज्यों से अलग ढंग का होगा। विश्व-राजधानी में ऊंचे ऊंचे और विशालकाय राजभवनों की ज़रूरत न होगी, जिनमें जनता की गाढ़ी कमाई की असंख्य सम्पत्ति लगी हो, न वहाँ पुलिस और सेना का ही आतंक होगा, जिससे नागरिकों के मन में भय भरा रहे; शासकों के ऐश्वर्य का प्रदर्शन वहाँ न मिलेगा। वह राजधानी त्यागशील सेवा-भावी कार्यकर्ताओं के अनुरूप शान्त वातावरण में होगी। वहाँ जाने

वाले आदमी के मन में विलासिता या वैभव के भावों का उदय न होगा, बल्कि उसमें संयम और सादगी के विचार जागेंगे, उसका हृदय राग द्वेष आदि से मुक्त होकर विश्व-सेवा के लिए तत्पर होगा। इसलिए वहाँ के कार्यकर्ताओं को यह तो कभी शिकायत ही न होगी कि राजधानी का स्थान हमारे देश से बहुत दूर है, या यहाँ हमारे भाई बंधु नहीं रहते। वे कार्यकर्ता सभी जगह अपनेपन का अनुभव करेंगे, और, विज्ञान की सहायता से आने जाने के साधनों की उन्नति होने से दूरी की समस्या तो संसार से बहुत कुछ उठ ही जायगी।

रहा यह कि वह राजधानी होगी किस जगह। राष्ट्र-संघ ने अपने प्रधान कार्यालय के लिए जेनेवा (स्विटज़रलैंड) का चुनाव किया था। पर यह ज़रूरी नहीं कि विश्व-राज्य की राजधानी वहाँ ही हो। यह तो सब देशों के सुभीते और सब की पसन्द की बात है। लाला हरदयाल के विचार से इसके लिए यूनान का एथन्स नगर अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि आजकल की सभ्यता दूसरे नगरों की निस्वत एथन्स की अधिक ऋणी है; संस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से यह नगर सब से पवित्र यात्रा-स्थान है; यह पूरब और पच्छिम के बीच में है; और यह न ज्यादह ठंडा न ज्यादह गरम, बीच की आबहवा वाला है। इस विषय पर मत भेद भी हो सकता है। श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'राष्ट्रीयता के मूल मंत्र' में सारे मनुष्य-समाज का शासन एक ही केन्द्र से होने की बात कह कर लिखा है— "आइए! हम मिलकर आशा करें कि वह केन्द्र जगद्गुरू आर्यावर्त के अन्दर मन्वंतर पुराण दिव्यमूर्ति हिमाचल की उपत्यका में कहीं पर होगा, जहां से एटलांटिक महासागर के इस और उस पार के भूखंडों पर अखंडित राज्य होगा।" लेकिन जैसा हमने

ऊपर कहा है, राजधानी के विषय पर हमें कोई आग्रह नहीं है; यह तो समय आने पर सब देशों के प्रतिनिधि मिल कर. अपने अपने पक्षपात और अपनी अपनी श्रेष्ठता के संकीर्ण भावों से पूरे तौर से ऊपर उठ कर, प्रेम के रंग में रंग कर, सबकी सुविधा को देखते हुए, तय कर लेंगे।

अट्ठाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ और अहिन्सा

समाज की प्रगति में तीन हालतें होती हैं। पहली हालत में जंगल-कानून का—हिन्सा और स्वार्थ का—दौरदौरा होता है; दूसरी में कानून और निष्पक्ष न्याय का; तीसरी में अहिन्सा और निस्स्वार्थ भाव का आधिपत्य होता है। सभ्य मानव जाति का सर्वोच्च उद्देश्य यही है।

—*राधाकृष्णन*

हिन्सा और पशुबल के आधार पर क़ायम हुए राज्यों का अनुभव हम खूब कर चुके हैं; उनका हज़ारों वर्ष का इतिहास हमारे सामने है। उससे हमें जान लेना चाहिए कि हिन्सा से केवल हिन्सा का ही जन्म होता है, शान्ति का नहीं। और, जब तक शान्ति की सच्ची व्यवस्था नहीं की जाती, तब तक विश्व-राज्य की स्थापना नामुमकिन है।

विश्व-राज्य क़ायम करने के लिए ही नहीं, उसे बनाये रखने के लिए भी अहिन्सा और प्रेम की ज़रूरत है। इस बात को अभी बहुत से लोग नहीं समझ पाये हैं। यह स्वाभाविक ही है। जो लोग हिन्सा के वातावरण में जन्मे, जो

हिन्सा में पाले पोसे गये, जिन्होंने हिन्सा के विद्यालयों में शिक्षा-दीक्षा पाई, और जो हिंसा के राज्य में रहे, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे जल्दी ही अहिन्सा की महान क्षमता को समझ लें, और इसे अपनाने लगें। इस बात को कुछ और अधिक साफ कर देने की ज़रूरत है, ताकि विश्व-राज्य की सब बाधाएँ दूर हो जायँ।

संसार की अधिकांश आबादी अविद्या के अंधकार में डूबी है। माता पिता बाल-मनोविज्ञान से, और बालकों को घरों में दी जाने वाली शिक्षा के सिद्धान्तों से अपरिचित हैं। निर्धन होने के कारण उनके पास बालकों के भरण पोषण के आवश्यक साधनों का भी अभाव है। वे अपनी संतान की स्वाभाविक भावनाओं और शक्तियों का विकास नहीं कर पाते। उन्हें कदम कदम पर अपनी इच्छानुसार ही चलाना चाहते हैं, और, जब कभी इसमें कुछ प्रतिकूलता दिखाई देती है तो वे ज़बर-दस्ती से काम लेते हैं। बालक यदि कम खाता है तो मा उसे डरा धमका कर ज्यादह खिलाना चाहती है। मा अपने धंधे में लगने वाली है, और बालक को नींद नहीं आती, तो मा उसे मार पीट कर सुलाएगी। बालक से खेल कूद में कोई चीज़ टूट फूट जाय तो मा का थप्पड़-घूँसा उस पर पड़े बिना न रहेगा। बात-बात में बालक को मा बाप के क्रोध और हिन्सा-भाव का शिकार होना पड़ता है।

बालक कुछ बड़ा हुआ, पाठशाला में जाने लगा। उसके अध्यापकों ने चाहे शिक्षण-कला की ट्रेनिंग भले ही पायी हो, और चाहे सिद्धान्त से यह भी जानते हों कि बालकों को डराना धमकाना या शारीरिक दंड देना बुरा है, पर व्यवहार में आम तौर पर अध्यापक इस असूल को भूल ही जाते हैं। उस समय

उनके मस्तिष्क में यही भाव होता है कि बालकों को ताड़ना देने में बहुत गुण हैं, और लाड़-प्यार में बहुत दोष हैं, इसलिए बालकों की ताड़ना करते रहना चाहिए। उन्हें अंगरेजी कहावत का भाव याद रहता है, जिसका अर्थ यह है कि 'छड़ी को विश्राम देना, बालक को बिगाड़ना है।' बस, अगर विद्यार्थी का किसी निरस विषय में मन नहीं लगता तो अध्यापक अपनी बुद्धि का सहारा न लेकर छड़ी का सहारा लेता है। यदि विद्यार्थी की समझ में कोई पाठ नहीं आता तो उसे छड़ी से याद कराया जाता है; अथवा, कभी कभी उस पर कुछ जुरमाना कर दिया जाता है, यदि विद्यार्थी कोई ऐसी बात करता है, जिससे अध्यापक की अयोग्यता सूचित होती हो तो गुरू जी आगे पीछे विद्यार्थी को दंड दिये बिना न मानेंगे। विद्यार्थी-जीवन में हमें बुद्धि, विवेक और प्रेम के बजाय दंड और जुरमाने के शासन में रहना पड़ता है, जो सब हिन्सा के अनेक रूप हैं।

विद्यार्थी स्कूलों कालिजों से छुट्टी लेकर सार्वजनिक कर्तव्य के पालन करने के लिए समाज के आश्रय में आता है। आज कल का समाज पहले से बहुत बदल गया है, पर उसकी नीति अस्पष्ट या छिपी हुई होने पर भी उसका मूल मंत्र 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' ही है। ज़मींदार, तालुकेदार या जागीरदार अपने अधीन किसानों को सताते हैं; पूँजीपति श्रमजीवियों को चूसते हैं; जिसका जहाँ बस चलता है वह जबरदस्ती करने से बाज़ नहीं आता। यहाँ तक कि दया धर्म का दावा करने वाले अनेक धर्माधिकारी भी अपने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए लोगों को तरह-तरह के प्रलोभन देने के अलावा कभी-कभी डराने धमकाने या मार पीट करने से नहीं चूकते। सफलता-प्राप्ति के लिए बल और हिन्सा अन्तिम शस्त्र माने जाते हैं।

सबसे बड़ी और व्यापक संस्था, जिससे आदमी को काम पड़ता है, वह राज्य है। राज्य यह एलान करता है कि मैं नागरिकों के लिए क़ानून और न्याय का शासन क़ायम करूँगा, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' की नीति न चलने दूँगा। परन्तु उसके इस दावे में क्या तत्व है, जब कि उसका संगठन ही ऐसा हो कि व्यवस्थापक सभाओं आदि में जमींदारों, जागीरदारों और पूँजीपतियों का बोलबाला हो; शासन में कूटनीति से काम लिया जाता हो, दूसरे राज्यों का जन धन हड़पने में हिन्सा से परहेज न किया जाता हो, जब कि युद्ध करने में उसे गौरव मालूम होता हो, और जब कि नित्य नयी संधि करना, और प्रतिज्ञाएँ करना और नित्य ही उन्हें तोड़ना मामूली बात समझी जाती हो।

ऐसे चौमुखी हिन्सा के वातावरण में जीवन व्यतीत करने वालों को अहिन्सा और प्रेम की शक्ति में श्रद्धा या विश्वास होना बहुत कठिन है। परन्तु वे तनिक विचार करें तो हिन्सा की असफलता उन्हें साफ नज़र आ जायगी। संसार का इतिहास देखिए। मानवता युद्धों के कारण कराहती रही है, सुख शान्ति हमसे दूर दूर ही रहे हैं; बारबार जन धन की कुर्बानी करते रहने पर भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिल पायी।

हम यह भूलते नहीं हैं कि इतिहास में कभी कभी पीड़ित वर्ग ने हिन्सा से भी अपने अत्याचारियों के विरूद्ध सफ़लता प्राप्त की है; पर ऐसी मिसालों से तो इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, जिनमें सशस्त्र युद्ध में न्याय और सत्य की पराजय हुई, और अन्यायी का बल, संगठन और अत्याचार और भी अधिक बढ़ा। फिर, सशस्त्र युद्ध में, जिसकी पराजय होती है, वह तो पराजित

होता ही है; असल में देखा जाय तो जीतने वाले को भी बहुत नुकसान पहुँचता है, भले ही अपनी जीत के नशे में वह उसका विचार न करे। हमारा आशय यहाँ उस नैतिक पतन से है, जो शस्त्र-धारण और हिन्सा के साथ अनिवार्य है। अनेक बार यह देखा गया है कि जिन लोगों ने जनता की रक्षा के नाम से हथियार उठाये थे, वे ही विजयी हो जाने पर, जनता की रक्षा का ध्येय छोड़ कर, उसके भक्षक बन बैठे। जनता ने अनुभव किया कि उसके नेता, धोखा देने वाले साबित हुए और उसी समय से जनता दूसरी क्रान्ति की तैयारी करने लगी। फ्रांस ने अठारहवीं सदी के अन्त में शासकों के अत्याचार से तंग आकर बोरबोन वंश को हटाने के लिए नेपोलियन का स्वागत किया था। नेपोलियन ने हिन्सा के जोर से लोगों की इच्छा पूरी की, बाद में वह खुद ही उन्हें तकलीफ देनेवाला बन गया। यह है हिन्सा का नतीजा। हिन्सा ने पहले सफल होकर भी अखिर में असफलता दी। इसके विरुद्ध अहिन्सा या शान्तिवाद कभी असफल नहीं होता। जब उसे प्रत्यक्ष सफलता नहीं मिलती तब भी वह अहितकर नहीं होता। वह अपने पीछे द्वेष, दुर्भावना, या बदला लेने की विरासत नहीं छोड़ता। और, अगर वह प्रत्यक्ष में सफल हो जाय तो कहना ही क्या है!

इन बातों को ध्यानमें रखते हुए हमें अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, और ठीक ठीक तय की हुई नीति से फिर विचलित न होना चाहिए। शक्ति, लोभ और घृणा से भरे हुए इस अपूर्ण समाज में हिन्सा कभी-कभी आंशिक विजय प्राप्त कर लेती है। परन्तु हमें उसके प्रलोभन में फँसकर पूर्ण और स्थायी सफलता के आदर्श को नहीं भुला देना चाहिए। हमें दूर तक की बात सोचनी है, हमें कल के बाद आने वाले

दिन, परसों, और उसके बाद आने वाले दिनों के लिए,बिना हिंसा के, निर्माण-कार्य करना है।

संसार में कुछ आदमी वह कार्य करते हैं, जो उनके दल के लिए अच्छा दिखाई देता है, कुछ उसे पसन्द करते हैं जो इससे बेहतर हो। हमें तो दूर तक देखकर सर्वोत्तम से प्रेम करना चाहिए, और चाहे जो हो, उस पर दृढ रहना चाहिए।

सब अन्यायों की जड़ संगठित हिन्सा है। युद्धों और विजयों ने मानव जाति को स्वामी और दासों में, सामन्तों और किसानों में, पूँजीपतियों और मजदूरों में, और साम्राज्य-शासकों और प्रजाजनों में बाँट दिया है। शुरू में कुछ आदमी विरोधी क़बीलों या उपजातियों से लड़ने के लिए अलग कर दि येगये थे। ये लोग योद्धा या सिपाही कहलाने लगे। शान्ति के समय ये अपने ही समूह के आदमियों में लूट मार करने लगे। धीरे धीरे इनका अलग दल या जाति बन गयी। मामूली जनता इनकी गुलाम हो गई, वह इनकी अधीनता में रहने लगी। कुछ योद्धा दूसरे कबीलों को पराजित कर उनमें शासक, भू-स्वामि या सेनापति बन कर रहने लगे। इस लूटमार की पद्धति का मूल हिन्सा थी। सैनिकों ने किसानों और मजदूरों को टेक्स देने के लिये मजबूर किया। इस तरह ज़ाहिर है कि हिन्सा श्रम की, यानी किसानों और मज़दूरों की, स्वाभाविक शत्रु है। इन दोनों का कभी मेल नहीं हो सकता। हिन्सा के बल पर, साधारण जनता अपने अंतिम उद्धार की आशा नहीं कर सकती! यदि हिन्सा संगठित शक्ति से पूजीवाद को हटा भी दे तो वह जनता का नये नये उपायों से शोषण करेगी। सैनिक लोग क्यों मेहनत करने लगे! वे तो काम करने वालों को, जिस तरह हो, लूटने का आसान रास्ता ही पसन्द करेंगे।

इसलिए हमें सब तरह की सेनाएँ हटानी हैं, और नयी सेनाओं का संगठन नहीं करना है। युद्धवाद को पूरी तरह हटाकर ही आमजनता का शोषण रोका जा सकता है।

यह ठीक है कि कभी कभी युद्धवाद से कुछ विजय होती दिखाई देती है, लेकिन इसके बाद दूसरा संकट आ जाता है। इतिहास में इसकी मिसालें भरी पड़ी हैं। यहाँ एक मिसाल देना काफी होगा। अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से में फ्रांस की सैनिक शक्ति ने जर्मनी को सताया और नीचा दिखाया था। उससे जर्मनों को अपना राष्ट्र-बल बढ़ाने की उत्तेजना मिली, जिसका सबूत उन्होंने, अलसेस-लारेन पर अधिकार जमा कर, दिया। इस पर फ्रांस के मन में बदला लेने का भाव जागा। फ्रांस और जर्मनी का मनमोटाव बढ़ता गया। फलस्वरूप १९१४-१८ का महायुद्ध आया। उसमें विजयी पक्ष ने जर्मनी को सदा के लिए ठंडा करने का आयोजन किया। पर हिन्सक मनोवृत्ति से शान्ति का जन्म नहीं हो सकता। जर्मनी में बदला लेने की भावना बढ़ती गयी। सन १९१९ में शान्ति के नाम पर लगाया हुआ हिन्सा का वृक्ष सन् १९३९ में फल लाया। हम लोगों को अपनी एक ही पीढ़ी में दूसरा विश्व-व्यापी महायुद्ध भोगना पड़ा, जो पहले से कहीं अधिक विकराल, विनाशकारी और अधिक फैला हुआ है। इस तरह एक युद्ध का परिणाम दूसरा युद्ध, दूसरे का परिणाम तीसरा, और तीसरे के बाद चौथा। यह सिलसिला आगे बढ़ता रहता है। इसका अन्त कैसे हो ?

समय समय पर कुछ आदमियों ने इस युद्धवाद का विरोध किया है। शुरू में ईसाइयों को यह शिक्षा दी जाती थी

कि रोम कीं सेना में नौकरी न करें। पादरी आरीजन ने साहस के साथ कहा था—"हमारे धर्म के शत्रु चाहते हैं कि हम राज्य के लिए शस्त्र धारण करें और आदमियों का बध करें......सम्राट को हमारी जरूरत हो तो भी हम उसकी अधीनता में युद्ध नहीं करते।"

वह सच्ची घटना कितनी शिक्षाप्रद है। रोम की विशाल रंगभूमि में दर्शकों की भीड़ थी। सम्राट् तमाशा देखने वाली जनता को खुश करने के लिए कुछ योद्धाओं की, अखाड़े में, आमरण लड़ाई करा रहा था। लड़ने वालों में अपूर्व जोश था, नशा था। यह खूनी द्वन्द रोजमर्रा का तमाशा हो चला था। इसे कौन रोके! इसके विरुद्ध आवाज उठाना भी अपना उपहास कराना, लोगों की घृणा का पात्र बनना था। बड़े बड़े आदमियों में इस साधारण प्रवाह के विरुद्ध जाने का साहस न था। टेलमेंकस नाम का एक पादरी अपने स्थान से उठा और झपट कर योद्धाओं के बीच में जा पहुँचा। दोनों ओर के शस्त्रों से उसका शरीर छलनी छलनी हो गया। उसके प्राण पखेरू उड़ गये, पर वह अपने बलिदान से उस राक्षसी खूनी तमाशे को बन्द कर गया। भारतीय पाठक जानते हैं कि राणा प्रताप और शाक्तसिंह के बीच घातक द्वन्दयुद्ध रोकने का काम उनके पुरोहित ने अपनी जान पर खेल कर किया था।

पिछले यूरोपीय महायुद्ध में 'सोसायटी आफ फ्रेंडस' (मित्र-समाज) और कई श्रमजीवी संस्थाओं ने सिपाही की वर्दी पहिनने से हिम्मत के साथ इनकार कर दिया था—पागलों की दुनिया में ये ही थोड़े से आदमी अपनी बुद्धिमानी का परिचय दे सके और उस पर अमल कर सके। इस तरह शान्तिवाद बिल्कुल नयी बात नहीं है, पर इसकी ठीक ठीक परीक्षा नहीं

हुई। इसे और अधिक अवसर मिलने की ज़रूरत है। हिन्सक सैन्यवाद या युद्धवाद से छुटकारा पाने का और कोई मार्ग है ही नहीं। यह ठीक है कि शान्तिवाद के समर्थकों को अक्सर गिरफ्तार करके खूब सताया जाता है, परन्तु उनके त्याग और कष्ट-सहन से लोगों को बुद्ध, महावीर और ईसा की शिक्षा याद आ जाती है, जिसे वे भूले हुए हैं। संसार को आधुनिक नरमेधों से बचाने के लिए ऐसे आत्मबली, त्यागी पुरुषों की ज़रूरत है।

वर्तमान युद्ध ने दिखा दिया कि वैज्ञानिक और आर्थिक शक्ति-सम्पन्न देश युद्ध कार्य में कहां तक बढ़ गये हैं। कितने ही देशों ने युद्ध के अधिक से अधिक विकसित साधनों से काम लिया और मरने मारने में किसी तरह कमी नहीं की। फिर भी वे देश अपनी स्वाधीनता खो बैठे। यूरोप के छोटे छोटे राष्ट्रों ने एक-एक दिन में दस-दस पंन्द्रह पंन्द्रह करोड़ रुपये से अधिक खर्च कर डाला या फूँक डाला। जब कोई देश सैनिक तैयारी की बात करे तो इन बातों को याद रखे। कोई गरीब देश इतना धन हिन्सक सामग्री में कैसे खर्च कर सकता है! यह भी विचार करना है कि हम हजारों लाखों आदमी की हत्या करें और, इतने पर भी देश की रक्षा और स्वाधीनता को गारेंटी नहीं। हमारी हिन्सा को देख कर विपक्षी में प्रतिहिन्सा की भावना बढ़ती जायगी। इस का अन्त कौन करे!

यह महान कार्य हमारे ही करने का है। उपाय भी सरल ही है। मनुष्य यह पक्का इरादा करले कि हम कभी हथियार न उठायँगे, कभी नहीं लड़ेंगे, और न लड़ने का व्यापार सीखेंगे। यदि हम इतना काम करलें तो उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। हमें व्यापक निशस्त्री-करण की, या स्थायी शान्ति के लिए विश्व-संधि की, इन्तजार

करने की ज़रूरत नहीं है। वह सब अपने समय पर हो जायगा। पर उसके होने के लिए यह ज़रूरी है कि हम इस समय व्यक्तिगत रूप से पहले अपने आपको निशस्त्र करदें। हम किसी के लिए भी न लड़ें। हमारा मन सदैव शान्ति की बातों को सोचे, युद्ध का कभी विचार न करें। जब कुछ आदमी इस काम में अग्रदूत बन जायँगे तो वे दूसरों को भी इस काम के लिए बुला सकते हैं; जनता उनका अनुकरण करेगी। इसलिए क्यों न हम अहिन्सा का निश्चय करें! हाँ, हमारी अहिन्सा निर्बलों या कायरों की अहिन्सा न हो, वह बीरों की अहिन्सा हो। शत्रु यह जानले कि हम उसकी अधीनता कभी स्वीकार न करेंगे। उसे यह विश्वास हो जाय कि हमारे कुछ आदमियों को मारने या हमारी भूमि के किसी भाग पर अधिकार करने से उसे कोई लाभ न होगा। इस तरह वह हम पर विजय पाने की कल्पना न करे; हम हिन्सा से बचें और उसे भी हिन्सा से बचावें। निस्सन्देह इसके वास्ते सच्चे कष्ट सहने वाले, और त्यागशील सत्याग्रहियों की जरूरत है।

शान्ति-सेना के महत्व और शिक्षा के विषय में कुछ विचार-सामग्री देनेके लिए यहाँ महात्मा गांधी के एक लेख के कुछ अंश का आशय दिया जाता है।* हिन्सक सेना के सैनिक को सब से बड़ी आवश्यकता शारीरिक बल की होती है, जिस से वह दूसरों को मारने की सामर्थ्य बढ़ा सके। इसलिए बुड्ढे, छोटी उम्र वाले, और रोगी उस से अलग रखे जाते हैं। परन्तु शान्ति-सैनिक में मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्यौछावर कर सके। यह सेना बुड्ढों, औरतों, बच्चों,

* यह लेख अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' के २६ जून १९४३ के अंक में छपा था।

अंधों, लंगड़ों और रोगियों का भी स्वागत कर सकती है। इस से स्पष्ट है कि इस सेना में अधिक जनता भाग ले सकती है। इस सेना को अस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती, इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाय, अपनी जान जोखम में डाल कर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाय। शान्ति-सैनिक किसीको भी शत्रु नहीं मानता;जो आदमी उसे शत्रु समझें, उनके लिए उसके हृदय में प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है। शान्ति-सैनिकों में बूढ़े और रोगी आदि सम्मिलित होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहां तक हो सके, अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधारना और ठीक रखना चाहिये। अनेक बार ऐसा प्रसंग आसकता है कि उन्हें भूख प्यास, सर्दी गरमी, वर्षा, मार पीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उन में यह साहस और चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगों को आग या बाढ़ आदि से बचा सकें और लड़ाई दंगे के बीच में पड़ कर लड़ने वालों से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें।

हम ऐसे वातावरण में पले हैं, और हमारी विचारधारा और दृष्टिकोण ऐसे हो गये हैं कि हमें इन बातों में विश्वास नहीं होता। इनमें हमारी रुचि नहीं है। आवश्यकता है कि हम इन पर गम्भीरता के साथ विचार करें। युद्ध मानव जाति के लिये अभिशाप रूप है, इसके निवारण के लिये हर विवेकशील आदमी को भरसक उद्योग करना चाहिए। युद्ध का अन्त युद्ध के द्वारा न होगा, बल्कि हिन्सा से सर्वथा असहयोग करने और मानव प्रेम को अपनाने से ही होगा, जिसके अन्तर्गत एक आवश्यक बात यह है कि ऐसा करने में जो भी कष्ट हम पर आवे, उसे शान्ति और गम्भीरता से सहन किया जाय। यदि

मृत्यु का भी स्वागत करना पड़े तो वह सहर्ष किया जाय। विश्व-राज्य की स्थापना तथा सुरक्षा केवल इच्छा से या कहने मात्र से न होगी, इसके लिए ठीक ठीक कृति चाहिए।

हर युग की कोई एक ज्वलन्त समस्या और एक सर्वोच्च प्रगतिशील आन्दोलन होता है। संसार के भिन्न भिन्न देशों में कभी बौद्ध, ईसाई या हिन्दू कहलाने वालों पर संकट आया, कभी नास्तिकों का जीवन दूभर रहा, कभी मादक द्रव्य निषेध करने वालों को कष्ट झेलने पड़े, कभी अपने को प्रजातन्त्री या समाजवादी कहना एक मुसीबत मोल लेना रहा। इन लोगों को विद्रोही कह कर इन्हें किस तरह सताया गया, उसकी रोमांचकारी कथाओं से इतिहास के पन्ने रँगे पड़े हैं। आज दिन प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की स्पष्ट रेखा शान्तिवाद है। युद्ध मानव जाति का सबसे अधिक घातक और भयंकर शत्रु है। यदि हम इस सम्बन्ध में अपना कर्तव्य पालन न करें तो चाहे हम और कई छोटे मोटे कार्य कर गुज़रें, हम मानवता के अग्र भाग से पीठ दिखाने वाले ही रहेंगे।

उन्तीसवाँ अध्याय

हमें क्या करना चाहिए

अगर कोई आदमी अपने स्वप्नों की दिशा में विश्वास के साथ आगे बढ़ता रहे, और ऐसा जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता रहे, जैसा कि उसने सोच रखा है तो उसे वह सफलता मिलेगी, जिसकी मामूली समय में आशा नहीं की जा सकती। —थोरो

हमने इस किताब को पढ़ लिया। हम विश्व-राज्य के लिए क्या करें ? जिन असूलों से विश्व-राज्य का निर्माण होता है, उन्हें फैलाने और उन्नति देने के लिए हमारा क्या कर्तव्य है ?

पहली बात तोयह है कि हमारे अन्दर आशा, विश्वास और उमंग होनी चाहिए। विश्व-राज्य का निर्माण उसी तरह निश्चित या तय है, जैसे आधी रात के घोर अंधकार के बाद सुबह की रोशनी। हाँ, उसकी कल्पना ऐसे लोग नहीं कर सकते, जो रात के अंधकार से घबरा गये हों। आम लोगों का उसमें विश्वास नहीं होता। जिस युग में हम रह रहे हैं, वह साम्राज्यों के आपसी महायुद्धों की भयंकर घटनाओं और उनके दुष्परिणामों से ओत प्रोत है ! संसार की जनता बेहद कष्ट भुगत रही है। जब कि लोगों के प्रिय जनों और प्रिय वस्तुओं का विनाश हो रहा हो तो लोगों का दुखी और परेशान होना स्वाभाविक है। पर यह ठीक नहीं है। विचारवान आदमी को धीरज और गम्भीरता से काम लेना चाहिए। चहुँ ओर की निराशा के वातावरण में भी आशा का परित्याग न करना चाहिए; और, चाहे जैसी परिस्थिति हो, हमें अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते रहना चाहिए।

विश्व-राज्य के काम में एक बड़ी बाधा साम्राज्यवाद है, जो युद्धों के बल पर ज़िन्दा रहता है। संसार हिन्सा कांड से त्राहि त्राहि कर रहा है। इसका अन्त करने की बहुत सख्त ज़रूरत है। इसके लिए मानवता-प्रेमी हृदय चाहिएँ, जो खुशी खुशी अपना बलिदान करने को तैयार हों, उत्सुक हों। दुनिया की सब सरकारें एक दिन निशस्त्र होंगी, पर अभी दुविधा में पड़ी हैं। यही मौक़ा है कि हम लोग व्यक्तियों की हैसियत से

अपना कर्तव्य पालन कर दिखावें। किसी को आगे बढ़ना होगा। वह आगे बढ़ने वाले हमही क्यों न हों ? हमें अपने निजी जीवन पर पूरा अधिकार और आजादी है। कोई हमें खेत और खलिहान में, दफ्तर और कारखाने में, जेल और फांसी के तख्ते पर भी शान्तिवाद के असूल पर अमल करने से नहीं रोक सकता, हम नम्रता से, पर दृढ़ता और अभिमान से यह कह सकें कि हमारे दिल से, और हमारे घर से युद्ध सदा के लिये उठ चुका है; परमात्मा करे, यह सब के दिलों और सब के घरों से निकल जाय। बस, विश्व-राज्य का रास्ता साफ हो जायगा।

बहस करने वालों का यह सवाल बना ही रहता है कि विश्व-राज्य का निर्माण कब होगा। इसका जवाब यही है कि इसके लिये कुछ परिस्थितियाँ जरूरी हैं। उन परिस्थितियों का जल्दी या देर में आना हमारी कोशिशों पर निर्भर है। मानव समाज की प्रगति का हिसाब अंकगणित के प्रश्नों के उत्तर की तरह झटपट और गिन कर नहीं दिया जा सकता। उसमें कमी बेशी की गुँजायश रहती है। यदि सब विचारशील लोग इस काम में जुट जाँय, दूरदर्शी और व्यापक दृष्टिकोण वाले महानुभावों के आदेशों का पूरा पूरा लाभ उठाया जाय, उनके नेतृत्व और पथप्रदर्शन का ठीक ठीक उपयोग किया जाय तो हजारों वर्ष में होनेवाला काम कुछ दशाब्दियों में ही पूरा हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चाहे जब हो, विश्व-राज्य का कायम होना लाजमी है। कुछ लोग कह दिया करते हैं कि अगर कोई काम निकट भविष्य में होने वाला नहीं है तो हम उसका विचार, या उस दिशा में कोशिश क्यों करें। परन्तु यह दृष्टि क्षुद्र दृष्टि है। हम उस माली का दृष्टान्त अपने सामने रखें, जो पेड़

लगाता रहता है, यह जानते हुए भी कि इन से छाया और फल उसके जीवन काल में न मिलेंगे, पर अगली पीढ़ी के काम आयेंगे। हम निष्काम भाव से विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य के पौधों को सींचते रहें, समय आने पर मानव समाज उनके फलों और छाया से लाभ उठाएगा।

हम यह अच्छी तरह समझ लें कि हमारे लिये विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए कोई देवता या फ़रिश्ते नहीं आवेंगे। दूसरे लोक के प्राणी आकर यह काम कर भी जायँ तो हमें उससे फ़ायदा नहीं होगा। व्यायाम या वायु-सेवन दूसरा आदमी करे, और स्वास्थ्य हमारा सुधरे, यह कैसे हो सकता है। अपने लिए कल्याणकारी विश्व-राज्य का निर्माण हमें ही करना है। जिन परिस्थितियों में उसकी स्थापना होगी, उन्हें पैदा करना हमारा ही काम है। हम सोचें कि क्या हमने इस दिशा में आगे बढ़ना शुरू कर दिया है। कुछ महानुभावों ने हमें समय समय पर मार्ग दिखाया है, और इस समय भी कुछ विभूतियाँ हमारे कार्यक्रम का साफ़ साफ़ चित्र हमारे सामने रख रही हैं। दुर्भाग्यवश हमने उनकी बात सुनने और विचारने से बहुत दरजे तक इनकार कर रखा है, और कहीं कहीं उनकी आवाज़ आम लोगों तक न पहुँचने देने की भी व्यवस्था कर रखी है। पर समय आ रहा है, हमें अपनी भूल स्वीकार करनी होगी, इस तरह के विचारकों का संदेश सुनने के लिए उनके पास दौड़ना पड़ेगा। हम सच्चे हृदय से उनके आदेश का पालन करें, और विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य का निर्माण करने में सहायक हों।

हम यह समझ लें कि विश्व-राज्य के अभाव में जो स्थिति है; वह असह्य है। उसमें परिवर्तन होना ज़रूरी है। यह बात

छोटे और बड़े, पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढ़े, किसानों और मज़दूरों, दूकानदारों और कारीगरों सब के दिल में बैठाई जाय और लोकमत तैयार किया जाय। हर मनुष्य अपने आपको विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य की भावना का प्रचारक समझे।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे ज्ञान-प्राप्ति के साधनों में यात्रा का भी पूरा पूरा महत्व समझें; संसार के विविध देशों की यात्रा करें, उनकी भाषाएँ सीखें, विश्व-साहित्य का अवलोकन करें, दूसरे देशों के निवासियों से मेलजोल बढ़ावें, और इस तरह अपने आपको और अपने साथियों को विश्व-नागरिकता के योग्य बनावें। विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ते समय विशेष सावधान रहने की ज़रूरत है। वे ऐसे इतिहास की भूलभुलैयों में न पड़ें, जो संकीर्ण राष्ट्रवादी लोगों ने लोभ या मोहवश तैयार किये हैं। वे विश्व-इतिहास का मनन करें। वे पिछली शताब्दियों की उन महान क्रान्तियों और संस्थाओं का हाल पढ़ें और सोचें, जिन्होंने भिन्न भिन्न क़ौमों का कायाकल्प करके मानवता के लिये कोई विशेष आदर्श प्रदान किया है। हम उन महापुरुषों का जीवनचरित्र पढ़ें, जिन्होंने मनुष्य-जाति के उत्थान में अपने आराम, स्वास्थ्य और जीवन तक को बलिदान कर दिया है। उन्होंने अपने त्याग के बल से बड़े बड़े सिंहासनों को हिला दिया है। त्याग की अनुपम शक्ति के सामने साम्राज्यों और पूँजीपतियों की सेनाएँ काम नहीं कर सकतीं। त्याग सब अत्याचारों का अंत कर सकता है। बस, त्याग की माँग है, धन का त्याग, स्वास्थ्य का त्याग, प्रिय जनों का त्याग और जीवन का त्याग।

आवश्यकता है कि विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य हमारे जीवन का लक्ष्य हो। हम इसके लिए मरने को तैयार रहें, इससे बढ़

कर बात यह है कि हम इसी के लिए जीवित रहे। इसके आधारभूत सिद्धान्तों का हम अपने दैनिक जीवन में अभ्यास करें। हम सब को अपना भाई और साथी मानें; यह न हो कि अपने आपको दूसरों से ऊंचा समझें। हम न धनवानों की खुशामद या चापलूसी करें, और न ग़रीबों से घृणा करें। विलासिता और शौक़ीनी से हम दूर रहें। हमारा रहन सहन सादा हो, सब के प्रति हम सहनशील हों, और अपनी राय दूसरों पर ज़बरदस्ती न लादें। धर्म या राजनीति में जिनसे हमारा मत-भेद है, उनके भी अधिकारों का हम आदर करें। हम में अपनी ही स्वतंत्रता के लिए उत्साह न हो, हम सब की स्वतंत्रता की चिन्ता करें, तभी हम विश्व-राज्य की पताका फहराने वाले अग्रदूत हो सकेंगे।

लेखकों और कवियों को भी उनका कर्तव्य याद दिलाने की आवश्यकता है। अनेक लेखकों को अपनी शक्ति का पता नहीं होता, वे धनवानों या सत्ताधारियों के इशारे पर कलम चलाते हैं, घृणा द्वेष और कायरता का वातावरण बनाये रखने में सहायक होते हैं, वे अपने पाठकों और श्रोताओं को नवयुग का संदेश नहीं सुनाते, वे इस सृष्टि में कोई गहरा परिवर्तन करने की बात कहते हुए झिझकते हैं। लेखक-भाइयो! तुम पूँजीवाद और सम्राज्यवाद की चाकरी में कब तक निमग्न रहोगे? तुम्हारे लिए विश्व-राज्य के निर्माण का महान कार्य प्रतीक्षा कर रहा है। इधर-उधर की अनावश्यक और हानिकर बातों को छोड़ कर, विश्वबन्धुत्व का संदेश सुनाने में लग जाओ, अपने लेखों और पुस्तकों में इसी भावना को ओतप्रोत कर दो। तुम कहानीकार हो या उपन्यासकार, नाटककार हो या काव्य-रचयिता, तुम्हारी हर रचना का मूल मंत्र किसी न किसी रूप में

विश्व-राज्य की चर्चा हो। तुम बालकों के लिए लिखो या बूढ़ों के लिए, पुरुषों के वास्ते लिखो चाहे स्त्रियों के लिए; याद रखो तुम्हें अपने पाठकों के लिए विश्व-राज्य का महान आदर्श पेश करना है।

यही बात हर अध्यापक, हर उपदेशक, और हर सुधारक को करनी है।

तीसवाँ अध्याय
आत्म-निर्माण

जब व्यवहारों और विचारों में हमारे नेता समाज के पुनर्निर्माण की कोशिश करें तो होशियारी से उन सब प्रणालियों को नष्ट कर देना चाहिए, जो आत्माओं को तुच्छ बनाती हैं, और उनका विनाश करती हैं। उन्हें सब से पहले मनुष्य की आत्मा की उन्नति में पूरी सहायता देनी चाहिए। —*सर्वपल्ली राधाकृष्णन*

व्यक्ति अपना आत्म-निर्माण करे, संस्था उसमें से आप फूटेगी, और ऐसी ही संस्था स्थायी होगी। —*वीरेन्द्र कुमार*

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए हमें क्या करना चाहिए, उससे भी अधिक महत्व का विषय यह है कि उसके लिए हमें खुद कैसा बनना चाहिए।

यह बात हृदय में भली भांति धारण करने की है कि हमें संस्थाओं को बनाने से अधिक ध्यान स्वयं अपने आपको बनाने की ओर देना चाहिए। आजकल के युग को संस्था-युग कह सकते हैं। नित्य नयी संस्थाएँ बनती हैं। जो आज बनती है,

वह कल टूट जाती है। कोई स्थिर नहीं रहती। बात यह है कि इन संस्थाओं के निर्माण करने वालों में संस्था के प्रति यथेष्ट श्रद्धा, भक्ति, धुन या लगन नहीं होती; वे उसके नहीं हो रहते। वे बहुधंधी होते हैं, उन्हें अनेक काम करने की चिन्ता होती है, उनमें से कोई एक काम यदि न भी चला तो उन्हें विशेष परवाह नहीं होती, उन्हें उसका अभाव असह्य नहीं होता। जब संस्थापक का यह हाल हो तो सहायक और सहयोगियों की तो बात ही क्या !

इमर्सन ने कहा है कि 'हर बड़ी संस्था और कुछ नहीं, केवल किसी एक व्यक्ति की लम्बी परछाई है।' संस्थापक का ही चरित्र संस्था में दिखाई पड़ता है। उसके गुण अपने सजातीय गुण वाले दूसरे लोगों को उसकी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह एक प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव वाले कुछ व्यक्तियों का संगठन होता है, और ये अपने प्रभाव से दूसरे ऐसे ही कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करते हैं। यह क्रिया उत्तरोतर आगे बढ़ती है, और संस्था का निर्माण हो जाता है। अब यदि केन्द्र में ठीक ठीक प्रकाश और दृढ़ता नहीं है; हिचकिचाहट, संकोच, शिथिलता, धुंधलापन आदि विद्यमान हैं तो ज्यों-ज्यों केन्द्र से आगे बढ़ते जायँगे, अवस्था अधिकाधिक चिन्तनीय होती जायगी। यदि राजधानी में काम क्रोध लोभ मोह का आधिपत्य है, तो दूर दूर के प्रान्तों में जो भी अन्धकार हो, सो कम है। जिन जीवाणुओं के अपने अन्दर जीवन और ओज नहीं, वे उर्वरा या उत्पादक जीवाणुओं के जन्मदाता कैसे हो सकते है !

हमें संस्था बनाने का चाव होता है। हम चाहते हैं कि किसी तरह हमारा भी नाम पाँच सवारों में लिखा जाय। लोग जान लें

कि हम में भी कुछ है। बस, हमें यह दिखाने भर की ही फ़िक्र होती है; किसी आदर्श, उद्देश्य या सिद्धान्त-पालन की हमें चिन्ता नहीं होती। हम दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि हम सच्चे हृदय से अपनी जाँच करें तो स्पष्ट है कि हमारी इच्छा काम करने की नहीं होती, केवल यह होती है कि हमारी गिनती काम करने वालों में होने लगे। हम साहित्यिक बनना नहीं चाहते; उसके लिए जो साधना या तपस्या का जीवन चाहिए, उस से हम कोसों दूर रहते हैं, हम तो चाहते है कि किसी दूसरे की कृति या दूसरे के श्रम के सहारे हमारे नाम से चीज छप जाय, और हम लेखक गिन लिये जायँ। हम कवि के रूप में प्रसिद्ध होना अवश्य चाहते हैं, और इसलिए ऐसे कवि-सम्मेलन में भाग लेने को तैयार रहते हैं जहाँ हमें ख्याति या अच्छी दक्षिणा मिले। वहाँ हम कृषकों या अकाल-पीड़ितों का क्रन्दन भी खूब सुर ताल से सुनावेंगे। परन्तु वास्तव में हम कविहृदय नहीं चाहते; कवि बनकर दिन रात अपनी आँखों के सामने आनेवाले दीन दुखियों के कष्टों से पीड़ित होते रहना हमें पसन्द नहीं। हम धर्मात्मा बनना नहीं चाहते, क्योंकि यदि वास्तव में धर्मात्मा होंगे तो हमें अपने दीन हीन भाइयों के दुख दारिद्र्य को दूर करने में अपनी समस्त सम्पत्ति लगा देनी होगी, और हमें उनसे अधिक सुखमय जीवन का व्यतीत करने का अधिकार न होगा। यह बात हमारे वश की नहीं। हम तो किसी मंदिर, अनाथालय, आदि में कुछ चन्दा दे देना चाहते हैं, बशर्ते कि वहाँ हमारे नाम का पत्थर लगजाय, या रिपोर्टों या पत्रों में हमारे दान धर्म की विज्ञप्ति की जाय।

खास तरह की पोशाक पहन कर, चिन्ह धारण कर, या खास नारे लगाकर, हम समाजवादी 'कामरेड' कहलाना पसन्द

कि हम में भी कुछ है। बस, हमें यह दिखाने भर की ही फ़िक्र होती है; किसी आदर्श, उद्देश्य या सिद्धान्त-पालन की हमें चिन्ता नहीं होती। हम दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि हम सच्चे हृदय से अपनी जाँच करें तो स्पष्ट है कि हमारी इच्छा काम करने की नहीं होती, केवल यह होती है कि हमारी गिनती काम करने वालों में होने लगे। हम साहित्यिक बनना नहीं चाहते; उसके लिए जो साधना या तपस्या का जीवन चाहिए, उस से हम कोसों दूर रहते हैं, हम तो चाहते है कि किसी दूसरे की कृति या दूसरे के श्रम के सहारे हमारे नाम से चीज छप जाय, और हम लेखक गिन लिये जायँ। हम कवि के रूप में प्रसिद्ध होना अवश्य चाहते हैं, और इसलिए ऐसे कवि-सम्मेलन में भाग लेने को तैयार रहते हैं जहाँ हमें ख्याति या अच्छी दक्षिणा मिले। वहाँ हम कृषकों या अकाल-पीड़ितों का क्रन्दन भी खूब सुर ताल से सुनावेंगे। परन्तु वास्तव में हम कविहृदय नहीं चाहते; कवि बनकर दिन रात अपनी आँखों के सामने आनेवाले दीन दुखियों के कष्टों से पीड़ित होते रहना हमें पसन्द नहीं। हम धर्मात्मा बनना नहीं चाहते, क्योंकि यदि वास्तव में धर्मात्मा होंगे तो हमें अपने दीन हीन भाइयों के दुख दारिद्रय को दूर करने में अपनी समस्त सम्पत्ति लगा देनी होगी, और हमें उनसे अधिक सुखमय जीवन का व्यतीत करने का अधिकार न होगा। यह बात हमारे वश की नहीं। हम तो किसी मंदिर, अनाथालय, आदि में कुछ चन्दा दे देना चाहते हैं, बशर्ते कि वहाँ हमारे नाम का पत्थर लगजाय, या रिपोर्टों या पत्रों में हमारे दान धर्म की विज्ञप्ति की जाय।

खास तरह की पोशाक पहन कर, चिन्ह धारण कर, या खास नारे लगाकर, हम समाजवादी 'कामरेड' कहलाना पसन्द

करते हैं, पर क्या हम कभी सोचते हैं कि समाजवादी को अपने पास धन सम्पत्ति जोड़ कर रखने की इजाज़त नहीं होती, जब कि देश में अनेक आदमियों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक भोजन वस्त्र का भी अभाव हो। समाजवादी की कोई व्यक्तिगत पूँजी, भूमि, जायदाद आदि नहीं होती।

हम विश्व-निर्माण की बातें करने में पीछे नहीं रहते, पर सच पूछो तो हमें अपने घर बनाने की ही फ़िक्र रहती है। किस प्रकार हम अधिक से अधिक कीर्ति, यश, सम्पत्ति और सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, यही हमारा एकमात्र लक्ष्य होता है। हम अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों की चर्चा करते रहेंगे, पर उससे हमारे किसी स्वार्थ पर आंच न आनी चाहिये।

भला, ऐसे आदमियों से विश्व-निर्माण कैसे होगा ? विश्व-राज्य को बातूनी और पाखंडी, घमंडी या अहंकारी व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं। ये उसके नागरिक होने के योग्य नहीं होते। विश्व-राज्य को ज़रूरत है, उन शुद्ध निष्कपट सच्चरित्र हृदयवान सज्जनों की, जिन्हों ने काम क्रोध लोभ मोह को जीत लिया हो, या जो जीतने का हृदय से प्रयत्न कर रहे हों, जिन्हों ने केवल प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए ही पुस्तकों को कंठ करने या परीक्षाएँ पास करने का कष्ट न उठाया हो, बल्कि जो सांसारिक माप दंड के अनुसार अशिक्षित कहे जाते हुए भी वास्तव में सुशिक्षित हों, जिन्होंने ने दूसरों पर या प्रकृति पर विजय पाने की अपेक्षा स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त करने की साधना की हो, और जिन्हों ने अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का निश्चय किया हो।

जिन लोगों का चरित्र-निर्माण ठीक रीति से नहीं हुआ है, और जिन्हों ने इन्द्रिय-संयम का अभ्यास नहीं किया है, उन

की सब शिक्षा दीक्षा व्यर्थ है। वे अपने ज्ञान विज्ञान और शक्ति का सदुपयोग करेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं रहता। नीतिकार के शब्दों में उनकी विद्या विवाद के लिए, धन मद या अहंकार के लिए, और शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है।* ऐसे लोग किसी भी संस्था या विधान का अनर्थ कर डालते हैं। ऐसे लोगों के कारण ही जनतंत्रवाद असफल कहा जा रहा है, इन्हों ने साइन्स अर्थात् विज्ञान को हिन्सा का साधन बना डाला है, ये समाजवाद को भी ठीक तरह काम न करने देंगे। इसलिए इद्रिय-संयम और साधुस्वभाव की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे विद्या का उपयोग विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हो, धन दूसरों की सहायता के लिए हो, और शक्ति दूसरों की रक्षा के काम में आए।

विश्व-राज्य का नागरिक बनने में चरित्र सम्बन्धी थोड़ी सी त्रुटि भी बहुत घातक हो सकती है।

महाभारत-युद्ध के मूल में यह छोटी सी बात थी कि जब दुर्योधन को पाँडुओं के विलक्षण महल में जल की जगह स्थल का, और स्थल की जगह जल का भ्रम हुआ तो द्रौपदी ने व्यंग पूर्वक कह डाला कि अंधे की संतान अंधी ही होती है। चरित्र की छोटी-छोटी बातों का कैसा भयंकर दुष्परिणाम होता है! तनिक सी चिंगारी बड़े बड़े भवनों को भस्म कर डालती है! वास्तव में इन बातों को छोटी समझ कर इनकी अवहेलना करना बड़ी भूल है। श्री० शिवनन्दन प्रसाद जी एम० ए० ने ठीक लिखा है—"किसी एक द्रौपदी के कुछ असावधान शब्द, किसी एक मंथरा की प्रतिशोध भावना, किसी एक शूर्पनखा की उद्दाम

* विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्ति परेषां पर पीड़नाय।
साधोरसाधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय॥

वासना, ऐसी घटनाओं को जन्म देने में समर्थ हैं, जो संसार भर पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं; मानव जाति का संहार कर सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि युद्ध न हुआ करें, विश्व-शान्ति के उन्मुक्त आकाश में संग्राम के काले बादल न छाया करें तो हमें भौतिक जीवन की समस्याओं की ओर ही नहीं, अन्तर्जगत् की ओर भी दृष्टि डालनी होगी; क्योंकि इस वाह्य विश्व की सारी घटनाएँ आन्तरिक संसार की छाया मात्र हैं; निराकार भावनाओं, धारणाओं और विचारों के साकार रूप हैं। आज के महायुद्ध का दानव विज्ञान और कल कारखानों द्वारा प्रसूत नहीं है—इन जड़ वस्तुओं में इतनी क्षमता नहीं कि विश्वव्यापी युद्धों को जन्म दें। वर्तमान महायुद्ध के मूल में मानव हृदय की वह अतृप्त लालसा है, वह दुर्दमनीय धन-लिप्सा और अधिकार की प्यास है, जो अपना भीषण रूप पूंजीपतियों की संगठित संस्थाओं के द्वारा (जिसे साम्राज्य कहते हैं) दिखला रही है।*

इससे आत्म-निर्माण और चरित्र गठन का महत्व स्पष्ट है। व्यक्तियों में यह बात जितनी अधिक होगी, उतना ही उनकी संस्थाएँ अधिक सुन्दर, महान और स्थायी होंगी। विश्व-राज्य के लिए इसकी आवश्यकता और उपयोगिता और भी अधिक है। जो व्यक्ति काम क्रोध आदि मन के विकारों को वश में कर लेता है, वह तीनों लोकों में विजय प्राप्त कर सकता है; अर्थात् कोई कार्य उसकी शक्ति से बाहर नहीं रहता। ऐसे ही व्यक्तियों से विश्व-राज्य संगठित होगा। इस लिए स्वामी राम के शब्दों को जरा बदल कर, हमें यह कहना है—

---

*'मानव धर्म' अक्तूबर १६४३।

विश्व राज्य के लिए आवश्यकता है ।
निर्माताओं की—दूसरों का निर्माण करने वालों की नहीं, वरन् स्वयं अपना निर्माण करने वालों की ।
योग्यता—जिन्होंने प्राप्त किया है, विश्वविद्यालय की डिगरियाँ नहीं, परन्तु अपने अहंकार और काम पर विजय ।
आयु—ब्रह्मानन्द की युवावस्था (सांसारिक गणना के हिसाब से वह चाहे पन्द्रह वर्ष की हो, या पिछत्तर अस्सी वर्ष की ही क्यों न हो)
वेतन—आत्म-संतोष ।
शीघ्र प्रार्थना पत्र भेजो—'भिक्षांदेही' के शब्दों में नहीं, परन्तु अधिकारपूर्ण फैसले के साथ ।
विश्व के स्वामी को—अर्थात् अपने आप को ।

अन्त में निवेदन है कि इस रचना के पाठक और श्रोता आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण करते हुए विश्व-राज्य के नागरिक बनने के लिए अधिकाधिक योग्यता का परिचय दें । चाहे उन्हें राष्ट्र-राज्य में रहना पड़ रहा हो, परन्तु वे अपने विविध कर्तव्यों के पालन में भावना विश्व-राज्य की ही रखें । वे यह समझलें कि हम तो अभी से विश्व-राज्य या विश्व-संघ के नागरिक हैं, और हमारा लिखना, पढ़ना, शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि सब कार्य इस दृष्टि से होगा कि वह विश्व-नागरिक द्वारा, विश्व-राज्य के लिए है । जिस प्रभु, परमात्मा, खुदा; 'गाड' या किसी दूसरी बड़ी शक्ति या सत्ता में हमें विश्वास है, वह हमें इस सत्कार्य के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दे । शुभम्

———

परिशिष्ट

विश्व-संघ में पशु पक्षी

इस पुस्तक में हमने विश्व-व्यवस्था पर विचार मनुष्य की दृष्टि से किया है। मनुष्य इस सृष्टि का सब से श्रेष्ठ प्राणी है, और उस पर इस बात की जिम्मेवारी है कि वह न केवल अपने सामूहिक और व्यापक हित का विचार करे, बल्कि दूसरे प्राणियों के बारे में भी उदारता और न्याय की भावना का परिचय दे। इसलिए इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ में पशु पक्षियों की दशा कैसी होगी। ध्यान रहे कि पशु पक्षियों के साथ मनुष्य जो व्यवहार करेगा, उसका असर केवल उन पर ही नहीं पड़ेगा बल्कि स्वयं मनुष्य पर भी पड़ेगा।

क्या पशु पक्षी भी मनुष्य के प्रेम के अधिकारी होंगे? विषय कुछ जटिल और वादग्रस्त है, फिर भी विचारने योग्य है। सभ्यता के शुरू में आदमी ने जब जंगलों को काट कर भूमि साफ की, तो उसने अनेक पशुओं को मारा। उस समय उस के सामने भोजन की बड़ी समस्या मौजूद थी, उसे खेती करने का ज्ञान नहीं था। कन्द मूल फल सब जगह और सदैव काफी नहीं मिलते थे। इसलिए जिन पशु पक्षियों का मांस वह खा सकता था, खा लेता था; और जिनका चमड़ा ओढ़ कर अपनी सर्दी का बचाव कर सकता था, उनकी खाल काम में ले आता था। पशुओं का इस से अधिक और कुछ उपयोग वह करना ही नहीं

जानता था। कुछ पशु पक्षी तो बहुत ही भयानक, जहरीले और हानिकर हैं; आदमी उनका उपयोग अभी तक नहीं जान पाया, जैसे शेर, भेड़िया, साँप, मक्खी, मच्छर, दीमक आदि। जब तक आदमी की जानकारी आज कल के परिमित क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ती, साधारण आदमी से इन प्राणियों के प्रति विशेष उदारता के व्यवहार की आशा नहीं है। परन्तु कुछ पशुओं के बारे में तो वह जान गया है कि उन्हें मार कर खाने की अपेक्षा, पाल कर रखना अधिक उपयोगी है, किसी से दूध आदि मिल सकता है, और कोई सवारी या माल ढोने आदि के काम आ सकता है। इस विचार से आदमी ने उनको पालना शुरू किया।

प्रश्न यह है कि जो पशु प्रेम से पाले जा सकते हैं, और आदमी को किसी तरह की हानि न पहुँचा कर उसकी बहुमूल्य सेवा करते हैं, उनके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए। उदारता न सही, क्या न्याय की भी आशा न की जाय ? बेचारे प्राणी हमारी शरण में आना स्वीकार कर लें, और हम उनके साथ विश्वासघात करके अपने स्वार्थ या क्षणिक आनन्द के लिए उनके प्राण लेने की ताक में रहें। क्या यह काम मनुष्य को शोभा देता है ? गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि की हत्या करना, क्या उनकी निर्बलता या सुशीलता का अनुचित लाभ उठाना नहीं है। वे हमें अमृत जैसा दूध दें, और हम उनके खून के प्यासे बने रहें ! कैसी कृतघ्नता है ! इसका तो अन्त होना चाहिए। घोड़े, गधे, खच्चर, ऊँट, कुत्ते, बैल से हम अपनी रोजी कमाते हैं तो भी इनके भोजनादि की हम यथेष्ट चिंता नहीं करते, बोझा लादते समय हम उनकी शक्ति का विचार नहीं करते, हम उन्हें बुरी तरह मारते पीटते हैं, और उनके बीमार पड़ने पर उनकी दवा-दारू का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं

करते। क्या इनसान को ऐसा व्यवहार करना शोभा देता है ?

और हम अपने मनोरंजन के लिए ही कितने निर्दयी हो हो जाते हैं ! हिरण, खरगोश या लोमड़ी का शिकार, घुड़दौड़, बैलों की दौड़, सांड़ों की लड़ाई, मुर्गों या बटेरों की लड़ाई, आदि मनुष्य के काले कारनामे हैं। कितने ही आदमी ऐसी पोशाक पहनते हैं जिस में पर, बाल या चमड़ा लगाने के लिए बेशुमार जानवरों की हत्या करनी पड़ती है। भारतवर्ष में भी कितने ही आदमी मृगछाला और रेशमी कपड़े का, 'पवित्रता' की आड़ में, उपयोग करते हैं।

पशु पक्षियों के प्रश्न का, मांसाहार से बहुत सम्बन्ध है। इस समय संसार के अधिकांश आदमी मांसाहारी हैं; कुछ आदमी सभी तरह का मांस खाते हैं, और दूसरे आदमियों में से कुछ एक तरह के मांस से परहेज करते हैं, और कुछ दूसरी तरह के मांस से। जिन स्थानों की जलवायु या मिट्टी ऐसी है कि अन्न और फल काफ़ी पैदा नहीं होते, वहाँ आदमियों को मजबूर होकर मांस पर गुज़ारा करना पड़ता है। परन्तु विज्ञान की उन्नति हो जाने से अब अन्न और फल ऐसे बहुत से स्थानों में पैदा किये जा सकते हैं, जहाँ पहले पैदा नहीं होते थे। और यह आशा है कि धीरे धीरे उन जगहों में से भी बहुत सों में इनकी पैदावार हो सकेगी, जहाँ अब नहीं हो पाती। इसके अलावा माल ढोने के साधनों की उन्नति हो जाने से यह बात तो अब भी मुमकिन है कि जहाँ ये चीज़ें पैदा नहीं हो सकतीं, वहाँ दूसरे स्थानों से पहुँचाई जा सकती हैं। आगे ज्यों ज्यों आने जाने के साधनों में अधिक उन्नति होगी, इन चीज़ों को लाने ले जाने का काम और भी आसान हो जायगा, तब उसमें इतनी मेहनत और समय न लगेगा जितना अब लगता है।

तब यह काम बहुत ही जल्दी हो जाया करेगा, और लोगों को इस बात से कोई असुविधा न होगी कि कोई चीज़ उनके यहाँ पैदा नहीं होती, और दूसरी जगह से मँगायी जाती है। इस तरह भविष्य में आदमी को इन चीज़ों की कमी के कारण माँस खाने की ज़रूरत न रहेगी। फिर, इतिहास बतलाता है कि मांसाहार की ओर मनुष्य का रुझान घट रहा है और मनुष्य की रुचि में सुधार हो रहा है। एक समय था, आदमी दूसरे आदमियों को मारकर उसका माँस बड़े शौक से खाता था, और ताजा खून पीने में बड़ी शान समझता था। अब भी इस तरह के आदमियों के कुछ नमूने मिल सकते हैं, परन्तु वे आदमी ऐसे ही हैं जो सभ्य जनता से दूर एकान्त में या तो घने जंगलों में रहते हैं या पहाड़ी इलाकों में। साधारण तौर से आदमी उस जंगली हालत को छोड़ कर बहुत आगे बढ़ चुका है। आज कल का 'सभ्य' आदमी ऐसी बातों से नफरत करता है। इसी तरह आदमी का ज्ञान बढ़ जाने से अब वह बहुत से पशुओं के पालने के फायदे जान गया है; वह उन्हें मारने के बजाय उनको पालता है, और प्यार से रखता है।

आदमी को और आगे बढ़ना है। अभी वह प्रायः पशुओं का पालन इसलिए करता है कि उसे उनसे दूध मिलता है या वे खेती या सवारी करने या माल ढोने आदि के काम आते हैं। ज़रूरत है कि आदमी इस स्वार्थ के विचार को छोड़ कर पशुओं के प्रति अपने सच्चे प्रेम का परिचय दे।

पशु पक्षियों को पाल कर रखना भी कहाँ तक और किन हालतों में ठीक है? हम पशुओं को खाने पीने की चीजें दें और उनके भूख प्यास के कष्ट को दूर करें, यह तो ठीक है, पर क्या किसी को रस्सी या जंजीर से बाँध कर या पींजरे में

बंद करके रखना ठीक है ? रस्सी सन की हो या सूत की, और ज़ंजीर या पींजरा लोहे का हो या चांदी का, और चाहे सोने का ही क्यों न हो, बन्धन आखिर बंधन ही है। जो आदमी पशु पक्षियों को बंधन में रखते हैं, वे ज़रा विचार करें कि क्या वे खुद ऐसे बन्धन में रहना पसन्द करेंगे। हम उस आदमी को कैसा समझेंगे जो हमें कैद या बन्धन में रखता हैं ? क्या हम अपनी रोटी कपड़े के लिए या दूसरे सुख के लिए पराधीन होना स्वीकार करेंगे ?

आदमी आज़ाद रहना चाहता है और स्वतन्त्रता-प्रेमी होने का दावा करता है। क्या वह यह नहीं जानता कि पशु पक्षियों को भी अपनी स्वतन्त्रता प्यारी है, और जहाँ तक उनका वश चलता है, वे मनुष्य के अधीन होना नहीं चाहते। मिसाल के तौर पर मथुरा वृन्दावन के बीच जँगल में कुछ बन-गायें यानी जँगली गायें रहती हैं। जब कभी आदमी उन्हें पकड़ने की कोशिश करते हैं तो वे दौड़ जाती हैं, और अगर कोई आदमी उनके पास पहुँच जावे तो उसे सींगों से बुरी तरह मारती हैं। आदमियों ने धोखा देकर और बहुत मुश्किल से कभी कभी किसी बनगाय को पकड़ने में सफलता प्राप्त की है, इस तरह धीरे धीरे उनकी संख्या अब बहुत कम रह गयी है, तो भी, सैकड़ों वर्ष के घोर संघर्ष के बाद भी, कुछ बनगायें पायी जाती हैं, यह उनके स्वतंत्रता-प्रेम का अच्छा सबूत है। इसी तरह की जँगली गायें कानपुर ज़िले और दूसरी जगहों में भी पायी जाती हैं।

एक और घटना पर विचार कीजिये। एक आदमी को एक पक्षी का रंग रूप तथा आवाज़ बहुत पसन्द आई, और उसने तरह तरह की कोशिशें करके जैसे तैसे उसे पकड़ लिया। पक्षी

को पींजरे में रखा गया, और उसे खाने के लिये कई तरह के पदार्थ दिये गये। परन्तु पक्षी ने कोई चीज़ न खायी और भूखा ही रहा। उसके मालिक को बड़ी फ़िक्र थी; कहीं ऐसा न हो कि यह भूख से मर जाय। उसे बड़ी खुशी हुई, जब उसने देखा कि उसी पक्षी की जाति का दूसरा पक्षी वहाँ आने लगा और वह उस पक्षी को खाना खिलाने लगा। परन्तु अगले दिन मालिक को यह देख कर आश्चर्य और दुख हुआ कि उसका पींजरे का पक्षी मर गया है। उसने एक पक्षी-विशेषज्ञ से इस विषय में पूछ-ताछ की। अन्त में मालूम हुआ कि जो पक्षी खाना खिलाने आया था, वह पींजरे के पक्षी की मा थी; उसे यह सहन न हुआ कि उसका बच्चा पराधीनता का जीवन बिताये, इसलिए उसने उसे ज़हरीली वस्तु खिलाकर मार डाला। यह है पक्षियों का स्वतंत्रता-प्रेम! वे अपनी संतान को पराधीन रूप में देखने के बजाय उन्हें मार डालना पसन्द करते हैं। इस से ज़ाहिर है कि पराधीनता उनके लिए कितनी कष्टदायी है।

कई बार देखा गया है कि जो पक्षी कुछ समय पींजरे में रह चुकता है, उस में अच्छी तरह उड़ने की शक्ति नहीं रहती। इसके अलावा, स्वतंत्र पक्षी गुलामी का जीवन व्यतीत कर चुकने वाले पक्षी को अपने समूह में रखना पसन्द नहीं करते, वे उसे जाति-बाहर कर देते हैं, और मार मार कर उसे अपने पास से भगा देते हैं। आदमी को चाहिए कि किसी पशु पक्षी को अपने अधीन न करे, सब को स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करने का पूरा आनन्द लेने दे। अपने स्वार्थ या मनोरञ्जन के लिए किसी को बंधन में रखना उचित नहीं। जो पालतू पशु पक्षी स्वयं अपनी इच्छा से हमारे पास रहना चाहते हैं, या जिनको छोड़ देने से उनकी जान के लिये कोई जोखम मालूम हो, उन्हें हम

भले ही अपने पास रखें। पर और किसी को हम पालने की भी कोशिश न करें, जब कि पालने का अर्थ उन्हें उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता से वंचित करना है।

कहा जा सकता है कि यदि हम गाय, भैंस आदि को न पालेंगे और बाँध कर न रखा करेंगे तो हमें दूध, दही और घी और इनसे बनने वाली तरह तरह की स्वाद और पुष्टिकारक चीज़ें कैसे मिलेंगी? और बैल, घोड़े, भैंसे या ऊंट से माल ढोने या सवारी का जो काम लिया जाता है, वह कैसे होगा। इस बारे में हमें अपने मन में साफ साफ़ विचार करना चाहिए। हम उनकी स्वतंत्रता के पक्ष में हैं या नहीं। यदि हम उनकी स्वतंत्रता सच्चे हृदय से चाहते हैं तो उसके लिये हमें अपने स्वार्थ का त्याग करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। दूध दही के अभाव में हमें इन चीज़ों का काम, विज्ञान की सहायता लेकर, दूसरी चीज़ों से निकालना चाहिए, या इनके बिना ही अपना निर्वाह करना चाहिए; इसी तरह सवारी या माल ढोने के दूसरे ढग निकालने चाहिएँ। इस में विज्ञान से अच्छी सहायता मिल सकती है, और भविष्य में और उन्नति होने पर वह सहायता और अधिक मिल सकेगी।

हम तो उस सुन्दर भविष्य की आशा करते हैं, जब आदमी को पशु पक्षियों के पकड़ने के लिए उन्हें तरह तरह के कष्ट देने न पड़ेंगे, और न उन्हें बाँध कर रखने की ज़रूरत होगी। आदमी उन्हें प्रेम से अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। कोई पशु जब चाहे हमारे पास आवे, जब तक चाहे ठहरे, और जब चाहे चला जावे, हमें उसकी स्वतन्त्रता में बाधक न होना चाहिए। यदि हमने अपने मन में प्रेम की भावना खूब विकसित कर ली है तो पशु पक्षियों को स्वतंत्र रहते हुये भी हमारे पास आना जाना

और रहना अच्छा लगेगा। अगर वे अपनी इच्छा से खुशी खुशी हमारे पास रहें, और हम उन्हें प्यार करें तथा खिलावें पिलावें तो उनसे कुछ लाभ उठाने में भी हर्ज नहीं है; बशर्ते कि हमारा उनका सम्बन्ध एक परिवार के सदस्यों की तरह का हो, मालिक गुलाम का नहीं। हम ऐसे चित्र देखते हैं और ऐसी कथाएँ सुनते हैं कि शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं, या शेर और गाय किसी साधु के पास एक साथ रहते हैं। ये बातें चिर काल तक केवल कल्पना में ही न रहेगी। मनुष्य को इन्हें कार्य रूप में लाना है, इन्हें सच्ची करके दिखाना है। वर्तमान अवस्था में, जब पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कारण आदमी दूसरे आदमियों को आर्थिक या राजनैतिक दासता में जकड़ रहे हैं, पशुओं की स्वतंत्रता की बात कुछ अनहोनी या अजीब मालूम होगी। परन्तु हम कुछ गहरी दृष्टि से और उदारता से सोचें तो यह ऐसी बात नहीं है। सच्चे मन से प्रेम करने वाले जब इन बातों का प्रचार करेंगे तो सहज ही और थोड़े ही समय में इसके लिए अनुकूल वातावरण हो जायगा।

यहाँ हम एक घटना का ज़िक्र करना ज़रूरी समझते हैं। कुछ समय हुआ, एक स्वयंसेवक गाँव में गया। एक घर में वह देखता है एक स्त्री अपने स्तन से एक बकरी के बच्चे को दूध पिला रही है। स्वयंसेवक के पूछने पर उस महिला ने कहा कि बकरी मर गयी है, और अपने पीछे यह बच्चा छोड़ गयी है; अब मैं ही इसकी मा हूँ, जैसे कि मैं अपनी गोद के दूसरे बच्चे की मा हूँ। यह है, मातृप्रेम! और, यह है ऊंचे दर्जे का प्रेम, जिसकी सीमा अपनी ही जाति यानी मनुष्य-संतान तक परिमित न हो, बल्कि पशु पक्षियों से भी अपनेपन का अनुभव करें। आदमी एक दूसरे से कह दिया करते हैं कि मैं आपको अपना ही समझता हूँ,

आप के लिए जी-जान हाजिर है। पर असल में देखा जाय तो ऐसे आदमी बहुत कम हैं, जो दूसरे आदमियों के लिए जी-जान हाजिर कर सकें, और, उनकी तादाद तो और भी कम है, जो पशु पक्षियों से निस्वार्थ प्रेम करें और उनकी भरसक सेवा सहायता करें। पाठक तनिक विचार करें कि पशु पक्षियों के प्रति, और खासकर ऐसे पशु पक्षियों के प्रति जिन्हें प्रेम से पाला जा सकता है, आदमी का क्या फर्ज है, उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए।

आशा है, आदमी में प्रेम और दया का भाव बढ़ता जायगा, उसमें पशु पक्षियों के प्रति भी उदारता की भावना बढ़ेगी। इनसान खुद सुखी रहते हुए दूसरे जीवों को भी सुख शान्ति से, और निर्भयता के साथ सृष्टि का आनन्द लेने देगा। जो पशु पक्षी आज मनुष्य को अपने हत्यारे या शिकारी के रूप में देखते हैं, और मनुष्य से यमराज की तरह डरते हैं, वे उसको अपना प्रेमी और सहायक मानेंगे। वह विश्व-राज्य कितना सुन्दर होगा जब मनुष्य का आदर्श केवल मनुष्य मात्र से भ्रातृभाव न होकर प्राणी मात्र से भाईचारा होगा — जब वास्तव में विश्वबंधुत्व का व्यवहार किया जायगा।

सहायक साहित्य

'हिन्ट्स फार सेल्फ-कल्चर' ... श्री० हरदयाल एम० ए०
'ए लास्टिंग पीस' .. एम० गारनेट, और
एच० डब्ल्यू० कोपलर
'असेन्श्यल यूनिटी आफ आल
रिलीजन्स' ... डा० भगवानदास
'प्रिफेस टु पीस' ... नार्मन एंजल
राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति ... रामनारायण यादवेन्दु
आत्म निर्माण ... चन्द्रशेखर शास्त्री
चरित्र निर्माण ... ,, ,,
राष्ट्र-संघ के उद्देश्य और विधान
विश्ववाणी, वीणा, मानव धर्म, मधुकर, प्रताप, शुभचिन्तक आदि पत्र पत्रिकाएँ।

—o—